हठयोगत्रयी

(गोरक्षपद्धति, घेरण्ड संहिता एवं हठयोग प्रदीपिका)
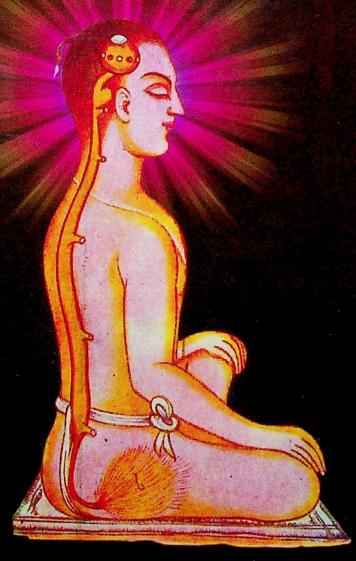
सुभाष विद्यालंकार

ग्रन्थ परिचय

गोरक्ष पद्धति, घेरण्ड संहिता और हठयोग प्रदीपिका ये तीन उपयोगी ग्रन्थ योगी गोरक्षनाथ, महर्षि घेरण्ड और स्वात्माराम योगी ने अपने अनुभवों के आधार पर योग साधकों के पथ प्रदर्शन के लिये निःस्वार्थ भाव से लिखे हैं। इन ग्रन्थों के अनेक स्थलों का अभिप्राय समझना कठिन है। यह कठिनाई दूर करने के लिये हठयोगत्रयी में इन तीनों ग्रन्थों की व्याख्या प्रस्तुत है।

गुरु की सहायता के बिना हठयोग, अष्टांग योग और राजयोग का अभ्यास करने के लिये स्वामी विवेकानन्द, महर्षि दयानन्द और उनके योगगुरु स्वामी ज्वालानन्द पुरी तथा शिवानन्द गिरि के सुझाव भी इस ग्रन्थ में दिये गये हैं।

योग के मार्ग में आने वाली कठिनाइयां दूर करने के उपाय भी योग के साधकों को इस ग्रन्थ में मिलेंगे।

योग साधना से मिलने वाली सिद्धियों के बारे में तरह-तरह के भ्रम दूर करने के लिये महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराज के विचार भी प्रस्तुत किये गये हैं।

देह शुद्धि के लिये षट्कर्म, आसन, मुद्रा, प्राणायाम और दीर्घ जीवन आदि अनेक विषयों की प्रामाणिक और अनुभवसिद्ध जानकारी भी हठयोगत्रयी में मिलेगी।

23 cm. xvi+430, 2011 मूल्य : 895

हठयोगत्रयी
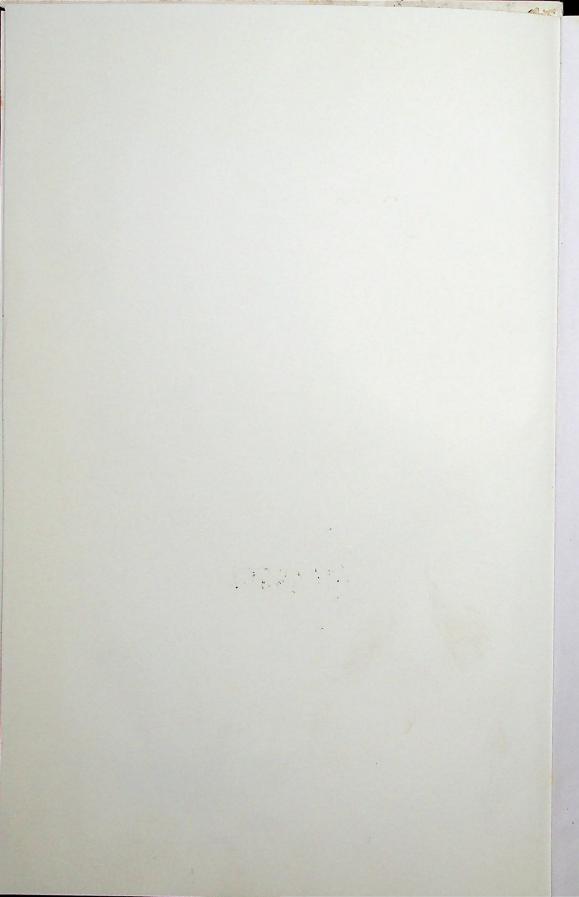
गोरक्षपद्धति, घेरण्डसंहिता और हठयोगप्रदीपिका, हठयोग के इन तीन सर्वप्रमुख और प्रामाणिक ग्रन्थों की विद्यालङ्कृता व्याख्या

सुभाष विद्यालंकार

प्रतिभा प्रकाशन

दिल्ली भारत

प्रथम संस्करण 2011

ISBN : 978-81-7702-232-2

मूल्य : 895.00

प्रकाशक :
डॉ० राधेश्याम शुक्ल
एम.ए., एम. फ़िल्., पी-एच.डी.
प्रतिभा प्रकाशन
(प्राच्यविद्या-प्रकाशक एवं पुस्तक-विक्रेता)
7259/23, अजेन्द्र मार्केट, प्रेमनगर
शक्तिनगर, दिल्ली-110007
दूरभाष : (O) 011-47084852 9350884227
e-mail : pratibhabooks@ymail.com

टाईप सेटिंग : एस०के० ग्राफिक्स
दिल्ली-84

मुद्रक : एस०के० ऑफसेट, दिल्ली

HAṬHAYOGATRAYĪ

Sanskrit text of ***Gorakṣapaddhati, Gheraṇḍa Saṁhitā*** & ***Haṭhayogapradīpikā***

with Hindi Translation

By

Subhash Vidyalankar

PRATIBHA PRAKASHAN

DELHI-110007

समर्पण

सिद्धयोगी आदरणीय माधवानन्द जी की

पुण्य स्मृति में शिष्य की

विनम्र श्रद्धाञ्जलि
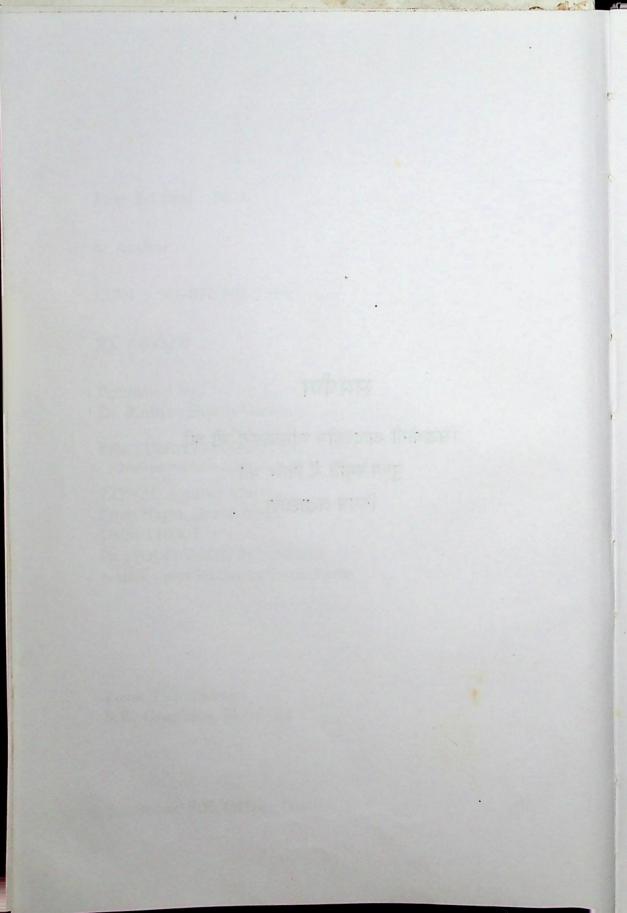
भूमिका

हठयोग के सर्वप्रमुख और प्रामाणिक ग्रन्थों **गोरक्षपद्धति**, **घेरण्ड संहिता** और **हठयोग प्रदीपिका** के संग्रह **हठयोगत्रयी** को प्रस्तुत करते हुए मुझे हार्दिक सन्तोष है। ये ग्रन्थ हठयोग के प्रमुख साधकों योगी गोरक्षनाथ, महर्षि घेरण्ड और स्वात्माराम योगी ने अपने अनुभवों के आधार पर लिखे हैं। अतः इनकी प्रामाणिकता में सन्देह नहीं किया जा सकता। योग मार्ग के पथिकों और जिज्ञासुओं के लिये इन तीनों ग्रन्थों की प्रामाणिक हिन्दी व्याख्या मुझे नहीं मिली। यह कमी पूरी करने की दृष्टि से **हठयोगत्रयी** तैयार की गई है।

योग का मार्ग अनुभवगम्य है और इस मार्ग में प्रगति करने के लिये सद्गुरु का मार्गदर्शन आवश्यक और अनिवार्य है। किन्तु आज के भौतिकवादी समाज में सद्गुरु का मिल पाना अत्यन्त कठिन है। हठयोगत्रयी योग साधना के पथिकों का पथ प्रदर्शन कर सके इसी उद्देश्य को ध्यान में रखा गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में हठयोग, अष्टांग योग और राजयोग तथा राजयोग के क्रियात्मक अभ्यास के सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द, स्वामी ज्वालानन्द पुरी, योगी शिवानन्द गिरि, महर्षि दयानन्द जैसे स्वनामधन्य सिद्ध योगियों के क्रियात्मक सुझाव और उपदेश संकलित हैं तथा योग की विभिन्न प्रक्रियाओं और सिद्धियों के बारे में प्रचलित भ्रान्तियां दूर करने के लिये महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराज के विचार भी प्रस्तुत किये गये हैं। मन्त्रयोग और जपयोग, नादानुसन्धान, स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर, निर्माण काय और निर्माण चित्त, ब्रह्मचर्य और ऊर्ध्वरेता, असम्प्रज्ञात समाधि, मधुमती भूमि और योग के विघ्न आदि गहन विषयों की प्रामाणिक तथा युक्तियुक्त विवेचना महामहोपाध्यायजी ने की है।

धौति, नेति, वस्ति, त्राटक, न्यौली और कपालभाति हठयोग के इन षट्कर्मों, आसन, मुद्रा, प्राणायाम, श्वास और दीर्घजीवन, योग साधना के लिये उपयुक्त स्थान, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांच

यमों तथा शौच, सन्तोष, स्वाध्याय, तप और ईश्वर प्रणिधान इन पांच नियमों की साधना का महत्त्व भी संक्षेप में दिया गया है, क्योंकि यम और नियम, अष्टांग योग के प्रारम्भिक अंग हैं। इनकी साधना के बिना योग मार्ग में प्रगति असम्भव है। इसी प्रकार व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य आदि योग के नौ विघ्न नष्ट किये बिना भी योग साधना नहीं हो सकती। इसलिये योग के नौ विघ्न दूर करने के क्रियात्मक उपायों का भी उल्लेख किया गया है।

महर्षि पतञ्जलि ने योग की परिभाषा चित्त वृत्ति का निरोध की है। चित्तवृत्ति क्या है? इस विषय का भी विवेचन पाठकों को मिलेगा। सांसारिक विषय भोगों के प्रति लगाव ही सारे पापों और दुष्कर्मों की जड़ है। विषय-भोगों को छोड़े बिना और वैराग्य की वृत्ति अपनाये बिना योग साधना नहीं की जा सकती। अपनी इन्द्रियों को वश में किये बिना विषयों के प्रति लगाव नहीं छूट सकता। इसके लिये प्रत्याहार की साधना करनी पड़ती है। इन सभी विषयों की प्रामाणिक और अनुभवसिद्ध जानकारी पाठकों को हठयोगत्रयी में मिलेगी।

यम-नियम की साधना के द्वारा योग विद्या का बीज रोपा जाता है। आसन और प्राणायाम के द्वारा यह बीज अंकुरित होता है। प्रत्याहार-साधना के द्वारा यह पुष्पित होता है और धारणा, ध्यान, समाधि द्वारा फलवान होता है। योग विद्या के इस वृक्ष को बचाने के लिये बाड़ के रूप में हठयोग के द्वारा साधकों को शारीरिक और मानसिक क्लेशों से बचाया जाता है।

यदि साधक दीर्घ काल तक और निरन्तर योग मार्ग पर चलते रहेंगे तो उन्हें सफलता अवश्य मिलेगी।

योग साधना के पथिकों का मार्ग प्रशस्त हो, इसी कल्याण कामना के साथ-

सुभाष विद्यालंकार

विषय सूची

2. घेरण्ड संहिता

पञ्चम उपदेश

षष्ठ उपेदश

सप्तम उपदेश

3. हठयोगप्रदीपिका

विषय प्रवेश

1. हठयोग

भारत के प्राचीन साहित्य में 'योग' शब्द अनेक प्रकार के व्यापक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। फिर भी इसका जो आध्यात्मिक अर्थ है, उसमें योग साधना की विभिन्न विधियां होने पर भी मूल रूप से कुछ अंश में सामञ्जस्य पाया जाता है। जीवात्मा और परमात्मा के संयोग को योग कहा जाय, अथवा प्राण और अपान के संयोग, चन्द्र और सूर्य के मिलन, शिव और शक्ति की समरसता, चित्तवृत्ति का निरोध अथवा अन्य किसी भी प्रकार से योग का लक्षण निश्चित किया जाय, मूल में विशेष अन्तर नहीं है।

महायोग और पूर्ण योग

योग शिखा उपनिषद् में कहा गया है कि स्वाभाविक योग एक ही है, अनेक नहीं। वही महायोग के नाम से साधकों में प्रसिद्ध है। अवस्था भेद के अनुसार महायोग ही हठयोग, मन्त्रयोग, लययोग अथवा राजयोग के रूप में प्रकाशित होता है।

मन्त्रो लयो हठो राजयोगोऽन्तर्भूमिकाः क्रमात्।। योगशि० 129

एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते।। योगशि० 130

हठयोग

हठयोग के आदि आचार्य कौन थे यह बतलाना तो बहुत कठिन है। भारत के आचार्यों का यह सिद्धान्त है कि सभी शास्त्रों की प्रथम प्रवृत्ति परमेश्वर से ही होती है। इसलिये हठयोग भी ईश्वरप्रोक्त कहा जाता है। हठयोगियों के अनुसार आदिनाथ श्री शिवजी ही हठयोग के प्रवर्त्तक हैं। जिस विचित्र उपाय से मत्स्येन्द्र नाथ ने इस विद्या को प्राप्त किया था, उसका ऐतिहासिक मूल्य कितना है यह कहा नहीं जा सकता। मत्स्येन्द्रनाथ की तरह गोरक्षनाथ, चर्पटि, जलन्धर, कनेड़ि, चतुरंगी, घेरण्ड, और विचारनाथ आदि नाथ सम्प्रदाय के

आचार्यों ने संसार में हठयोग का प्रचार किया था। गोरक्ष शतक, गोरक्ष संहिता, सिद्ध-सिद्धान्त पद्धति, सिद्ध-सिद्धान्त संग्रह, गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह, अमनस्क, योग बीज, हठयोग प्रदीपिका, हठतन्त्र कौमुदी, घेरण्ड संहिता, निरञ्जन पुराण इत्यादि बहुत से साम्प्रदायिक ग्रन्थ आज भी मिलते हैं। योग से सम्बद्ध अनेक उपनिषदों में भी हठयोग की विस्तृत जानकारी मिलती है।

मत्स्येन्द्रनाथ और गोरक्षनाथ से पहिले भी हठयोग का प्रचलन था, इसमें कोई सन्देह नहीं। कहा जाता है कि प्राचीन काल में मार्कण्डेय मुनि इस योग के साधक थे।

द्विधा हठः स्यादेकस्तु गोरक्षादि सुसाधकैः।
अन्यो मृकण्डपुत्राद्यैः साधितो हठसंज्ञकः।।

गोरक्षनाथ के हठयोग में योग के छह अंग हैं। इनमें यम और नियम नहीं हैं। परन्तु मार्कण्डेय मुनि अष्टाङ्ग हठयोग के पक्षपाती थे। योग तत्त्व उपनिषद् में हठयोग के आठ अंग बताये गये हैं।

इन दोनों प्रकार के योगों का उद्देश्य राजयोग या मोक्ष प्राप्ति है। पातञ्जल योगदर्शन में असम्प्रज्ञात समाधि के नाम से इसी का वर्णन किया गया है। हठयोग की नियमित साधना से राजयोग की सिद्धि होती है। इसीलिये आचार्य हठयोग को राजयोग की सीढ़ी बतलाते हैं। इस राजयोग के प्रभाव से ही साधनाशील जीव, काल के बन्धन से छुटकारा पा जाता है। हठयोग प्रदीपिका के अनुसार समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, लय तत्त्व, परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालम्ब, निरञ्जन, जीवन्मुक्ति, सहजावस्था और तुरीयावस्था ये सब राजयोग के ही नाम हैं।

योगी स्वात्माराम ने कहा है कि कुम्भक प्राणायाम द्वारा प्राण की गति बन्द (रुद्ध) हो जाने पर चित्त, निरालम्ब हो जाता है। ब्रह्मानन्द ने भी हठयोग प्रदीपिका की 'ज्योत्स्ना टीका' में स्पष्ट लिखा है कि जिस समय सम्प्रज्ञात समाधि के बाद ब्रह्माकार स्थिति का उदय होता है उस समय पर-वैराग्य धारण करके चित्त को भलीभांति निरुद्ध करना आवश्यक है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हठयोग से स्वभावतः राजयोग का विकास होता है।

देह शुद्धि हठयोग के मुख्य उद्देश्यों में से है। योगियों की पारिभाषिक

भाषा में देहशुद्धि घटशुद्धि कही जाती है। हठयोग में नेति, धौति, वस्ति, त्राटक, न्यौली और कपाल भाति इन षट् (छह) कर्मों (क्रियाओं) से शरीर की शुद्धि की जाती है।

धौति क्रिया

धौति से शरीर को पूरी तरह नीरोग और स्वस्थ बनाया जा सकता है। वायु-धौति, अग्नि-धौति, जल-धौति और वस्त्र-धौति के अभ्यास सामान्य रूप से प्रचलित हैं। इनमें वस्त्र धौति अधिक प्रचलित है। इससे पेट और और वक्ष: स्थल स्वच्छ रहते हैं।

नेति क्रिया

नाक के द्वारा नेति क्रिया की जाती है। नेति से कण्ठ और मस्तक तथा नेत्र निर्मल रहते है। जलनेति, सूत्रनेति और घृत-नेति का अभ्यास प्रचलित है।

वस्ति क्रिया

योगी, जल-वस्ति (एनीमा) और स्थल-वस्ति के द्वारा पाक स्थली और आंतों में जमा दूषित मल निकाल देते हैं।

न्यौली क्रिया

न्यौली में पेट की आंतों को दांये से बांये और बांये से दांये घुमा कर आंतों को और पाचन यन्त्रों को सबल बनाया जाता है।

त्राटक

उदय होते हुए सूर्य को और चन्द्रमा को एकटक देखते रहने से या कुछ दूर रखे दीपक पर दृष्टि स्थिर रखने से अथवा दर्पण में अपनी आंखों को पलक झपके बिना देखते रहने से त्राटक का अभ्यास किया जाता है। त्राटक के अभ्यास से मन की एकाग्रता और धारणा शक्ति बढ़ती है तथा आंखों की ज्योति बढ़ती है।

कपाल भाति

कपाल भाति क्रिया में नाक से श्वास-प्रश्वास तेजी के साथ और बिना रुके किया जाता है। श्वास-प्रश्वास करते हुए पेट भी अन्दर-बाहर होता रहता

है। इस क्रिया से नाक, फेफड़ों और गले में जमा कफ निकल जाता है। मस्तक और मुख पर कान्ति छा जाती है।

षट्कर्म की इन क्रियाओं के अतिरिक्त साधक निम्नलिखित क्रियाएं भी शरीर शुद्धि के लिये करते हैं–

जलपान

सवेरे सोकर उठने के बाद मुहं धोकर काफी मात्रा में पानी पीना। प्यास लगने पर दोपहर का भोजन करने से कुछ पहिले पानी पीना तथा खाना खाने के कुछ देर बाद पानी पीना और रात को भी सोने से पहिले पानी पीना ही जलपान है। इससे शरीर नीरोग रहता है।

नासा पान

सवेरे बड़े बर्त्तन में पानी भरकर नाक से पानी पीना ही नासा पान है। इससे शरीर के अन्दर रोगों के जीवाणु टिक नहीं सकते और शरीर नीरोग रहता है।

आतपस्नान

धूप में खुले शरीर कुछ समय तक प्रतिदिन बैठने से चर्म रोग और कुष्ठ जैसे भयंकर रोग भी नष्ट हो जाते हैं।

आसन

योगाम्यास और रोग नष्ट करने के लिये कई प्रकार के आसन हैं। योगाभ्यास के लिये चौरासी या बत्तीस आसन उपयोगी हैं। इनमें से पद्मासन और सिद्धासन सहज योगाभ्यास के लिये उपयोगी हैं।

धारणा, ध्यान और समाधि के लिये सिद्धासन, पद्मासन या अर्ध पद्मासन ही उचित हैं।

मुद्रा

मुद्राएं एक प्रकार से आसनों के ही भेद हैं। शरीर के स्नायु–तन्तुओं और मांसपेशियों को सशक्त बनाना आसनों का लक्ष्य है और अन्तः स्रावी तथा बहिः स्रावी ग्रन्थियों को सक्रिय और सबल रखना मुद्राओं का काम है। मुद्राएं

भी अनेक प्रकार की हैं। मुद्राओं से शरीर, साधना के लिये उपयुक्त बन जाता है।

प्राणायाम

हठयोग के अनुसार प्राणायाम के तीन अंग हैं- पूरक, कुम्भक और रेचक। प्राण शक्ति को कैवल्य लाभ की साधना में उपयोगी बनाना प्राणायाम का उद्देश्य है। प्राणशक्ति की वृद्धि और मन के नियन्त्रण का भी प्राणायाम या कुम्भक योग से सम्बन्ध है। प्राणायाम का अच्छा अभ्यास होने से शरीर रोगमुक्त रहता है।

प्राणायाम के लिये श्वास और प्रश्वास का स्वाभाविक परिमाण जानना आवश्यक है। भीतर गये हुए वायु को रोकने का भी परिमाण जानना जरूरी है। अस्वाभाविक रूप से पूरक, रेचक या कुम्भक करने से प्राण-शक्ति की वृद्धि के स्थान पर प्राण के नाश की ही आशंका रहती है। शरीर से बारह अंगुलि तक श्वास बाहर जाय तो यह स्वाभाविक है। चलते समय सोलह अंगुलि तक, भोजन के समय बीस अंगुलि तक, दौड़ते समय चौबीस अंगुलि तक और सोते समय तीस अंगुलि तक प्राणवायु की स्वाभाविक गति है। उसमें गड़बड़ी होने से आयु घटती है।

शुरू में योगाभ्यास के समय प्रातः स्नान, उपवास, अतिरिक्त शारीरिक परिश्रम, एक समय भोजन और कम भोजन योगियों के लिये मना है। लेकिन ध्यान और समाधि सीखने के समय उपरोक्त नियमों पर चला जा सकता है। शुद्धचित्त और एक समय भोजन करके तथा कोई-कोई योगी केवल पानी मिला दूध पीकर भी बल प्राप्त करते हैं। योगी के लिये सब प्रकार के नशे बिल्कुल मना हैं। योगियों के लिये मांसाहार भी पूरी तरह मना है।

श्वास और दीर्घजीवन

जिन प्राणियों की श्वास की संख्या जितनी कम और कुछ लम्बी होती है वे प्राणी उतने ही अधिक समय तक जीवित रहते हैं और जिन प्राणियों के श्वास की संख्या या गति जितनी अधिक होती है वे प्राणी उतने ही कम समय तक जीवित रहते हैं। योगी जानते हैं कि मनुष्य यदि अपने श्वास को कम कर सके तो वह अपनी निश्चित आयु से भी अधिक समय तक जीवित रह सकता है।

भूख पर विजय

भूख मनुष्यों की परम मित्र है। लेकिन भूख को नियन्त्रित नहीं रखने से शत्रु बन जाती है। योगी को और योग के विद्यार्थी को भूख पर नियन्त्रण करना ही होगा। भूख एक तरह की इच्छा है। शरीर द्वारा तरह-तरह के काम करने और चलने-फिरने, बोलने आदि से शरीर की शक्ति नष्ट होती है। इस खोई हुई शक्ति को भोजन के द्वारा पूरा किया जाता है। शरीर की इस शक्ति को फिर पाये बिना शरीर यातना भोगता है और शरीर से प्राण निकल जाता है। लेकिन देखा जाता है कि बहुत बीमार व्यक्ति भोजन के बिना एक महीने से भी अधिक समय तक रह जाते हैं। अत्यधिक शोकग्रस्त व्यक्ति को भूख लगती भी नहीं। बहुत से पागल भोजन के बिना कई दिन बिता देते हैं। खाने की वस्तुओं से हमें जो प्राण-वायु मिलती है और जिस के द्वारा हम जीवित रहते हैं वह प्राण-वायु; मिट्टी, पानी, आग, हवा और आकाश इन पांच महाभूतों से मिल सकती है। योगी, प्राणायाम के अभ्यास से भी शरीर की नष्ट हुई शक्ति को पूरा कर सकते हैं। आमतौर पर मनुष्य जितना भोजन करते हैं हमारा पाचन-तन्त्र (हाजमा) कमजोर होने के कारण इस भोजन से पूरी प्राण-शक्ति लिये बिना भोजन को छोड़ देता है। लेकिन प्राणायाम से शरीर और पाचन अंगों के सशक्त होने पर योगी; पृथ्वी, जल आदि पंचभूतों से भी अपनी जरूरत के अनुसार प्राण-वायु लेकर जीवित रह सकता है। कम परिश्रम करने वाले व्यक्ति कम खाते हैं और अधिक परिश्रम करने वाले अधिक भोजन करते हैं।

अन्तः करण सात्विक आनन्द से, हृदय के तृप्त होने से, मन में सन्तोष होने से और शरीर निश्चल रहने से देह की शक्ति नष्ट नहीं होती हैं। लम्बे समय तक चिन्तन करते रहने से भी भूख नहीं लगती। मन चिन्तित रहने से शरीर की शक्ति अधिक नष्ट होती है और गम्भीर आनन्दपूर्ण चिन्तन से शरीर की शक्ति बढ़ती है। आनन्दस्वरूप परमात्मा की उपासना में नियमित रूप से मन लगाये रखने से शरीर और मन, शक्ति नाश से बचकर सदा खिले कमल की तरह रहते हैं।

योग साधना का स्थान और आसन

योगसाधना के लिये कुटिया, वन, पर्वत की गुफा या किसी मठ में ही

रहना आवश्यक नहीं है। ये सब स्थान अनुकूल हैं, लेकिन मन के अनुकूल और उपद्रव रहित स्थान में भी योगाभ्यास किया जा सकता है। कुशा के आसन के ऊपर कपड़ा बिछाकर सिद्धासन या पद्मासन लगाकर अभ्यास करना चाहिये। केवल मिट्टी पर कभी योगासन नहीं लगाना चाहिये, क्योंकि पृथ्वी; प्रतिक्षण शरीर की शक्ति को खींच रही है। गर्दन, मस्तक और मेरुदण्ड (रीढ़ की हड्डी) को सीधा रखकर बैठे हुए धारणा, ध्यान और समाधि का अभ्यास प्रतिदिन निश्चित समय पर ही करना चाहिये।

अष्टाङ्ग योग

अष्टाङ्ग योग के पहिले पांच अंग-यम, नियम, आसन, प्राणायम और प्रत्याहार-बहिरंग साधना हैं और शेष तीन धारणा, ध्यान, समाधि, अन्तरंग साधना हैं। बहिरंग साधना के द्वारा चित्त निर्मल हो जाता है। चित्त जितना अधिक निर्मल होगा, सिद्धि उतनी ही जल्दी होगी। मलिन चित्त से ध्यान होना असम्भव है। चित्त में रजो मल रहने से चित्त चंचल रहता है और तमो मल से ध्यान करते हुए नींद आती है।

अन्तरंग साधना का पहिला अंग धारणा है। किसी लक्ष्य या स्थान पर चित्त को लगाये रखना धारणा कहलाती है। अधिक समय की स्थायी धारणा का नाम ध्यान है और ध्यान के गम्भीर तथा प्रगाढ़ (गहरा) होने का नाम समाधि है।

यम-नियम

यम पांच हैं- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। नियम भी पांच हैं- शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान। यम और नियम, मानव धर्म के आधार हैं। सभी के लिये इनकी आवश्यकता है। इन्हें सार्वभौम महाव्रत भी कहा जाता है। यम और नियम; तपस्याओं के ही अंग हैं। यम और नियम की साधना से मन की स्वेच्छारिता बन्द होती है और संयम में प्रवृत्ति होती है।

यम-साधना इस प्रकार है-

अहिंसा-साधना

मन, वचन और कर्म से किसी को हानि नहीं पहुँचाना और किसी के

प्रति प्रोह का भाव न रखना ही अहिंसा है। सत्य, अस्तेय (चोरी न करना) ब्रह्मचर्य और अद्रोह, अहिंसा के सहायक हैं। सुखी के प्रति मित्रता, दुखी के प्रति करुणा, पुण्यशाली के प्रति मुदिता (प्रसन्नता) और पापी के प्रति उपेक्षा की साधना से अहिंसा साधना बढ़ती है। अहिंसा-साधना करने में स्वार्थ त्याग की आवश्यकता है। दूसरे के शरीर का मांस खाकर अपना शरीर पुष्ट करने से बढ़कर कोई हिंसा नहीं है। जो व्यक्ति दूसरों की हिंसा करता है तो दूसरे लोग भी उसकी हिंसा करेंगे। उसको कोई साथी नहीं मिलेगा। सब उसके शत्रु बन जायेंगे। अहिंसा पालन करके चित्त को शुद्ध करना चाहिये। क्रोध, लोभ और मोह से हिंसा होती है। हिंसा; अनन्त दुखों और अज्ञान का कारण है।

देखा जाता है कि कोई-कोई मनुष्य बुढापे में किसी असाध्य रोग से पीड़ित होकर छटपटाते हैं। इस जीवन में हो या पिछले-जन्मों में हो, ये लोग घोरतर हिंसा के काम करके इस अवस्था में पड़ते हैं। हिंसा का फल भोग जब तक पूरा नहीं होता तबतक उनकी मृत्यु नहीं होती।

अहिंसा में प्रतिष्ठित होने पर सब प्राणी योगी के प्रति वैर की भावना छोड़ देते हैं। जंगली हिंसक पशु भी उनके प्रति हिंसा के भाव को छोड़ देते हैं। ऋषि-मुनियों के आश्रमों में हरिण और शेर के बच्चे एक साथ खेलते हैं। अहिंसा सिद्धि की साधना के कारण योगी के आश्रम का वातावरण अहिंसामय हो जाता है।

सत्य-साधना

मन, वचन और आचरण से सत्य का पालन करने से ही सत्य की साधना होती है। सत्य में प्रतिष्ठित होने से योगी वाक्-सिद्ध हो जाते हैं अर्थात् उनकी बात सत्य ही होती है। उनके आशीर्वाद और अभिशाप दोनों ही सफल होते हैं। अर्थात् जिस प्राणी को उसके कर्मों के अनुसार दुख मिलेगा, उसके प्रति योगी के मुख से अभिशाप ही निकलता है। जिस प्राणी को उसके कर्मों के अनुसार सुख मिलेगा, उसके प्रति योगी के मुख से आशीर्वाद ही निकलता है। योगी अपने आशीर्वाद से दूसरे व्यक्ति को शुभ फल दे सकते हैं। योगी इच्छा करने से बीमारों का दुःसह कष्ट भी दूर कर सकते हैं। महापापी के अन्दर शुभ इच्छा के द्वारा पुण्य का संचार कर सकते हैं। वे बहुत कम बोलते हैं और कभी-कभी मौन धारण कर लेते हैं। योगी, सत्यस्वरूप परमात्मा के ध्यान में

ही अधिक समय बिताते हैं। वे सत्य धर्म के प्रसार में भी अपना जीवन समर्पित करना चाहते हैं। ऐसे योगी का सब लोग विश्वास करते हैं।

अस्तेय-साधना

लोभ के कारण दूसरे की कोई वस्तु चोरी करके लेना 'स्तेय' (चोरी) है और इसके विपरीत अस्तेय है। अधर्म से कमाये हुए धन से धर्मोपार्जन नहीं होता। बिना बताये दूसरे की वस्तु को लेना भी चोरी है। जिस वस्तु पर हमारा अधिकार नहीं है, उस वस्तु को किसी उपाय से ले लेना भी चोरी (स्तेय) है। दूसरे की नौकरी करते हुए मालिक का काम ठीक तरह न करने से, व्यापारी का व्यवसाय में धोखा देने से, डाक्टर का रोगी को धोखा देने से और गुरु-शिष्यों में एक दूसरे को धोखा देने से स्तेय हो जाता है। चोरी या स्तेय का फल अविश्वास और भय है और अस्तेय में प्रतिष्ठित होने से प्रकृति के सब रत्न ही साधक के सामने उपस्थित हो जाते हैं। मन, वचन और शरीर से दूसरे का धन ले लेने की मनोवृत्ति न रहने से जगदीश्वर साधक को सभी आवश्यक वस्तुएं प्रदान करते हैं। अस्तेय प्रतिष्ठित होने से साधक को देखकर ही दाता, दान करके अपने को धन्य समझते हैं।

अस्तेय-साधक सबके विश्वासपात्र और प्रिय बन जाते हैं और चोरी करने वाला मनुष्य दूसरों के अविश्वास, भय और घृणा का पात्र बन जाता है।

ब्रह्मचर्य-साधना

काम-भावना के साथ कुछ स्मरण करना, बात करना, देखना, गुप्त सलाह करना, संकल्प करना, सुनना और व्यभिचार करना, ये सब बातें ब्रह्मचर्य की विरोधी हैं। इसके विपरीत शुद्ध भाव से और काम वासना रहित भाव से सब कुछ करना ही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य में प्रतिष्ठित होने पर धर्म की भावना भी बढ़ती है। सत्व, आयु, यश-कीर्त्ति, उत्साह, उद्यम, महत्त्वाकांक्षा, त्याग, शान्ति और आनन्द की वृद्धि होती है। ब्रह्मचर्य पालन न करने से दुर्गुण बढ़ते हैं और मनुष्य में पशुता की भावना बढ़ती है। ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठित होने से साधक के शारीरिक, मानसिक और आत्मिक बल की वृद्धि होती है। इन्द्रियों का तेज बढ़ जाने के कारण सूक्ष्य और अलौकिक विषयों का प्रत्यक्ष होता है। प्रकृष्ट रूप से तत्त्वज्ञान की उपलब्धि होती है। ब्रह्मचर्य हीन मनुष्यों के शरीर कमजोर और रोगों के घर बन जाते हैं। इनके मन निस्तेज, उत्साहहीन,

महत्वाकांक्षा से शून्य और अकर्मण्य हो जाते हैं। ऐसा व्यक्ति अधमरा और अन्त में नष्ट हो जाता है।

अपरिग्रह-साधना

शरीर आदि की रक्षा के लिये ही जिन वस्तुओं की आवश्यकता है उनके अतिरिक्त अन्य वस्तुओं का त्याग करना अपरिग्रह कहलाता है। अधिक वस्तुओं की इच्छा अच्छी नहीं है। अधिक भोग्य वस्तुएं सामने रहने से योगसिद्धि नहीं होती है। आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह करना महापाप है। आवश्यकता से अधिक इकट्ठा किया हुआ धन और वस्तुएं अभाव-ग्रस्त व्यक्तियों को दे देनी चाहियें, क्योंकि संसार की सब वस्तुएं भगवान की ही हैं। दूसरे को वंचित करके किसी वस्तु का भोग और फिजूलखर्जी महापाप है। हम धन के रक्षक है भक्षक नहीं। प्रभु का धन प्रभु के कार्यों में ही खर्च करना चाहिये। मुमुक्षु लोग आवश्यकता से अधिक धन और वस्तुओं तथा विषयों को पूरी तरह छोड़ देते हैं। इस प्रकार भोग्य वस्तुओं के मानसिक बन्धन से मुक्त होकर वे लोग चित्त को निर्मल बना लेते हैं। चित्त के निर्मल होने से उनके चित्त में पहिले जन्मों का और अगले जन्मों का ज्ञान जागृत हो जाता है।

नियमों की साधना इस प्रकार हैं-

शौच-साधना

शौच दो तरह का होता है-

आभ्यन्तर शौच और बाह्य शौच। शौच का अभिप्राय शुचिता या पवित्रता है। बाह्य शौच से शरीर, शुद्ध और स्वस्थ रहता है तथा आभ्यन्तर (अन्दर का) शौच से मन, शुद्ध और स्वस्थ रहता है। मिट्टी और जल से शरीर का बाह्य शौच होता है तथा शुद्ध आहार, सत् चिन्ता और मन की भावना पवित्र रखने से आभ्यन्तर शौच सिद्ध होता है। साधकों को साफ और पवित्र वस्त्र पहिनने चाहियें। उन्हें सज्जनों का संग करना चाहिये तथा सत्-वातावरण में रहना चाहिये। किसी प्रकार की मादक या उत्तेजक वस्तु का सेवन नहीं करना चाहिये। शौच साधना से मल, मूत्र, स्वेद और कफ से भरे देह में आसक्ति धीरे-धीरे हट जाती है। शौच साधना से शारीरिक मलों के साथ-साथ मानसिक मल भी धीरे-धीरे दूर हो जाते हैं। चित्त के मल नष्ट होने से मन भी शान्त होता

है। मन शान्त रहने से चित्त एकाग्र होता है। शुद्ध और एकाग्र चित्त होने से ही इन्द्रियों को नियन्त्रण में रखा जा सकता है। जितेन्द्रिय न होने से चित्त; धारणा ध्यान और समाधि की योग्यता नहीं पा सकता। धारणा, ध्यान और समाधि से ही आत्मदर्शन की योग्यता आती है।

सन्तोष-साधना

सन्तोष से उत्कृष्ट सुख मिलता है। तृष्णा का नाश न होने से सन्तोष की साधना नहीं हो सकती। सन्तोष परम धन है। लाखों रुपयों से भी सन्तोष को खरीदा नहीं जा सकता। सन्तोषी भिक्षुक फटे-पुराने वस्त्र पहिनता हुआ, एक टुकड़ा रोटी खाता हुआ और टूटी-फूटी कुटिया में रहता हुआ जो शन्ति पाता है वैसी शान्ति भोग-ऐश्वर्यों में लिप्त राजा भी नहीं पा सकता। तृप्ति और आसक्तिहीनता से ही सन्तोष आता है और सन्तोष से मानसिक शान्ति। विषयासक्ति सभी तरह के दुखों की जड़ है। अपनी स्थिति में सन्तुष्ट रहते हुए उत्कर्ष के लिये प्रयत्न करना चाहिये। पूर्व जन्मों में हमने जिनके उपकार किये हैं वे लोग आज हमारा उपकार कर रहे हैं। जिनको हमने मारा-पीटा था वे आज हमसे मार-पीट कर रहे हैं। पूर्व जन्मों में जिनके ऋण नहीं चुकाये थे, आज उन्होंने ही ऋण वसूल करने के लिए हमारे घर में सम्बन्धी के रूप में जन्म लिया है।

मेरे पूर्व जन्मों के कर्मों के फल के अनुसार मुझ को इस जन्म में सब कुछ मिल गया है। पिछले जन्मों के कर्मों के संस्कारों के अनुसार इस जन्म में मुझे सुख या दुख भोगना ही पड़ेगा। फल की कामना के साथ कर्म करने से सुख या दुख के संस्कार लेकर ही जन्म लेना पड़ेगा। भोग बचे रहने से कर्मफल के भोगों के अनुसार ही शरीर और सुख-दुख मिलेंगे। यथाशक्ति प्राणपण से कर्त्तव्य पालन करना और चित्त में सन्तोष रखना ही परम कल्याण है। सन्तोष अत्यन्त मूल्यवान वस्तु है। जिनके मन में सन्तोष है उन्हें किसी प्रकार का अभाव नहीं सताता। वे सदा सुखी रहते हैं। विषय-तृष्णा ही सन्तोष की सबसे बड़ी शत्रु है।

तप-साधना

विषय भोगों की वृत्ति ही शरीर और इन्द्रियों में मलिनता लाती है। वैराग्य वृत्ति ही इस मलिनता की शुद्धि करती है। बाहर से देखने पर सबके

शरीर और इन्द्रियां एक जैसी लगती हैं। लेकिन शरीर के अन्दर सात्विक राजसिक और तामसिक संस्कार छिपे हुए हैं। इन संस्कारों के वश में रहकर हम मन, वचन और शरीर से काम करते हैं। तामसिक प्रकृति को राजसिक बनाना और राजसिक प्रकृति को सात्विक बनाना ही तप है। सात्विक संस्कार युक्त मनुष्य देव-प्रकृति के होते हैं। राजसिक प्रकृति के व्यक्ति मनुष्य प्रकृति के होते है और तामसिक प्रकृति के मनुष्य पशु प्रकृति के होते हैं। पशु प्रकृति के मनुष्यों को मनुष्य-प्रकृति का बनाना और मनुष्य प्रकृति को देव प्रकृति बनाना ही परम तप है। अत्मिक शुद्धि के लिये तप आवश्यक है। इन्द्रियों की स्वेच्छाचारिता रोकना, शीत-ग्रीष्म, भूख-प्यास, सुख-दुख, सम्पद्-विपद्, जय-पराजय आदि को सहन करना तितिक्षा है। यह तितिक्षा परम तप है। भोगविलास, आलस्य-निद्रा, सुख-स्वच्छन्दता के प्रभाव से अपने को दूर रखना परमोत्कृष्ट तप है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या और द्वेष इन छह शत्रुओं को वश में रखना सर्वोत्कृष्ट तप है। तप की साधना से मनुष्य, देवत्व का लाभ प्राप्त करता है।

स्वाध्याय-साधना

नियमित रूप से वेदाध्ययन, मोक्ष-शास्त्रों के पाठ और आत्मानुसन्धान से स्वाध्याय साधना होती है। दो-एक दिन खाना न खाने से ज्यादा हानि नहीं होती, लेकिन जिस स्वाध्याय के द्वारा हमारी आत्मा की पुष्टि होती है उसको एक दिन भी किसी कारण बन्द रखने से अधिक हानि होती है। स्वाध्याय से इष्ट देवता के दर्शन होते हैं। इष्ट देवता परमात्मा हमारे अन्त: करण में विराजमान हैं। स्वाध्याय के द्वारा हम उनके स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

अभ्यास का गुण असाधारण है। चित्त में हम जो कुछ अभ्यास करेंगे, चित्त उसी में प्रतिष्ठित हो जायेगा। हम जिनका संग निरन्तर करेंगे वे हमारे अपने बन जायेंगे। स्वाध्याय के द्वारा हम परमात्मा का संग करते हैं। स्वाध्याय से हम सत्य द्रष्टा ऋषि-मुनियों का भी संग करते हैं। निरन्तर स्वाध्याय के द्वारा हम ऋषि-मुनियों और परमात्मा को अपना साथी बना लेते हैं। ऐसा करने से हमारा जीवन सार्थक हो जायेगा। हमारे चिरसंगी भगवान् हमारे लिये अनन्त ज्ञान ओर आनन्द का भण्डार लेकर बैठे हुए हैं। वेदों में उनके इस अनन्त और

अपार ज्ञान की विभूति के दर्शन किये जा सकते हैं। शास्त्र ग्रन्थों के अन्दर रहते हुए ऋषि-मुनि अन्धकार से ढके इस संसार में भटकते हुए हम को गन्तव्य स्थान का पता बता देंगे। दुखी अन्त: करण को सान्त्वना देंगे। शोकार्त्त, दुखार्त्त और निराश जीवन को अमृतधारा से संजीवित कर देंगे। त्यागी-भोगी, संसारी-ब्रह्मचारी, बालक-बालिका, युवक-युवती, वृद्ध-वृद्धा सभी के लिये स्वाध्याय परम कल्याणकर है।

योग शास्त्र के क्रिया योग; तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान हैं। स्वाध्याय; तप और ईश्वर प्रणिधान के बीच में है। स्वाध्याय इन दोनों को पुष्ट करता है। प्राण, मन और बुद्धि की गति सदा बाहर की ओर रहती है। बाह्य विषयों के प्रति ये तीनों बड़े आसक्त रहते हैं। यह विषयासक्ति ही मलिनता है। स्वाध्याय के प्रभाव से ही मन, बुद्धि और प्राण को अन्तर्मुखी बनाया जा सकता है। सूक्ष्म-शरीर के संस्कार के लिये स्वाध्याय बहुत ही उपयोगी है। बाहर का सांसारिक सुख अस्थायी और मलिन है किन्तु भीतर का सुख स्थायी और निर्मल है। एकमात्र स्वाध्याय के द्वारा ही भीतर का सुख प्राप्त किया जा सकता है। स्वाध्याय से प्राण, मन और बुद्धि की मलिनता दूर हो जाती है।

ईश्वर-प्रणिधान

अपने सब कार्यों के फल ईश्वर को अर्पण कर देना ही ईश्वर-प्रणिधान है। ईश्वर प्रणिधान से भी समाधि होती है। साधक अपनी अहंकार भावना छोड़कर सब कुछ भगवान में समर्पण करके पूरी तरह निश्चिन्त और निर्भय हो जाता है। संगति हमारी उन्नति या अवनति का कारण है। स्थूल विषय का संग करने से हम स्थूल विषय की ओर आकृष्ट होकर प्रकृति मार्ग पर दौड़ते हैं। सूक्ष्म विषय का संग करने से हमारा मन प्रवृत्ति मार्ग को छोड़कर निवृत्ति मार्ग पर पहुंच जायेगा। भगवान परम सूक्ष्म तत्त्व हैं। इसलिये समाधि में उनका संग करने से भगवान मिलते हैं। समाधि की पहली सीढ़ी ईश्वर प्रणिधान है। ईश्वर प्रणिधान से सामयिक उद्वेग, अशान्ति और दुश्चिन्ता क्षण भर भी नहीं ठहर सकती।

योग साधना के विघ्न

योग साधना के अन्तराय या विघ्न नौ प्रकार के हैं- व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्ति दर्शन, अलब्ध भूमिकत्व और

अनवस्थितत्व। ये अन्तराय साधना में विघ्न डालते हैं, चित्त में विक्षेप लाते हैं और चित्त को स्थिर नहीं होने देते। चित्त को स्थिर करना ही योग साधना है।

1. व्याधि शारीरिक अस्वस्थता को व्याधि और मानसिक अस्वस्थता को आधि कहते हैं। व्याधि के साथ आधि का निकट सम्बन्ध है। शरीर अस्वस्थ होने पर मन भी अस्वस्थ हो जाता है। शरीर और मन अस्वस्थ होने पर साधना नहीं हो सकती। स्वास्थ्यकर, पुष्टिकर और स्वादिष्ट भोजन नपा-तुला खाने से शरीर स्वस्थ रहता है और भगवत्-संगति तथा स्तवन-स्तुति से मन स्वस्थ होता है।

2. स्त्यान साधना हमारा कर्त्तव्य है और आवश्यक है। यह जानते हुए भी बहुत से लोग साधना में तत्पर नहीं होते, क्योंकि साधना के लिये इच्छा नहीं होती। इसी को स्त्यान कहते हैं। कठोर पुरुषार्थ, अध्यवसाय और मानसिक बल से स्त्यान को दूर करना चाहिये।

3. संशय जिस काम में संशय होता है उसे उत्साह और उद्यम के साथ करना कठिन होता है। इसलिये सबसे पहिले संशय दूर करना आवश्यक है। शास्त्रों के उपदेश, गुरु के आदेश और विवेक बुद्धि से आलोचना आदि के द्वारा सन्देह दूर किया जाता है।

4. प्रमाद समाधि लाभ के लिये गुरु से जो साधना प्रणाली जानी जाती है, उस को भूल जाना, साधना को छोड़ देना और विषय भोगों में फिर फंस जाना ही प्रमाद है। ऐसी भूल कभी न हो, आत्म-विस्मृति न हो, साधना भंग के कारण क्या सर्वनाश हुआ, इस पर बार-बार सोचना और उसके प्रायश्चित्त के लिये दो दिन उपवास के बाद दृढ संकल्प के साथ साधना का अभ्यास प्रारम्भ कर देना चाहिये।

5. आलस्य शरीर में दोष होने से ही आलस्य आता है। शरीर; साधना करना नहीं चाहता है। आसन आदि का अभ्यास छूटने लगता

है। लेटे रहना अच्छा लगता है। मन में भी आलस्य आ जाने से भगवत् विषयक चिन्तन करना कठिन हो जाता है। ध्यान में बैठने का भी मन नहीं करता है। शरीर और मन में तमोगुण बढ़ने से आलस्य आता है। तमोगुण बढ़ने का कारण जानना चाहिये और आलस्य दूर करने के लिये किसी एकान्त स्थान में बैठकर एक हजार बार गायत्री मन्त्र का जप करना चाहिये।

6. **अविरति** विषय-भोगों से विरक्त या उदासीन न होना अविरति है। विषय-भोगों में मग्न हो जाना भी अविरति है। अविरति की भावना त्यागने के लिये विषय-भोगों से होने वाली हानि के बारे में बार-बार सोचकर साधना का व्रत अपना लेना चाहिये। विषय भोगों के संकल्प छोड़ने से विषयासक्ति कम हो जाती है।

7. **भ्रान्ति-दर्शन** सत्य को मिथ्या समझना और मिथ्या को सत्य समझना भ्रान्तिदर्शन है। शरीर को आत्मा समझना, नष्ट हो जाने वाले शरीर को स्थायी समझना, दूसरे सम्बन्धियों को सदा का साथी समझना, भ्रान्ति दर्शन है। साधना करने से अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है और इसी से भ्रान्ति दर्शन दूर होता है।

8. **अलब्ध भूमिकत्व** योग साधना करते-करते किसी उच्चतर स्थिति पर पहुंचने में असमर्थ होना अलब्ध भूमिकत्व है। पुरुषार्थ और अध्यवसाय व्यर्थ नहीं जाता है। इस बात पर पूर्ण विश्वास रखकर साधना में लगे रहने से समय आने पर उन्नति दिखाई देने लगेगी।

9. **अनवस्थितत्व** किसी उच्चतर स्थिति को प्राप्त करने पर भी उसमें बहुत समय तक चित्त उन्नत और स्थिर नहीं रहता, उस उच्चतर स्थिति से फिर नीचे आ जाता है। अध्यवसाय के साथ चित्त को उच्चतर स्थिति में फिर ले जाने के लिये दृढ़ संकल्प करने से यह विघ्न दूर हो जाता है।

ये सब विघ्न रजोगुण और तमोगुण के प्रभाव से ही आते हैं और चित्त

को विक्षिप्त कर देते हैं। ईश्वरोपासना और योगाङ्गों का भली भांति अनुष्ठान करने से ही साधक इस स्थिति से पार पा सकते हैं। निरन्तर भगवत् चिन्तन करने से चित्त भगवत् भाव में रूपान्तरित हो जाता है। मन्त्रों के अर्थों का चिन्तन करके निरन्तर जप और ध्यानादि करने से हमारी बुद्धि, विषयों को छोड़कर ईश्वराभिमुख होती है। इस बुद्धि या चेतना का नाम 'प्रत्यक् चेतना' है। इस प्रत्यक् चेतना के आ जाने पर योग साधन के विघ्न दूर हो जाते हैं।

अनेक आचार्य; आसन, प्राणायाम (कुम्भक), मुद्रा (करण) और नादानुसन्धान इन चार अंगों को हठयोग का प्रतिपाद्य विषय मानते हैं। आसनों का अभ्यास विधिवत् करने से देह में स्थिरता, आरोग्य और लघुता (हल्कापन) आती है। **आसनेन रुजो हन्ति** अर्थात् आसनों से रोग दूर होते हैं यह बात सर्वविदित है। निरन्तर और लम्बे समय तक विधिपूर्वक आसनों का अभ्यास करने से रजोगुण की अधिकता से उत्पन्न शरीर की चंचलता और मन की अस्थिरता दूर हो जाती है। मन के विक्षेप का एक प्रधान कारण रोग है। आसन के अभ्यास से विक्षेप भी दूर हो जाता है। आसनों के अभ्यास से तमोगुण की अधिकता से उत्पन्न देह का भारीपन भी दूर हो जाता है। शरीर में सात्विक तेज बढ़ने के कारण तमोगुण घटता है और देह हल्की हो जाती है। लम्बी अवधि तक आसनों का बार-बार अभ्यास करके आसन को स्थिर कर लेने पर प्राणायाम आसानी से होने लगता है। परन्तु नाड़ी-चक्र नाना प्रकार की मलिनताओं से भरा रहने के कारण प्राण वायु सुषुम्ना के मार्ग में प्रवेश नहीं कर पाता इसलिये प्राणायाम से पहिले नाड़ी शोधन की आवश्यकता होती है। नाड़ी शुद्ध हुए बिना उन्मनी भाव अथवा मनोनिवृत्ति की कोई आशा नहीं रहती। विधिपूर्वक प्राणायाम करने से सुषुम्ना नाड़ी के अन्दर जमा सारा मैल नष्ट हो जाता है। शाण्डिल्य उपनिषद् तथा हठयोग के अन्य ग्रन्थों के अनुसार सबेरे, दोपहर, शाम और आधी रात में चार बार प्रतिदिन प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये। देह की कृशता (पतलापन), कान्ति, इच्छानुसार वायु धारण करने की शक्ति, जठराग्नि की वृद्धि, नाद की अभिव्यक्ति और आरोग्य ये सब लक्षण जब प्रकट हो जायें तब समझना चाहिये कि सब नाड़ियां शुद्ध हो गई हैं।

हठयोगियों का कहना है कि सब साधकों के लिये षट्कर्म की आवश्यकता नहीं होती। वात, पित्त या कफ इन तीनों दोषों में से किसी एक या दो की अधिकता होने पर षट्कर्म की सहायता लेनी आवश्यक होती है। याज्ञवल्क्य

आदि आचार्यों के अनुसार जब प्राणायाम के द्वारा ही समस्त मल नष्ट हो जाते हैं तब षट्कर्म की कोई विशेष आवश्यकता नहीं।

मुद्रा

मुद्रा साधना का यही उद्देश्य है कि उसके अभ्यास से ब्रह्मद्वार या सुषुम्ना के मुख के आगे सोई हुई कुण्डलिनी शक्ति जागृत होकर ऊपर ब्रह्मरन्ध्र और सहस्रार की ओर उठती है। कुण्डलिनी के जागने पर चक्रों और ग्रन्थियों का भेदन होता है, प्राण अनायास सुषुम्ना में प्रवेश करता है, चित्त निरालम्ब होता है और मृत्यु भय दूर हो जाता है। आधार शक्तिरूपा कुण्डलिनी समस्त योगाभ्यास का मूल आधार है।

योग क्या है?

चित्तवृत्ति का निरोध करना ही योग है। यह योग-साधना ही मनुष्य जीवन का एकमात्र उद्देश्य है। योग साधना के लिये ही हमको मनुष्य जीवन मिला है। पशुवृत्ति पर चलने के लिये मनुष्य जीवन नहीं है। मनुष्य जीवन बड़ी कठिनाई से मिल पाता है। अनेक पुण्य कर्मों और भगवान की कृपा से हमको मनुष्य जीवन मिला है। इसलिये मानव देह से मानवोचित कार्य करना ही आवश्यक है। पशुवृत्ति पर चलने से पशुवृत्ति की तृप्ति नहीं होती है। अपितु पशुवृत्ति लगातार बढ़ती ही जाती है। जिससे अधिक से अधिक कष्ट मिलता है।

चित्तवृत्ति क्या है? चित्त के स्रोत का नाम ही चित्त वृत्ति है। कामना और इच्छा ही चित्तवृत्ति है। जिसका चित्त जितना चंचल है उसको उतना ही कष्ट मिलता है। जिसके चित्त में कामना नहीं है वह ही सुखी है। विषय वासना ही दुखों का मूल कारण है। जिसमें जितना वैराग्य है वह उतना ही सुखी है। विषयों में आसक्तिहीन होना ही वैराग्य है। विषयासक्ति से ही संस्कार बनते हैं। संस्कार ही दुख के मूल हैं। हम लोग अनादि काल से संस्कारों का संग्रह कर रहे हैं। इन संस्कारों के अनुसार हमने अनादिकाल से लाखों प्रकार ही देहों को धारण किया है और कर रहे हैं। संस्कारों को दूर करने के लिये ही साधना की आवश्यकता है। और इस साधना का नाम योग साधना है। योग साधना के द्वारा चित्तवृत्ति का निरोध करना ही मूल साधना है।

विषयासक्ति ही पाप है। विषयासक्ति ही हमको पाप की ओर धकेलती है। विषयासक्ति के कारण शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि विषय हमारे चित्त में छाप छोड़ देते हैं और यह छाप अनन्त काल तक रह जाती है। यह छाप ही संस्कार है। अनन्तकाल से यह छाप संचित हो रही है। इसी का नाम कर्माशय, हृदय-ग्रन्थि या अविद्या का बन्धन है। इस कर्माशय से ही वासना उठती है। उस वासना के अधीन होकर ही हमारी इन्द्रियां चेष्टा करती हैं। इस वासना का प्रतिरोध करना साधना का विशेष अंग है। संस्कार नष्ट होने से ही चित्त-शुद्धि होती है और चित्त शुद्धि होने से ही चित्त-वृत्ति का निरोध होता है। इसी का नाम योग है।

योग सिद्ध न होने से मानव जीवन व्यर्थ हो जाता है। वैराग्य से ही योग-विद्या का लाभ नहीं होता है। इसके साथ अभ्यास भी चाहिये। अभ्यास ओर वैराग्य के द्वारा ही योग अर्थात् चित्तवृत्ति का निरोध होता है। अभ्यास के बिना कोई काम सफल नहीं होता। किसी काम में जितना अधिक अभ्यास किया जायगा उस कार्य की सिद्धि उतनी ही जल्दी होगी। निष्ठा और श्रद्धा के साथ कार्य की सफलता के लिये बार-बार प्रयत्न करना ही अभ्यास है। अभ्यास से कोई कार्य पूरा न हुआ हो ऐसा कोई काम नहीं है।

योगाभ्यास ही श्रेष्ठ अभ्यास है। योग साधना के बिना परम आनन्द की प्राप्ति का और कोई उपाय नहीं। धैर्य के साथ अभ्यास करना चाहिये। बहुत से साधक कुछ समय तक साधना और अभ्यास करने के बाद धैर्य खो देते हैं और योग साधना छोड़ देते हैं। योग साधना चाहे जितनी भी कठिन क्यों न हो, इसको कभी नहीं छोड़ना चाहिये। बालक, युवक और वृद्ध सभी को अष्टांग-योग साधना करनी ही पड़ेगी। सुख और शान्ति पाने का और कोई उपाय नहीं है। जिस वृद्ध व्यक्ति ने सारी आयु नष्ट की है उसे भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। आयु अगर एक दिन के लिये भी बाकी रहे तो भी योग साधना से विमुख नहीं होना चाहिये। एक दिन के लिये योग साधना करने के बाद भी यदि मृत्यु हो जाय तो वह भी श्रेयस्कर है क्योंकि तुम उत्कृष्ट योगी के वंश में जन्म लोगे। मृत्यु काल में भी यदि योग साधना की प्रबल आकांक्षा रहे तो दूसरे जन्म में तुम निश्चित रूप से उत्तम और अनुकूल शरीर प्राप्त करोगे। प्रभु तुम्हें ऐसा अवसर दे देंगे कि तुम सत्संग में रहकर योग साधना में सिद्धि लाभ करोगे।

हताश या निराश नहीं होना चाहिये। भगवान के ऊपर सब छोड़कर योग साधना के व्रती हो जाओ। वृद्ध के लिये एक ही बात है। इतने दिन आयु को वृथा नष्ट कर दिया। जीवन की आधी आयु सोते रहकर खो दी। शेष आधी आयु बचपन के खेल-कूद में और यौवन को सब सम्बन्धियों की दासता में खो दिया। अब वृद्धावस्था में रोग, शोक और बुढ़ापे से आक्रान्त होकर, शरीर और मन का बल खो कर दुश्चिन्ता में चारों ओर निराशा का अन्धकार देख रहे हो। लेकिन डरो मत, मन में साहस रखो। भगवान की शरण में आ जाओ। पाप के सभी काम पूरी तरह छोड़ दो। इस मुहूर्त्त से ही योगाभ्यास में लग जाओ। तुम्हारा कल्याण होगा।

किन्तु केवल योगाभ्यास से ही काम नहीं चलेगा। इसके साथ ही साथ वैराग्य भी चाहिये। भोग-विषयों के प्रति वैराग्य नहीं होने से मुक्ति, मोक्ष, कैवल्य या परमानन्द नहीं मिलता। वैराग्य के बिना केवल योगाभ्यास से योग की सिद्धि नहीं होती है। यदि इन्द्रियों को भोग-ऐश्वर्यों से हटा नहीं सकोगे, विषय-लालसा से यदि इन्द्रियों को वश में नहीं कर सकोगे तो योग साधना कठिन हो जायेगी। इन्द्रियों को संयत रखो, पशु-वृत्तियों को छोड़ दो, योग में सिद्धि लाभ करोगे।

यम-नियम की साधना के द्वारा योग विद्या का बीज रोपा जाता है। आसन और प्राणायाम के द्वारा यह बीज अंकुरित होता है। प्रत्याहार के द्वारा यह पुष्पित होता है और धारणा, ध्यान, समाधि द्वारा वह फलवान होता है। योग विद्या के इस वृक्ष की आवेष्टनी (बाड़) के रूप में हठयोग के द्वारा साधकों को शारीरिक और मानसिक क्लेशों से बचाया जाता है।

उपरोक्त उपदेश महान् समाज सुधारक और आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती को उनके योगविद्या के गुरु श्रीमान् स्वामी ज्वालानन्द पुरी और स्वामी शिवानन्द गिरि ने योग शिक्षा के प्रारम्भ में दिया था। योग मार्ग के साधकों के लिये यह उपदेश अत्यन्त मूल्यवान और सार्थक है।

2. अष्टाङ्ग योग

चित्त को एकाग्र करना ही योग का उद्देश्य है। चित्त को स्थिर या एकाग्र करने के लिये योग के भिन्न-भिन्न अंगों की साधना करनी आवश्यक है। शरीर को स्थिर रखना आसन का प्रयोजन है। आसन सिद्ध न होने से धारणा, ध्यान और समाधि कुछ भी सम्भव नहीं है। शरीर स्थिर होने से चित्त स्थिर होता है। चित्त से शरीर का घनिष्ठ सम्बन्ध है। चित्त में जिस भाव का उदय होता है, शरीर में वही भाव प्रकट होता है। विभिन्न आसनों की सिद्धि से चित्त के भावों में भी परिवर्तन हो जाता है। जिन आसनों के अभ्यास से चित्त में उच्च भावों का उदय होता है, वे आसन ही योग सम्बन्धी आसन हैं। योग के अनुकूल आसनों के अभ्यास से चित्त में निम्न या मलिन भावनाएँ प्रकट नहीं होतीं, अपितु शुद्ध भाव प्रकट होते हैं। शरीर की स्थिरता से चित्त की स्थिरता आती है। चित्त स्थिर होने से प्राण-वायु भी स्थिर हो जाता है।

यम-नियम

महर्षि पतञ्जलि ने योग दर्शन शास्त्र में योग के आठ अंगों को साधन पाद के 29वें सूत्र में इस प्रकार गिनाया है -

यमनियमासन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधयोऽष्टावङ्गानि।।

पा० यो०, साधन पाद 29

अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये आठ योग के अंग हैं।

गोरक्ष पद्धति में योग के पहिले दो अंगों यम और नियम का उल्लेख नहीं किया गया है।

योगसाधना के इन आठ अंगों में पहिले पांच अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, और प्रत्याहार बहिरंग साधन कहलाते हैं। धारणा, ध्यान और समाधि ये तीन योग के अन्तरंग साधन हैं।

अष्टांग योग के इन साधनों के अभ्यास से हम अपने कार्यों, बोलचाल, आपसी व्यवहार और मन के विचारों को शुद्ध, पवित्र और सात्त्विक वृत्ति वाला बनाते हैं। जैसे जैसे हमारे विचारों, आपसी व्यवहार और बोलचाल तथा कामों में पवित्रता, सच्चाई और समानता आदि गुण बढ़ते जायेंगे वैसे वैसे ही हमारे मन की वृत्तियों में (विचार की धारा और चक्षु, आदि इन्द्रियों के कार्य) सात्त्विकता और दिव्यता बढ़ने लगेगी और हमारा सारा जीवन ही सात्त्विक और दिव्य बन जायेगा।

योग साधना करने वालों को योग के इन आठों अंगों का अभ्यास प्रारम्भ से ही एक साथ करना चाहिये। जहाँ तक अन्तरंग साधनों धारणा, ध्यान और समाधि की बात है वहाँ पहिले धारणा का ही अभ्यास करना होता है। धारणा का अभ्यास पक्का या दृढ़ हो जाने पर ध्यान लगने लगता है और ध्यान की अवस्था पक्की (परिपक्व या दृढ़) होने पर समाधि सिद्ध होने लगती है।

यम और नियम मनुष्य धर्म की नींव और तपस्याओं के अंग हैं। यम और नियम की साधना से मन की स्वेच्छाचरिता की प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है और संयम में प्रवृत्ति होती है।

यम- पातञ्जल योग में यम का वर्णन इन शब्दों में किया गया है -

अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः।। साधन॰ पा॰ 30

अर्थात्, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच यम कहलाते हैं। अहिंसा, सत्य आदि इन पांचों यमों का उद्देश्य हमारा दूसरे लोगों के साथ सरल, शुद्ध और सात्विक व्यवहार करना है। इन पांच यमों का अभ्यास करके हम अपने जीवन को संसार के छल-प्रपंच, झूठ-फरेब और राग-द्वेष से रहित बना लेते हैं। इनमें से पहिला यम; अहिंसा है।

1. अहिंसा - अहिंसा का अभिप्राय है कि हम किसी भी प्राणी को दु:ख न दें और उसे किसी भी तरह से नुकसान न पहुंचायें। अहिंसा पर चलने के लिये हमें किसी का बुरा करने के बारे में कभी नहीं सोचना चाहिये, न ही किसी के साथ क्रोध या अभिमान में भरकर कठोर और बुरा लगने वाला व्यवहार करना चाहिये या किसी की निन्दा, बुराई आदि भी नहीं

करनी चाहिये। अहिंसा का पालन करने से हमारा ही भला होता है क्योंकि अहिंसक व्यक्ति से न केवल सभी मनुष्य अपितु पशु-पक्षी भी स्नेह करने लगते हैं। कोई भी व्यक्ति या पशु उसके साथ वैर-विरोध नहीं रखता। सदा और सब तरह से किसी भी प्राणी के लिये मन में बुरा न सोचना, वाणी से बुरा न कहना और अपने कामों से कष्ट न देना या जान न लेना अहिंसा होती है। सत्य, अस्तेय, आदि पांच नियमों का आधार अहिंसा ही है। अहिंसा का पालन करने से योगी की आत्मा का तेज इतना अधिक बढ़ जाता है कि ऐसे योगी के पास आने पर हिंसक मनुष्यों और पशु-पक्षियों में भी हिंसा की भावना मिट जाती है। किन्तु अपनी कमजोरी के कारण अत्याचार सहन करना या अपनी आंखों के सामने अपने परिवार, समाज, देश और धर्म को दुष्टों द्वारा अपमानित होते देखते रहना अहिंसा नहीं है, बल्कि हिंसा को बढ़ावा देने वाली कायरता ही है। कमजोर, डरपोक, कायर और नपुंसक मनुष्य हिंसा करने वालों की हिंसा को बढ़ाता है।

मन, वचन और कर्म द्वारा किसी को हानि न पहुंचाना और किसी के प्रति द्रोह भाव न रखना ही अहिंसा है। सत्य बोलना, चोरी न करना (अस्तेय), ब्रह्मचर्य का पालन करना और किसी के साथ वैर भाव न रखना ये बातें अहिंसा का पालन करने में सहायता देती हैं। सुखी के प्रति मैत्री, दु:खी के प्रति करुणा, पुण्यवान के प्रति मुदिता या प्रसन्नता और पापी के प्रति उपेक्षा की साधना से अहिंसा साधना की उन्नति होती है। अहिंसा की साधना करने के लिये स्वार्थ त्याग करना जरूरी है। दूसरे के शरीर का मांस खाकर अपने शरीर की पुष्टि करने से बढ़कर दूसरी कोई हिंसा नहीं है। जो मनुष्य किसी की हिंसा करता है तो दूसरे लोग भी उसकी हिंसा करेंगे। उसका कोई साथी नहीं होगा। सब लोग उसके शत्रु बन जाते हैं। अहिंसा पालन करके चित्त को शुद्ध करना चाहिये।

हिंसा तीन प्रकार की होती है - कृता, कारिता और अनुमोदिता।

क्रोध, लोभ और मोह से हिंसा होती है। हिंसा अनन्त दु:खों और अज्ञान का कारण है। हिंसा के इन दोषों को सोचकर हिंसा को त्याग देना चाहिये।

कृता हिंसा - जिस हिंसा को मनुष्य स्वयं करता है जैसे पशुवध, पक्षी वध आदि।

कारिता हिंसा - जो हिंसा स्वयं न करके दूसरों के द्वारा करायी जाती है। जैसे अपने नौकरों के द्वारा पशुवध, पक्षीवध आदि।

अनुमोदिता हिंसा - दूसरे की हिंसा की प्रशंसा करना। जैसे कसाईखाने या मन्दिर में पशुवध देख कर प्रसन्न होना।

इन तीन प्रकार की हिंसाओं में प्रत्येक हिंसा भी तीन प्रकार की है - क्रोधपूर्वक, लोभपूर्वक और मोहपूर्वक। जैसे क्रोध से किसी का वध करना, धन और ऐश्वर्य के लालच (लोभ) से किसी को जान से मार देना और पुण्य के मोह से मन्दिर में बकरी भैंसों का बलिदान करना। देखा जाता है कि कोई-कोई मनुष्य वृद्धावस्था में कठिन असाध्य रोग से पीड़ित होकर छटपटाते हैं। ये लोग प्रतिक्षण मृत्यु को ही चाहते हैं, किन्तु इनके प्रति मृत्यु के देवता यम की दया नहीं होती है। ये लोग बहुत समय तक असहनीय रोग-यन्त्रणाओं को सहन करके भी जीवित रहते हैं। इस जीवन में हो या पिछले जीवनों में हो, ये लोग घोरतर हिंसा के काम करके इस स्थिति को प्राप्त होते हैं। जबतक हिंसा का फल भोग पूरा नहीं होता तबतक इनकी मृत्यु नहीं होती।

अहिंसा प्रतिष्ठित होने से सब प्राणी योगी के प्रति वैर भाव को छोड़ देते हैं। शेर-चीते आदि हिंसक पशु भी उनके प्रति हिंसा भाव को छोड़ देते हैं। ऋषि-मुनियों के आश्रमों में हरिण-शिशु और सिंह-शिशु एक साथ खेलते हैं। अहिंसा साधना की सिद्धि के कारण योगी के आश्रम का वातावरण अहिंसामय हो जाता है।

2. सत्य - मन, वचन और आचरण से सत्य के पालन से ही सत्य साधना होती है। सत्य-प्रतिष्ठित होने से योगी वाक्-सिद्ध होते हैं। उनके वाक्य अमोघ होते हैं। सत्य-प्रतिष्ठित योगी अन्याय से शक्ति के बाहर व्यर्थ संकल्प भी नहीं करते हैं। उनके आशीर्वाद और अभिशाप दोनों ही सफल होते हैं। अर्थात् जिस प्राणी को उसके कर्मों के अनुसार दुःख मिलेगा, योगी के मुख से उसके प्रति अभिशाप ही निकलता है और जिस प्राणी को कर्मफलानुसार सुख मिलेगा, योगी के मुख से उसके प्रति आशीर्वाद ही निकलता है। मिथ्या वाक्य भी अगर दूसरे के

लिये हितकर हो, तब वह मिथ्यावाक्य भी सत्य वाक्य बन जाता है और सत्य वाक्य भी दूसरे के लिये अहितकर होता है, तो वह सत्य वाक्य भी मिथ्या बन जाता है। योगी आशीर्वाद से दूसरे को शुभ फल दे सकते हैं। योगी इच्छा करने से बीमारों की कठिन पीड़ा भी दूर कर सकते हैं। महापापी के अन्दर शुभ इच्छा के द्वारा पुण्य का संचार कर सकते है। योगी सर्वदा विचारपूर्वक दूसरे के लिये हितकर वाक्य ही बोलते हैं। वे थोड़े से वाक्य बोलते हैं, और कभी-कभी मौन भी धारण करते है। सत्यप्रतिष्ठित योगी ज्यादा नहीं बोलते हैं। सत्यस्वरूप परमात्मा के ध्यान में ही योगी अधिक समय बिताते हैं।

जैसा देखा हो और सुना हो वैसा ही कहना सत्य कहलाता है। इसलिये किसी बात को अच्छी तरह समझकर सभी प्राणियों की भलाई के लिये सत्य बोलना चाहिये। मनु के अनुसार-

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।।

अर्थात् सत्य बोलना चाहिये किन्तु ऐसा सच नहीं बोलना चाहिये जो सुनने में बुरा लगे। महाभारत के शान्तिपर्व में सत्य के बारे में कहा गया है-

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्।
यद् भूतहितमत्यन्तमेतत्सत्यं मतं मम।। शान्ति० 287/20

अर्थात् सत्य बोलना अच्छा है, किन्तु सत्य से भी बढ़कर ऐसा बोलना अच्छा है जिससे सभी प्राणियों का भला हो, क्योंकि जिस बात से सब प्राणियों का वास्तव में हित या भला होता है वह मेरे विचार से सत्य है।

हम जितना जरूरी हो उतना ही बोलें और अनावश्यक बातें न कहे। झूठ, कड़वी या दूसरों को दुःख देने वाली बातें न कहें। चुगली न करें। आपस में वैर द्वेष बढ़ाने वाली बातें न कहें।

किसी को ऐसा वचन न दें जिसे हम पूरा न कर सकें। समय पालन करने का पूरा ध्यान रखना चाहिये। ऐसे सभी काम ठीक समय पर करने चाहियें जिनका प्रभाव दूसरों पर पड़ता हो।

3. अस्तेय - चोरी न करना। किसी के धन और अधिकार आदि को अन्याय पूर्वक छीन लेना चोरी (स्तेय) कहलाता है। सरकारी अधिकारियों और कर्मचारियों का रिश्वत लेना, दुकानदारों का निश्चित मूल्य से अधिक

दाम लेना या कम तोलना अथवा चीजों में मिलावट करना आदि काम चोरी हैं। लोभी उद्योगपति और साहूकार, धोखेबाज व्यापारी, रिश्वतखोर न्यायाधीश तथा अन्य अधिकारी और लोभी वकील, डॉक्टर तथा अध्यापक और अत्याचारी शासक ये सब अस्तेय का पालन न करके व्यक्ति, समाज और प्रजा के धन तथा अधिकारों की चोरी करते हैं।

अधर्म से कमाया हुआ धन धर्मानुसार कमाया गया नहीं होता। बिना बताये दूसरे की वस्तु ले लेना भी चोरी है। जिस वस्तु पर हमारा अधिकार नहीं है उसे किसी उपाय से ले लेना भी चोरी है। चोरी का फल अविश्वास और डर होता है और अस्तेय प्रतिष्ठित होने से प्रकृति के सब रत्न ही साधक के सामने उपस्थित हो जाते हैं। मन, वचन और शरीर से दूसरे के धन को चुराने की मनोवृत्ति न रहने से जगदीश्वर साधक को सभी आवश्यक वस्तुएं प्रदान करते हैं। अस्तेय प्रतिष्ठित होने से साधक को देखकर ही दाता दान करके अपने को धन्य समझते हैं। अस्तेय साधक सबके विश्वास पात्र और प्रिय पात्र बन जाते हैं और चोरी करने से मनुष्य दूसरे के अविश्वास, भय और घृणा का पात्र बन जाता है।

4. **ब्रह्मचर्य** - काम भावना के साथ कुछ याद करना, बात करना, देखना, गुप्त सलाह करना, संकल्प करना, सुनना और व्यभिचार करना ये सब ब्रह्मचर्य के विरोधी हैं। शुद्ध भाव से और काम रहित भाव से सब कुछ करना ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठित होने से शारीरिक और मानसिक बल बढ़ता है। धर्माचरण की भावना बढ़ती है। सत्व, आयु, यश, उत्साह, उद्यम, उच्च आशा, त्याग, शान्ति और आनन्द बढ़ता है। ब्रह्मचर्य पालन न करने से मनुष्य में दुर्गुण आ जाते हैं। वह पशु बन जाता है। उससे सब घृणा करते हैं और उसका अपमान करते हैं। ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठित होने से साधक अत्यन्त शक्तिशाली और आत्मिक बल से परिपूर्ण हो जाते हैं।

उनकी इन्द्रियों का तेज बढ़ने से सूक्ष्म और अलौकिक विषयों का प्रत्यक्ष होता है। तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है। ब्रह्मचर्य हीन मनुष्यों के शरीर निर्बल और रोगों के घर बन जाते हैं। उनके मन निस्तेज और उत्साह हीन तथा जीवन आलस्य-प्रमाद भरा हो जाता हैं। वे नष्ट ही हो जाते हैं। मैथुन या किसी भी

तरह वीर्य नष्ट न करना और अपनी सभी इन्द्रियों को संयम और वश में रखना ब्रह्मचर्य है। संसार के प्राणियों में जो जीवन दीखता है वह ब्रह्मचर्य के कारण ही है। प्राणियों के जीवन में तेज, सौन्दर्य, आकर्षण, सामर्थ्य, और सजीवता आदि अनेक उत्तम गुण ब्रह्मचर्य का पालन करने से ही आते हैं।

आयुर्वेद के आचार्य सुश्रुत के अनुसार–

रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदः प्रजायते।
मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्जायाः शुक्र सम्भवः।।

अर्थात् मनुष्य जो कुछ खाता है वह पेट में जाकर पचता है। पचे हुए अन्न आदि का रस बनता है। यह रस कुछ समय बाद रक्त बन जाता है। रक्त या खून से मांस बनता है और मांस से मेद या चर्बी। मेद से हड्डी, हड्डी से मज्जा और मज्जा से वीर्य बनता है। यह वीर्य 'ओज' या 'कान्ति' के रूप में हमारे सारे शरीर में फैल कर चमकता है। ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले व्यक्ति में जो अनुपम कान्ति और आकर्षण दीखता है उसका कारण वीर्य ही होता है। स्त्री–पुरुष के रज और वीर्य के मिलने से नया जीव जन्म लेता है। इसलिये वीर्य जैसे जीवनदायी पदार्थ को व्यर्थ बहाना या कामवासना पूरी करने के लिये इस्तेमाल करना मनुष्यों की सबसे बड़ी मूर्खता ही नहीं है, अपितु अपना ही सर्वनाश है। हठयोग प्रदीपिका के अनुसार –

मरणं विन्दुपातेन जीवनं विन्दुधारणात्।। 3/88।।

अर्थात् विन्दु (वीर्य) को व्यर्थ बहा देने से मनुष्य की मृत्यु हो जाती है किन्तु वीर्य को शरीर में सुरक्षित रखने से मनुष्य स्वास्थ्य और दीर्घजीवन पाता है।

प्रश्न है कि वीर्य की रक्षा किस प्रकार करनी चाहिये। इस बारे में हठयोग प्रदीपिका में कहा गया है –

चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम्।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः।। 3/90।।

मनुष्यों का वीर्य मन के अधीन रहता है और हमारे जीवन का आधार वीर्य ही होता है। इसलिये हमें अपने मन को प्रयत्न करके अपने वश में रखना चाहिये जिससे वीर्य की रक्षा हो सके। ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिये काम

वासना बढ़ाने वाला शराब, मांस, मसाले आदि वाला उत्तेजक और राजसिक भोजन नहीं करना चाहिये। स्वाद के कारण अधिक भोजन नहीं करना चाहिये। संसार के सारे शारीरिक और मानसिक दुखों की जड़ कामवासना ही है।

5. अपरिग्रह - अपनी आवश्यकता से अधिक धन-धान्य और मकान आदि सम्पत्ति इकट्ठी न करना अपरिग्रह कहलाता है। आज सम्पत्ति और धन-धान्य का ठीक-ठीक वितरण न होने से सारा संसार असन्तोष, कलह, राग-द्वेष, युद्ध, भूख, अकाल तथा महाविनाश की त्रासदी भुगत रहा है।

यदि प्रत्येक मनुष्य के पास उसकी आवश्यकता के अनुसार उसके उपयोग की वस्तुएं रहें तो संसार का कोई भी मनुष्य गरीब, भूखा और बेघर नहीं रहेगा। भगवान् महावीर के अनुसार कुछ वस्त्र आदि पदार्थों को रखना परिग्रह नहीं है। उनके विचार में किसी भी वस्तु पर आसक्ति, (मूर्च्छा) परिग्रह होती है। इसलिये अपनी इन्द्रियों को पूरी तरह संयम में रखना चाहने वाले को धन-धान्य, नौकर-चाकर आदि सभी तरह के परिग्रहों (संग्रहों) को छोड़ देना पड़ता है। ज्ञानी पुरुष अपने शरीर से भी ममता नहीं रखते। जो साधक किसी भी वस्तु का संग्रह करना चाहता है उसकी यह इच्छा मन के लोभ को दर्शाती है।

शरीर आदि की रक्षा के लिये जिन वस्तुओं की जरूरत है उनके अतिरिक्त वस्तुओं को त्याग देना अपरिग्रह है। अधिक भोग्य वस्तुओं के सामने रहने से योगसिद्धि नहीं होती है। आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह करना महापाप है। आवश्यकता से अधिक कमाया हुआ धन और वस्तुएं अभावग्रस्त लोगों को दे देनी चाहियें, क्योंकि संसार की सब वस्तुएं भगवान की हैं। दूसरे को वंचित करके किसी वस्तु का भोग और फिजूलखर्ची महापाप है। हम सब रुपये पैसे के रक्षक हैं भक्षक नहीं। प्रभु के धन और वस्तुओं को प्रभु के कामों में खर्च करो। जो व्यक्ति अभाव से परेशान है उसका अभाव दूर कर दो। तभी अपरिग्रह की सिद्धि होगी। मुमुक्षु लोग आवश्यकता से अधिक विषयों और वस्तुओं को पूरी तरह से त्याग देते हैं। इस तरह भोग्य वस्तुओं के मानसिक बन्धन से मुक्त होकर वे चित्त को निर्मल बना लेते हैं। चित्त के निर्मल हो जाने से उनके चित्त में पिछले जन्मों और भविष्य के जन्मों का ज्ञान जागृत हो जाता है।

नियम

शौच सन्तोष तप स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।। पा० यो० 2/32

शौच- शौच अर्थात् सफाई/सफाई दो तरह की होती है- बाहर की और अन्दर की।

बाह्य शौच- जल, मिट्टी आदि से अपने शरीर, वस्त्रों, बर्त्तनों को और अपने रहने के तथा आसपास के स्थान को साफ रखना।

शुद्ध सात्विक और नियमित आहार से शरीर को स्वस्थ और सात्विक बनाये रखना। वस्ति, धौति, नेति आदि हठयोग के षट्कर्मों से तथा औषधि आदि से शरीर और शरीर की नस-नाड़ियों की सफाई।

आभ्यन्तर शौच - ईर्ष्या, अभिमान, घृणा, असूया आदि मन के मलों को मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा आदि से दूर करना। मन में उठने वाले बुरे विचारों को शुद्ध विचारों से हटाना, दुर्व्यवहार को शुद्ध व्यवहार से हटाना, मानसिक या आभ्यन्तर शौच है। शौच की साधना से मल-मूत्र से भरे शरीर से लगाव छूट जाता है। शौच साधना से शरीर के मलों के साथ मन के मल भी धीरे-धीरे मिट जाते हैं। चित्त मल दूर होने से मन भी शान्त होता है। मन शान्त रहने से चित्त एकाग्र होता है।

शुद्ध और एकाग्र चित्त होने से इन्द्रियों को वश में रखा जा सकता है। जितेन्द्रिय न होने से चित्त; धारणा, ध्यान, समाधि लाभ की योग्यता प्राप्त नहीं करता। इन तीनों से ही आत्मदर्शन होता है।

सन्तोष - अपनी योग्यता और सामर्थ्य के अनुसार उचित प्रयत्न और परिश्रम करके जो कुछ मिले, और जो अवस्था तथा परिस्थिति हो उसमें खुशी से रहना और सब तरह की तृष्णा छोड़ देना सन्तोष है।

मनु के अनुसार सन्तोष का लक्षण इस प्रकार है -

सन्तोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्।
सन्तोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः।। मनु० 4/12

सुख चाहने वाले को सन्तोष का सहारा लेकर संयम से रहना चाहिये,

क्यों कि सन्तोष सुख का आधार या जड़ है और असन्तोष से रहना दुःख का मूल कारण है। साधक को यह भलीभांति समझ लेना चाहिये कि सत्त्वगुण के प्रकाश में चित्त में जो प्रसन्नता या प्रसाद आता है उसका नाम सन्तोष है न कि तमोगुण के अन्धकार में चित्त पर छाया आलस्य और प्रमाद का आवरण। आलस्य के इस परदे को सांख्य-योग में तुष्टि कहा गया है। तुष्टि का अर्थ है मोक्ष प्राप्त होने से पहिले ही सन्तुष्ट हो जाना। तुष्टियां नौ तरह की होती हैं। इनमें चार तुष्टियां आध्यात्मिक होती हैं और पांच बाह्य तुष्टियां होती हैं।

सन्तोष से उत्तम सुख मिलता है। तृष्णा मिटे बिना सन्तोष नहीं होता है। सन्तोष परम धन है। लाखों रुपयों से भी इसे हम खरीद नहीं सकते। सन्तोष से ही मानसिक शान्ति मिलती है। भोग विषयों में फंसे धनी या गरीबों के लिये सन्तोष और सुख स्वप्न ही हैं। विषयों से लगाव ही दुःखों का कारण है। कुटिया में रहता हुआ और रूखा-सूखा भोजन करता हुआ सन्तोषी भिक्षुक जैसी शान्ति पाता है वैसी किसी राजा या धनी को नहीं मिल सकती।

आध्यात्मिक तुष्टियां

प्रकृति तुष्टि - यह समझ लेना कि प्रकृति अपने आप ही पुरुष के भोग और अपवर्ग के लिये प्रयत्न कर रही है इसलिये मुझे आत्मसाक्षात्कार के लिये धारणा, ध्यान और समाधि का अभ्यास करने की जरूरत नहीं है।

उपादान तुष्टि - यह मान लेना कि सन्यास आश्रम ग्रहण कर लेने से ही अपवर्ग (स्वर्ग) मिल जायेगा, इसलिये कोई प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं है।

काल-तुष्टि - यह विश्वास कर लेना कि जीवन के सारे काम काल के अधीन हैं इसलिये समय आने पर अपवर्ग अपने आप मिल जायेगा।

भाग्य तुष्टि - यह विश्वास करना कि जब भाग्य में होगा तब हमें स्वयं मुक्ति जायेगी इसलिये कोई प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं है।

पांच बाह्य तुष्टियां - मोक्ष प्राप्ति के बाह्य साधनों में इस डर से आलस्य और प्रमाद करना कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पांचों विषयों में पांच तरह के दुःख होते हैं अर्थात् इन पांचों विषयों को पाने के लिये

प्रयत्न करने के कारण दुःख उठाना पड़ता है। फिर इनकी रक्षा करने में दुःख होता है। इन्हें भोगने में दुःख होता है और इन्हें भोगने और पाने में दूसरे की हिंसा का भी दुःख उठाना पड़ता है।

आध्यात्मिकाश्चतस्त्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः।
बाह्या विषयोपरमात् पञ्च नवतुष्टयो अभिमताः।।

सांख्यकारिका 50

इसलिये साधक को इन नौ तुष्टियों को सन्तोष नहीं समझ लेना चाहिये।

तप- विषय भोगों में लगाव से ही शरीर और इन्द्रियों में दोष और मलिनता होती है। वैराग्य वृत्ति ही इन दोषों को दूर करती है। बाहर से सबके शरीर और इन्द्रियां एक जैसे दीखते हैं लेकिन इनके अन्दर सात्विक, राजसिक और तामसिक संस्कार छिपे हुए हैं। इन संस्कारों के अधीन होकर हम मन, वचन और शरीर से कार्य करते हैं। तामसिक प्रकृति को राजसिक बनाना और राजसिक प्रकृति को सात्विक बनाना ही तप है। सात्त्विक संस्कार युक्त पुरुष देव-प्रकृति के होते हैं। राजसिक प्रकृति के लोग मनुष्य प्रकृति के होते हैं। तामसिक प्रकृति के मनुष्य पशु-प्रकृति के होते हैं। पशु-प्रकृति के मनुष्यों को मनुष्य-प्रकृति का होना और मनुष्य प्रकृति को देव-प्रकृति का होना ही परम तप है।

आत्मिक शुद्धि के लिये तप जरूरी है। सबसे अच्छा तप; मन और ज्ञानेन्द्रियों को वश में रखना है। इन्द्रियों की मनमानी रोकना, गर्मी-सर्दी, भूख-प्यास, सुख-दुःख, सम्पत्ति-विपत्ति, जय-पराजय और मान-अपमान आदि को सहन करना तितिक्षा कहलाता है। यह तितिक्षा, परम तप है। भोग-विलास, आलस्य-तन्द्रा, और सुख-स्वच्छन्दता के प्रभाव से अपने को मुक्त करना परम तप है और स्वेच्छाचारी तथा बेकाबू इन्द्रियों को वश में रखना परमोत्कृष्ट तप है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य (ईर्ष्या) इन छह शत्रुओं को वश में रखना सर्वोत्कृष्ट तप है। तप की साधना से मनुष्य को देवत्व का लाभ मिलता है। जैसे सारथि रथ में जोते हुऐ घोड़ों को साधता है और नियन्त्रण् में रखता है वैसे ही शरीर, इन्द्रियों, प्राण और मन को उचित रीति से और अभ्यास से वश में रखने का प्रयत्न करना तप या तपस्या होती है। तपस्या

करने से सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, सुख-दुःख, हर्ष-शोक और मान-अपमान आदि सारे द्वन्द्व सहन करने का अभ्यास हो जाने पर साधक किसी भी विक्षेप और कठिनाई के बिना स्वस्थ शरीर और निर्मल अन्तः करण के साथ योग मार्ग पर चलता रहता है। तप का लक्षण **द्वन्द्व सहनं तपः** है। सोना, चाँदी आदि किसी धातु को आग में तपाने से उसका मैल जल जाने पर उसमें जैसी चमक और शुद्धता आ जाती है उसी तरह तप की अग्नि में तप कर शरीर, इन्द्रियाँ, मन और प्राण पर पड़ा तमोगुण का आवरण नष्ट हो जाता है और शरीर, मन प्राण आदि का सात्त्विक प्रकाश बढ़ जाता है। योग मार्ग में आसन, प्राणायाम और सत्त्विक आहार-विहार आदि शरीर के तप माने गये हैं। शरीर में रोग और पीड़ा, इन्द्रियों में विकार और मन में अप्रसन्नता उत्पन्न करने वाला तप, योग मार्ग में निन्दित है और मना है। महर्षि व्यास के अनुसार उचित तप वही है जिससे मन प्रसन्न हो और शरीर तथा इन्द्रियों को पीड़ा और नुकसान न हो। इसलिये योगी ऐसी को तपस्या करनी चाहियेः

तच्च चित्तप्रसादनं बाधमानमनेनाऽऽसेव्यमिति।

शरीर के रोग, पीड़ा आदि और चित्त की अप्रसन्नता योग के विघ्न हैं। उपनिषदों में भी कहा गया है कि ऐसी तपस्या करनी चाहिये जिससे शरीर नष्ट न हो -

तपसा ऽनाशकेन।

महर्षि व्यास का कहना है कि अशुद्ध रजोगुण और तमोगुण का प्रसार, अनादि कर्म-क्लेश वासना से युक्त विषय भोगों में लगाने वाला है। रजोगुण और तमोगुण का यह अशुद्ध प्रसार तप का अनुष्ठान किये बिना नष्ट नहीं हो सकता इसलिये साधक को प्रारम्भ में ही तप की साधना शुरू कर देनी चाहिये।

श्रीमद् भगवद् गीता के छठे अध्याय में योग मार्ग के पथिक के लिये आहार-विहार आदि के बारे में उपयोगी निर्देश दिये गये हैं।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।। गीता 6/16

बहुत अधिक खाने वाले को या बिल्कुल भी भोजन न करने वाले को, बहुत अधिक सोने वाले को या तनिक भी न सोने वाले को योग में सफलता नहीं मिलती।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।। गीता 6/17

युक्त अर्थात् उचित और नियम पूर्वक भोजन, दैनिक काम (विहार) और यात्रा आदि तथा नियम से सोने-जागने वाले साधक की योगसाधना दुःखों का नाश करती है।

युक्ताहार - युक्ताहार अर्थात् मिताहार करने से योगी का शरीर स्वस्थ रहता है और मन प्रसन्न।

मिताहार की परिभाषा है -

सुस्निग्ध मधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः।
भुज्यते शिवसम्प्रीत्यै मिताहारः स उच्यते।।

हठयोग प्रदीपिका 1/58

घी-दूध आदि से स्निग्ध और रसीला, मीठा तथा मन को अच्छा लगने वाला भोजन ईश्वर और जीवात्मा की प्रसन्नता के लिये करना चाहिये। जितनी भूख हो उससे एक चौथाई कम खाना मिताहार कहलाता है। हमें स्वाद के लोभ में पड़कर भरपेट और आवश्यकता से अधिक नहीं खाना चाहिये।

तामसिक, राजसिक, हिंसा से प्राप्त, देर से पचने वाले, वात और कफ बनाने वाले, बहुत गर्म, खट्टे, चटपटे, बासी, रूखे, सड़े-गले, झूठे, नशा करने वाले, उत्तेजक और स्वास्थ्य को नष्ट करने वाले पदार्थ नहीं खाने चाहियें। साधक को जीभ के स्वाद पर वश रखकर और शरीर से लगाव और ममता त्याग कर; शरीर को ईश्वर चिन्तन के योग्य बनाने के लिये खान-पान का विशेष ध्यान रखना चाहिये। साधक को अन्न के बारे में भी पूरी सावधानी रखनी चाहिये क्योंकि शरीर और मन पर अन्न का बहुत प्रभाव पड़ता है। इसलिये अन्न सात्त्विक और पवित्र तथा ईमानदारी की कमाई का होना चाहिये।

युक्त विहार - साधक को ऐसी कठिन और लम्बी यात्रा नहीं करनी चाहिये जिससे भजन में विघ्न पड़े। चलना-फिरना बिल्कुल बन्द कर देने से आलस्य और प्रमाद उत्पन्न हो जाता है और ईश्वर चिन्तन में बाधा पड़ने लगती है। इसलिये इतना घूमना चाहिये जिससे शरीर स्वस्थ रहे और चित्त प्रसन्न। ऐसा होने पर ईश्वर चिन्तन में बाधा नहीं आती।

युक्तकर्म चेष्टा - अपने करने योग्य तथा निश्चित अच्छे काम नियमित रूप से प्रतिदिन करते रहने चाहियें। साथ ही इतना अधिक शारीरिक परिश्रम भी नहीं करना चाहिये जिससे थकान हो जाये और भजन तथा योगाभ्यास में विघ्न पड़े। यह भी ध्यान रखना चाहिये कि कुछ भी न करने से हम आलसी न बन जायें।

युक्तस्वप्नावबोध - रात में सात घण्टे से अधिक नहीं सोना चाहिये क्योंकि अधिक सोते रहने से शरीर में तमोगुण बढ़ जाता है। इसी प्रकार चार घण्टे से कम सोने से भजन करते हुए या ध्यान में बैठने पर नींद आने लगती है। योगसाधना में चान्द्रायण आदि लम्बी अवधि के व्रत-उपवास मना हैं। सप्ताह में एक दिन उपवास रखना उचित है जिससे शरीर में जमे विकार निकलते रहें। उपवास के दिन अन्न नहीं खाना चाहिये। थोड़ी-थोड़ी देर बाद नींबू का रस, और शहद मिला पानी पीना उपवास के लाभ बढ़ा देता है। यदि दिनभर भूखे रहना कठिन लगे तो दूध-फल आदि का हल्का आहार करना चाहिये।

वाणी का तप - अपनी वाणी पर संयम रखना बोलने की तपस्या है। इसलिये केवल सत्य, प्रिय, आवश्यक और दूसरों का सम्मान करते हुए थोड़ा बोलना चाहिये। वाणी को संयम में रखने का अभ्यास करने के लिये सप्ताह में एक दिन या प्रतिदिन प्रातः काल कुछ समय के लिये मौन रखना चाहिये। मौन रखने से शारीरिक, मानसिक और आत्मिक बल बढ़ता है।

मन का तप - मन को संयम में रखना मन का तप होता है। इसके लिये हिंसात्मक और अपवित्र विचारों तथा क्लिष्ट भावनाओं को मन से दूर रखने का प्रयत्न लगातार करते रहना चाहिये और इनकी जगह शुद्ध विचारों को मन में धारण करने का अभ्यास करना चाहिये। क्लिष्ट भावनाओं और अशुद्ध विचारों

को मन से निकाल देने का अभ्यास हो जाने पर सभी तरह के विचारों, भविष्य काल के संकल्प-विकल्पों तथा बीती बातों की स्मृतियों को मन से निकाल देने का अभ्यास करना चाहिये।

स्वाध्याय - वेद, उपनिषद्, आदि शास्त्रों तथा अध्यात्म और योग के ग्रन्थों का नियमित अध्ययन तथा गायत्री आदि मन्त्रों का अर्थसहित नियमित जप स्वाध्याय कहलाता है।

स्वाध्याय के सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द सरस्वती के निम्नलिखित अनुभव अत्यन्त प्रेरणाप्रद और हितकर हैं -

"नियमित रूप से वेदाध्ययन, मोक्ष-शास्त्रों का पाठ और आत्मानुसन्धान करने के लिये गुरु जी का (स्वामी ज्वालानन्द पुरी और स्वामी शिवानन्द गिरि) कठोर आदेश था। उन्होंने कहा था कि 'दो एक दिन खाना नहीं खाने से ज्यादा हानि नहीं होगी लेकिन जिस स्वाध्याय के द्वारा आत्मपुष्टि होती है, उसको किसी कारणवश एक दिन भी बन्द रखने से तुम्हारी अधिक हानि हो जायेगी। स्वाध्याय से इष्ट देवता का दर्शन होगा। इष्ट देवता परमात्मा तुम्हारे अन्दर छिपे हुए हैं। स्वाध्याय के साधन से तुम उनका स्वरूप ज्ञात कर सकोगे। प्रमाद से एक दिन भी अपने को स्वाध्याय से वंचित मत करो। अभ्यास का गुण असाधारण है। चित्त में जो कुछ अभ्यास करोगे, चित्त उसी में प्रतिष्ठित हो जायेगा। निरन्तर जिसका संग करोगे, वह तुम्हारा अपना बन जायेगा। स्वाध्याय के द्वारा तुम परमात्मा का संग करते रहो, तो सत्य-द्रष्टा ऋषि-मुनियों का भी संग कर सकोगे। निरन्तर स्वाध्याय के द्वारा उन सबको और भगवान को अपना संगी-साथी बना लो। जीवन सार्थक हो जायेगा। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, इसलिये मनुष्य दूसरे के संग को ढूंढते हैं। तुम्हारे चिर-साथी भगवान तुम्हारे लिये अनन्त ज्ञान और आनन्द का भण्डार लेकर बैठे हुए हैं। धर्म-ग्रन्थ वेद के अन्दर उनके अनन्त, अपार ज्ञान की विभूति के दर्शन करते रहो। ज्ञानामृत पान करते रहो। असंख्य जीवनों की क्षुधा-तृष्णा मिट जायेगी। शास्त्र ग्रन्थों के अन्दर रहते हुए ऋषि-मुनि लोग तमसावृत जगत के अन्दर भटकते हुए तुमको गन्तव्य स्थान तक सन्धान बता देंगे। दुःखी

अन्तःकरण को सान्त्वना देंगे। शोकार्त्त, दुःखार्त्त, निराश जीवन को अमृतधारा से संजीवित कर देंगे। त्यागी-भोगी, संसारी-ब्रह्मचारी, बालक-बालिका, युवक-युवती, वृद्ध-वृद्धा सभी के लिये स्वाध्याय परम साधना है। यह परम कल्याणकर है।"

"तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान ये तीन अंग योग शास्त्र के क्रिया-योग हैं। तप और ईश्वरप्रणिधान के बीच स्वाध्याय है। स्वाध्याय; तप और ईश्वर प्रणिधान इन दोनों को ही पुष्ट करता है। प्राण, मन और बुद्धि की गति सर्वदा बाहर की ओर है। बाह्य विषयों के प्रति ये बड़े ही आसक्त रहते हैं। यह विषयासक्ति ही मलिनता है। तुम स्वाध्याय के प्रभाव से ही मन, बुद्धि और प्राण को अन्तर्मुखी कर सकते हो। सूक्ष्म देह के संस्कार के लिये स्वाध्याय बहुत ही उपयोगी है। बाहर का सुख अस्थायी और मलिन है। भीतर का सुख स्थायी और निर्मल है। भीतर के सुख का सन्धान एकमात्र स्वाध्याय के द्वारा ही मिल सकता है।"

"मन्त्र जप भी स्वाध्याय का एक अंग है। प्रणव अर्थात् ओंकार का और गायत्री मन्त्र का अर्थ-भावना के साथ जप करना ही जप है। जप करते-करते ध्यान की स्थिति आ जाती है और आगे समाधि की तन्मय स्थिति भी आ जाती है। यह तन्मय अवस्था ही समाधि की सूचना है। जिसके चित्त में रजोगुण अधिक है उसकी तन्मय स्थिति अल्पक्षण स्थायी होती है। जप में अभ्यस्त होने से रजोगुण की मात्रा कम हो जाती है। सत्वगुण की मात्रा बढ़ती है। अभ्यस्त योगी का जप श्वास-प्रश्वास के साथ भी चल सकता है। इससे भी समाधि का रास्ता खुल जाता है। स्वाध्याय के अंग, ग्रन्थपाठ और जप दोनों ही समान उपयोगी हैं। ये एक दूसरे के परिपूरक हैं। यह स्वाध्याय मेरा (महर्षि दयानन्द का) चिर-साथी है। स्वाध्याय से मन, प्राण और बुद्धि की मलिनता कट जाती है।"

ईश्वरप्रणिधान - हमारे मन में हर समय कोई न कोई विचार आता रहता है।

यदि हम तालाब के पानी में कोई पत्थर फेंकते हैं तो उससे तालाब के पानी में एक के बाद दूसरी, तीसरी, चौथी असंख्य लहरें उठने लगती हैं। इसी

तरह हमारे मन में भी तरह-तरह के विचारों की तरंगें उठती रहती हैं। मन की इन विचार तरंगों को चित्तवृत्ति कहा जाता है। मन की या चित्त की इन वृत्तियों या तरंगों को रोककर मन एकाग्र करना योग का मुख्य उद्देश्य है। मन की वृत्तियों को रोकने के जो उपाय महर्षि पतञ्जलि ने बताये हैं उनमें ईश्वर प्रणिधान भी है। ईश्वर प्रणिधान का अर्थ है ईश्वर का स्मरण। ईश्वर के स्मरण के साथ ही साथ ईश्वर प्रणिधान में साधक को अपने सारे कर्म और उन कर्मों के फल भी ईश्वर को समर्पित कर देने चाहियें। साधक अपने शरीर, इन्द्रियों, मन, प्राण, और अन्तःकरण से जो भी कर्म करता है उन्हें ईश्वर को समर्पित कर वह अपने सारे जीवन को ही ईश्वर के हाथों में छोड़ देता है। ईश्वर प्रणिधान के लिये ईश्वर के नाम प्रणव अर्थात् ओंकार का जप करना होता है। ओंकार जप या प्रणव जप के साथ ईश्वर के सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, निराकार, सर्वव्यापक आदि गुणों का भी बार-बार ध्यान करना होता है। चित्त को सारी बातों से हटाकर केवल ईश्वर के चिन्तन में लगा देने का अभ्यास, 'भावना' कहलाता है। चित्त में ईश्वर की भावना करने से साधक के अविद्या आदि क्लेश, उसके सारे कर्म और कर्मों के फल तथा वासनाओं के संस्कार चित्त से धुल जाते हैं। वासनाओं के संस्कार ही जन्म और मृत्यु अर्थात् बन्धन के कारण हैं। अब ज्ञान के संस्कार उदय होते हैं। मन में केवल ईश्वर का ध्यान ही रह जाता है। ईश्वर चिन्तन की भावना का अभ्यास करते रहने से ईश्वर चिन्तन की यह भावना इतनी दृढ़ हो जानी चाहिये कि ओ३म् शब्द के उच्चारण या जप के साथ ही ओ३म् शब्द का अर्थ अर्थात् ईश्वर के गुणों और ईश्वर के स्वरूप का भी स्मरण वैसे ही होने लगे जैसे गौ शब्द कहते ही गाय का सारा चित्र हमें याद हो आता है। यद्यपि जप और ईश्वर चिन्तन की भावना का ध्यान ये दोनों एक ही साथ नहीं हो सकते। इसलिये पहिले ईश्वर के गुणों की भावना या चिन्तन करना चाहिये और फिर ओ३म् का मानसिक जप मन को एकाग्र करके करना चाहिये। ओ३म् के मानसिक जप के निरन्तर अभ्यास से जब पूर्ण वैराग्य का उदय हो जाता है और अन्तःकरण पूर्ण रूप से शुद्ध हो जाता है तब अत्यधिक बढ़ा हुआ सत्वगुण; सूक्ष्मशरीर में रजोगुण के द्वारा की जा रही मानसिक जप की क्रिया को बन्द कर देता

है। इस स्थिति में सत्त्व से दबा हुआ रजो गुण; कारण शरीर में विवेक ख्याति की वृत्तिरूप क्रिया को शुरू कर देता है। सत्त्वगुण की बढ़ी हुई इस अवस्था में तमोगुण इतना निर्मल हो जाता है कि अविद्या तथा दूसरे सभी क्लेश दग्धबीज जैसे हो जाते हैं। इस अवस्था में तम का काम इस अत्यन्त सात्त्विक वृत्ति को रोकना ही रह जाता है। विवेकख्याति अर्थात् पुरुष (आत्मा) और चित्त अलग हैं, ज्ञान की यह अवस्था निरन्तर बनी रहने पर यह अवस्था धर्ममेघ समाधि कहलाती है। यही जीवन्मुक्ति की अवस्था है।

ईश्वर की भक्ति या ईश्वर की आराधना, ईश्वर-प्रणिधान का अर्थ है। ईश्वर प्रणिधान से मन; स्थिर या एकाग्र हो जाता है। ईश्वर प्रणिधान मानसिक क्रिया योग है। ईश्वर; शुद्ध अर्थात् धर्म-अधर्म या पाप-पुण्य से रहित; प्रसन्न अर्थात् अविद्या आदि क्लेशों से रहित; केवल अर्थात् बुद्धि आदि से हीन इसलिये अनुपसर्ग अर्थात् जाति, आयु और भोग से शून्य पुरुष विशेष हैं - ऐसी भावना करना। ईश्वर प्रणिधान से समाधि सिद्ध होती है-

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।। पा० यो० 2/45

ईश्वर प्रणिधान के विषय में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने बताया है कि 'सब कार्यों के फल को भगवान में अपर्ण कर देना ही ईश्वर प्रणिधान है। ईश्वर प्रणिधान से भी समाधि होती है। जैसे छोटा शिशु, स्नेहमयी जननी की गोद में लेटकर निर्भय और निश्चिन्त हो जाता है, उसी प्रकार साधक, अपनी अहंकार भावना को छोड़कर सब भगवान में अर्पण करके पूर्णतया निर्भय और निश्चिन्त हो जाता है। संग हमारी उन्नति और अवनति का कारण है। स्थूल विषय का संग करने से हम स्थूल विषय के प्रति आकृष्ट होकर प्रवृत्ति पथ में धावित होते हैं। सूक्ष्म विषय का संग करने से हमारा मन प्रवृत्ति के पथ को छोड़कर निवृत्ति के पथ पर पहुंच जायेगा। भगवान परम सूक्ष्म तत्व हैं। इसलिये समाधि योग से उनका संग करने से भगवान की उपलब्धि होगी। इस समाधि लाभ का प्रथम सोपान ईश्वर प्रणिधान है। ईश्वर प्रणिधान से सामयिक उद्वेग, अशान्ति, दुश्चिन्ता एक क्षण के लिये भी ठहर नहीं सकते, यह मेरा अनुभव है।"

आसन

आसन दो प्रकार के होते हैं:-

प्रथम- किसी वस्तु से बना आसन, जैसे कुशासन, मृगचर्मासन, व्याघ्रचर्मासन, लोमासन (ऊन का आसन) या कपड़े का आसन।

आसन के बिना मिट्टी पर बैठकर किसी प्रकार की साधना नहीं करनी चाहिये। मिट्टी पर सो जाने से या बैठने से पृथ्वी हमारी शक्ति को खींच लेती है। किसी वस्तु से बने आसन पर बैठने से पृथ्वी के आकर्षण से हमको कोई हानि नहीं होती।

द्वितीय- देह को किसी आकार में रखना। शरीर के आसन अनेक प्रकार के हैं। जिस आसन में अभ्यस्त होने से शरीर निश्चल और सुखकर मालूम होता है, वही आसन उस व्यक्ति के लिये हितकर होता है। अधिकांश साधकों के लिये मुक्त-पद्मासन ही बहुत अच्छा है। जितनी कम आयु से आसन का अभ्यास होता है, उतना ही अच्छा रहता है। आयु बढ़ने पर आसन का अभ्यास करना कठिन हो जाता है, क्योंकि पैरों की हड्डियां सख्त हो जाने से पैरों को मोड़ने में कष्ट होता है।

सभी आसनों में मेरुदण्ड (रीढ़) को सीधा रखना होता है। मेरुदण्ड के अन्दर सुषुम्ना नाड़ी है। इस नाड़ी के रास्ते शक्ति ऊपर उठती है। मेरुदण्ड के सबसे निचले स्थान से शक्ति उठकर मस्तक के अन्दर सहस्रार तक पहुंच जाती है। साधक की उन्नति के साथ-साथ शक्ति ऊर्ध्व गामिनी होती है। विषयासक्ति जितनी कम हो जायेगी और वैराग्य की भावना बढ़ेगी, वह शक्ति उतनी ही ऊपर की ओर जायेगी। साधना की उन्नति इसी पर निर्भर करती है। मेरुदण्ड सीधा रखने से सुषुम्ना सीधी और टेढ़ा रखने से टेढ़ी होती है। सुषुम्ना सीधी रहने से शक्ति सीधी आवागमन कर सकती है। जिसकी सुषुम्ना टेढ़ी होती है वह उच्च भावना या उच्च-धारणा भी नहीं कर सकता। समाधि लाभ तो असम्भव ही है।

प्राणायाम

आसन का अभ्यास होने से गर्मी-सर्दी, भूख-प्यास, सुख-दुःख आदि

द्वन्द्व चित्त को प्रभावित और पराभूत नहीं कर सकते हैं। आसन-जय होने से प्राणायाम सम्भव होता है। प्राणायाम के अभ्यास के साथ-साथ नाड़ी शुद्धि भी करनी चाहिये।

प्राणायाम के तीन अंग हैं:-

पूरक, रेचक और कुम्भक

नाक के सुरों से श्वास-वायु को फेफड़ों में भरना 'पूरक' है। नाक के सुरों से उस वायु को छोड़ देने का नाम 'रेचक' है। और पूरक के बाद रेचक न करके श्वास को बन्द रखने का नाम 'कुम्भक' है।

कुम्भक दो प्रकार के होते हैं-

पूरकान्त कुम्भक और रेचकान्त कुम्भक

कुम्भक का दूसरा नाम गति विच्छेद है। पूरकान्त कुम्भक में नाक के सुरों से श्वास भरकर श्वास को कुछ समय तक रोकने के बाद श्वास नाक के सुरों से निकाला (रेचन) जाता है। श्वास निकालने के बाद फिर श्वास न लेकर थोड़ी देर ठहरना रेचकान्त कुम्भक कहलाता है। रेचकान्त कुम्भक के बाद पूरक किया जाता है। प्राणायाम का अभ्यास आरम्भ करने पर पूरक के बाद कुम्भक (पूरकान्त कुम्भक) और इसके बाद रेचक किया जाता है। किन्तु अभ्यास बढ़ने पर कुछ प्राणायाम रेचकान्त कुम्भक से शुरू किये जाते हैं। प्राणायाम का यह अभ्यास अपेक्षाकृत कठिन होता है। प्राणायाम का सभी तरह का अभ्यास किसी अनुभवी सद्गुरु के निर्देश और देखरेख में करना चाहिये, नहीं तो लाभ के स्थान पर हानि हो जाने का खतरा होता है।

चित्त सदा चंचल बना रहता है। चित्त की चंचलता ही चित्त की गति है। श्वास-प्रश्वास स्थिर हो जाने से प्राणशक्ति की गति भी रुक जाती है या गतिविच्छेद हो जाता है। चित्त की चंचलता दूर होने से चित्त का गतिविच्छेद होता है। इसलिये कुम्भक के समय चित्त को भी स्थिर रखना चाहिये। प्राणशक्ति ही चित्त को चंचल करती है। इसलिये चित्त को स्थिर करना या प्राणशक्ति को स्थिर करना एक ही बात है। कुम्भक के द्वारा प्राणशक्ति को बाहर स्थिर करना

और चित्त को स्थिर करके प्राणशक्ति को अन्दर स्थिर करना। इस प्रकार प्राणशक्ति को दोनों ओर से स्थिर करना है। इसलिये सबसे पहिले आसन का अभ्यास करके शरीर को स्थिर करना और इसके बाद ध्यान का अभ्यास करके मन या चित्त को स्थिर करना चाहिये।

शरीर और मन को स्थिर करने से ही कुम्भक का अभ्यास ठीक होता है। मन और शरीर को स्थिर न करके कुम्भक का अभ्यास करने से हानि होती है। इसलिये जो लोग अत्यन्त संसारी और विषय भोगी हैं उनका कुम्भक करना अपने को खतरे में डालना है। मन चंचल होने पर कुम्भक कभी नहीं करना चाहिये। जो लोग शारीरिक और मानसिक दु:खों; भाग्य में लिखे दुखों और पशु-पक्षियों से उत्पन्न दु:खों अर्थात् आध्यात्मिक, आधिदैविक और अधिभौतिक इन तीनों प्रकार के दुखों या तापों (त्रिताप) से हुए वैराग्य के साथ और विषयासक्ति छोड़कर कुम्भक का अभ्यास करते हैं उन्हें बहुत सफलता मिलती है।

प्राणायाम सीखना चाहने वाले को शुरू में आसन अभ्यास के साथ नाड़ी शुद्धि भी करनी चाहिये।

नाड़ी शुद्धि

नाड़ी शुद्धि किसे कहते हैं? हमारे मेरुदण्ड के अन्दर तीन नाड़ियां हैं- **इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना**। ये नाड़ियां आध्यात्मिक हैं आधिभौतिक नहीं। आध्यात्मिक विषय सूक्ष्म तत्त्व हैं, स्थूल तत्त्व नहीं हैं। आंख, कान, नाक आदि शरीर की बाहर की इन्द्रियों द्वारा स्थूलतत्त्व या वस्तुओं का ज्ञान होता है और अन्दर की इन्द्रिय (अन्तरिन्द्रिय) द्वारा सूक्ष्म तत्व का ज्ञान होता है।

नाड़ी शुद्धि की विधि

प्राणायाम से पहिले नाड़ी-शुद्धि करने का विधान है। आसन में भली-भांति बैठकर सबसे पहिले नाक का दांया सुर बन्द करके बांये सुर से वायु को यथाशक्ति खींचना चाहिये। जितनी अधिक वायु खींची जाय उतना ही अच्छा है। किन्तु जबरदस्ती वायु खींचने से बीमारी हो सकती है। नाक के बांये सुर से वायु खींचने के बाद ही दांये सुर से यथाशक्ति श्वास (वायु) निकालना चाहिये। पूरक (श्वास भरने) करने के बाद ही तुरन्त रेचन (श्वास निकालना)

करना चाहिये और बीच में कुम्भक नहीं करना चाहिये। दांये सुर से रेचक समाप्त होते ही दांये सुर से पूरक करना और बांये सुर से रेचक करना।

इस प्रकार प्रतिदिन आसानी से जितना सम्भव हो उतना अभ्यास करना। पूरक और रेचक के समय वायु को धीरे-धीरे खींचना और धीरे-धीरे ही छोड़ना। वायु को झटके से या अचानक ही नहीं खींचना या छोड़ना चाहिये। श्वास भरते और श्वास छोड़ते हुए समान गति रखनी चाहिये। नाड़ी-शुद्धि के समय मन में और कोई विचार या चिन्ता नहीं लानी चाहिये। मन को इसी क्रिया में ही लगाना चाहिये। श्वास प्रश्वास करते हुए भी मन को वश में रखना चाहिये।

बहुत दिन तक नाड़ी शुद्धि का अभ्यास करने से आसन-जय होता है। शरीर में हल्कापन आ जाता है। तामसिक भाव नष्ट हो जाता है, मन में आनन्द आता है। उच्च और गम्भीर विषय पर चिन्तन करने की और धारणा करने की शक्ति आती है और मन तथा शरीर को अनेक प्रकार के लाभ होते हैं। विशेष रूप से नाड़ी शुद्धि से फेफड़ों में बल आने लगता है और फेफड़े प्राणायाम करने के योग्य बन जाते हैं।

नाड़ी शुद्धि के समय निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिये-

1. ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना।
2. सात्विक और परिमित भोजन करना।
3. निर्जन स्थान में रहकर अभ्यास करना।
4. कसे हुए कपड़े नहीं पहिनना।
5. घर को हवादार और साफ सुथरा रखना।
6. यथाविधि आसन लगाकर बैठना।
7. प्राणवायु को यथाशक्ति धीरे-धीरे खींचना और छोड़ना।
8. मन को श्वास-प्रश्वास पर एकाग्र रखना।
9. मन में बाहर की कोई चिन्ता न आने देना।
10. पेट में मल और दूषित वायु को नहीं रहने देना।

असंयमी, अत्यन्त इन्द्रियासक्त और ब्रह्मचर्य हीन व्यक्ति नाड़ी शुद्धि क्रिया करने से अति कठिन रोगों से घिर जायेंगे। कुम्भक प्राणयाम का अभ्यास शुरू करने से पहिले आसन स्थिर, मन एकाग्र और नाड़ी शुद्धि होने से बहुत लाभ होता है। क्योंकि आसन जय, चित्त स्थिरता और प्राणायाम के बीच गहरा सम्बन्ध है।

प्राणशक्ति को विश्राम देना भी प्राणायाम है। शरीर के अंगों के सदा काम करते रहने से इन अंगों को विश्राम न देने से हमें कष्ट होता है। इनको विश्राम देने से हमें सुख होता है। शरीर चंचल रहने से मन चंचल रहता है। शरीर स्थिर होने से चित्त भी स्थिर होता है। प्राण चंचल रहने से चित्त चंचल और प्राण के स्थिर रहने से चित्त शान्त होता है। प्राण और शरीर के साथ चित्त का निकट सम्बन्ध है। शरीर और चित्त को स्थिर करने से प्राण स्वयं स्थिर हो जाता है। आसन और चित्त भली प्रकार स्थिर हो जाने से प्राण की गति का विच्छेद अर्थात् विराम होता है। जो श्वास-प्रश्वास विरामहीन (बिना रुके) चलता रहता है उसमें विराम और विश्राम आ जायेगा। साधारण मनुष्य दिन-रात श्वास-प्रश्वास लेकर रहते हैं लेकिन साधक दिन-रात कुम्भक करके भी रहते हैं। प्राण के विराम या रुकने से कुम्भक होता है। चित्त को स्थिर न करके जो केवल नाक बन्द करके ही कुम्भक करता है उसके हृदय, फेफड़े, पाक स्थली आदि अंग कठिन रोगों से आक्रान्त हो जाते हैं।

प्रत्याहार-साधना

आंख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा ये पांच ज्ञानेन्द्रियां अपने-अपने विषय रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श के साथ स्वाभाविक रूप से ही संयुक्त होती हैं। जब ज्ञानेन्द्रियों के साथ उनके विषयों का यह संयोग बन्द हो जाता है और ज्ञानेन्द्रियां चित्त के आकार की हो जाती हैं तब यह प्रत्याहार कहलाता है। चित्त की इच्छानुसार ही इन्द्रियां अपने विषयों में लगती हैं। आंख रूप से, कान शब्द से, नाक गन्ध से, जिह्वा रस से और त्वचा स्पर्श से तभी संयुक्त होती है जब मन चाहता है। मन एक समय में केवल एक ही इन्द्रिय को उसके विषय में लगा सकता है। तब दूसरी इन्द्रियां अपने-अपने विषयों से अलग रहती हैं। इस प्रकार पांचों ज्ञानेन्द्रियों के अपने-अपने विषयों से अलग होने पर प्रत्याहार

सम्भव होता है। ज्ञानेन्द्रियों के निष्कर्म की स्थिति में आ जाने पर ज्ञानेन्द्रियां चित्त में लय को प्राप्त हो जाती हैं। तब पांचों ज्ञानेन्द्रियां, मन के स्वरूप को प्राप्त हो जाती हैं और उनके लिये अलग से कोई कार्य नहीं रहता। इन्द्रियों के विषयों से अलग हो जाने या उदासीन हो जाने का नाम ही प्रत्याहार है। प्रत्याहार बाहर से भी होता है और भीतर से भी होता है।

चित्त में धारणा शक्ति प्रबल होने से हम किसी एक विषय पर बहुत देर तक एकाग्रता के साथ रह सकते हैं। बाहर से प्रत्याहार का साधन होने से अधिक लाभ नहीं होता है। आंख बन्द करने से देखने की क्रिया बन्द हो जाती है। यह कच्चा प्रत्याहार है। कच्चा प्रत्याहार टूट जाता है। लेकिन पक्का प्रत्याहार टूटता नहीं। प्राणायाम के बाद प्रत्याहार का साधन सम्भव होता है। प्रत्याहार सिद्धि से इन्द्रिय संयम की सिद्धि होती है। इन्द्रिय संयम के बिना सब तरह की साधना ही विफल हो जाती है। प्रत्याहार की सिद्धि में सभी साधकों को देर लगती है अतः धैर्य के साथ लम्बी अवधि तक प्रत्याहार की साधना करते रहनी चाहिये।

धारणा

धारणा ध्यान और **समाधि** ये तीनों मिलकर **संयम साधनाएं** हैं। ये ही तीनों मिलकर योग की अन्तरंग साधनाएं हैं। धारणा का तात्पर्य चित्त को एक स्थान में रखना है अर्थात् चित्त के अन्दर केवल एक ही विषय का चिन्तन करना। चित्त में बहुत देर तक एक ही विषय को रखना और दूसरे विषय को नहीं आने देना धारणा है। किसी एक ही विषय का चिन्तन करते–करते चित्त में थोड़ी देर बाद दूसरे विषय के आ जाने से समझना चाहिये कि धारणा नहीं हुई, धारणा भंग हो गई। धारणा न होने से ध्यान नहीं होगा। ध्यान नहीं होने से समाधि नहीं होगी। पहले धारणा है, उसके बाद ध्यान है और ध्यान के बाद समाधि है। जब चित्त बहुत से विषयों में न दौड़ता हुआ एक ही विषय में लगा रहता है तब उसका नाम धारणा है। प्रत्याहार साधना ठीक प्रकार से हो जाने के बाद धारणा ठीक तरह और बहुत जल्दी होती है। प्रत्याहार साधना से चित्त केवल एक ही विषय में लग सकता है।

हम चित्त को बाहर या अन्दर किसी भी स्थान पर बांध सकते हैं। बाहर के स्थान सूर्य, चन्द्र, समुद्र, वृक्ष-लताएं हैं और अन्तरंग विषय नाभि, हृदय, कण्ठ, वक्षस्थल, जिह्वाग्र, नासिकाग्र, भ्रूमध्य और सिर आदि हैं। ईश्वर निर्मित किसी दृश्य वस्तु या शब्द, ज्योति आदि में धारणा का अभ्यास करना सरल है।

त्राटक योग

किसी वस्तु पर पलकहीन दृष्टि रखने का नाम त्राटक योग है। जब तक आंखों में कष्ट अनुभव न हो तब तक दृष्टि स्थिर रखनी चाहिये। यथाशक्ति दीर्घकाल तक दृष्टि स्थिर न रखकर जबर्दस्ती दृष्टि स्थिर रखने से आंखों की बीमारी हो जाती है। बहुत से लोग कहते हैं कि जब तक आंखों से आंसू नहीं निकलते तब तक दृष्टि स्थिर रखनी चाहिये, लेकिन यह बहुत खतरनाक है। आंखों में थकान होने पर आंखें बन्द करके उसी दृश्य का चिन्तन करना चाहिये। प्रातः काल में या सर्दियों के मौसम में अथवा ठण्डे समय में त्राटक योग का अभ्यास करना चाहिये। प्रतिदिन आंखों में ठण्डे पानी के छींटे देने चाहियें।

अनाहत नाद

जो लोग शब्द-योग से धारणा का अभ्यास करते हैं वे कानों में अंगुलियां डालकर चित्त को स्थिर करते हैं। कान बन्द करने से कानों के अन्दर झंकार जैसी आवाज सुनाई देती है। साधक इस आवाज को एकाग्र मन से सुनते हैं। दूसरे किसी विषय पर ध्यान नहीं देते। धीरे-धीरे और अधिक सूक्ष्म शब्द सुनाई देता है। और अधिक अभ्यास करने से आह्वान-ध्वनि सुनाई देती है। इसी का दूसरा नाम 'बिन्दु' है।

इस प्रकार किसी विषय में धारणा का अभ्यास करना चाहिये। इससे पहिले चित्त को निर्मल करके किसी एक योगासन में देर तक बैठने का अभ्यास करके, प्राणों की गति अर्थात् श्वास-प्रश्वास को वश में करके, गर्मी-सर्दी आदि द्वन्द्वों को सहने की आदत डालकर किसी योगासन में सीधे बैठना चाहिये। इसके बाद इन्द्रियों को उनके विषयों से लौटाकर (प्रत्याहार) इन्द्रियों को चित्त में समर्पित कर देना चाहिये। इसके बाद चित्त को किसी स्थूल या सूक्ष्म वस्तु पर लगाना या धारणा करनी चाहिये। ऐसा प्रयत्न करना

चाहिये कि उस वस्तु से चित्त हट न जाये। चित्त को बांधने में समर्थ होने से और चित्त को स्थायी रूप से बांधे रखने में समर्थ होने पर आगे जाकर यह धारणा, ध्यान बन जायेगी।

ध्यान

धारणा में एकतानता आने से ही उसका नाम ध्यान है। खण्ड-खण्ड प्रत्यय या ज्ञान वृत्ति का नाम ही धारणा है। धारणा पानी की बूंदों की तरह खण्ड-खण्ड (टुकड़े-टुकड़े) ज्ञान है और ध्यान; तेल या शहद की धारा के समान एक स्रोत से प्रवाहित एकतान या अखण्ड ज्ञान है। चित्त में चंचलता आने से धारणा खण्ड-खण्ड हो जाती है। ध्यान में चित्त की चंचलता नहीं रहती है और चित्त स्थिर हो जाता है। ध्यान होने से ही समझा जायेगा कि चित्त स्थिर हो गया है। चित्त में आवरण और विक्षेप के संस्कार जितने कम रहेंगे उतना ही ठीक प्रकार से ध्यान होगा। आवरण और विक्षेप आकर ही ध्यान को और समाधि को तोड़ देते हैं। एक ओर से चिन्ता के संस्कारों को कम (क्षीण) करना और दूसरी ओर ध्यान का अभ्यास करना आवश्यक है। धारणा के समय धारणीय विषय में यदि प्रत्यय की या चित्तवृत्ति की एकतानता आ जाये तब ही उसका नाम ध्यान है। जिस वस्तु में हमने बाहर की इन्द्रियों को रोककर (निरोध) अन्तरिन्द्रियों को धारण किया है, उस वस्तु का ज्ञान यदि व्यवधानहीन, अनवच्छिन्न और प्रवाहाकार होकर प्रवाहित होता है, तब उस रूप का मनोवृत्ति प्रवाह ध्यान कहा जाता है।

समाधि

ध्येय विषय का अर्थ-मात्र निर्भास स्वरूपशून्य ध्यान ही समाधि है। जप, धारणा, ध्यान, समाधि एक ही हैं। अविरत (बिना रुके) जप करते-करते जप के गाढ़ और गम्भीर होने से धारणा होती है। धारणा का अविरत या निरन्तर अभ्यास करते-करते और धारणा के गाढ़ और गम्भीर होने पर ध्यान होता है। ध्यान का अविरत अभ्यास करते-करते ध्यान के गाढ़ और गम्भीर होने से समाधि होती है। धारणा में "मैं ध्याता" "मेरा ध्यान" और 'मेरे ध्येय इष्टदेव' ये तीनों रहते हैं। ध्यान में "मैं ध्याता" और "मेरे ध्येय" ये दो रहते हैं। समाधि में "मैं ध्याता" यह भी नहीं रहता केवल 'ध्येय' ही रहता है। समाधि में

अस्मित्व (मैं का भाव) लीन हो जाता है। अस्मित्व; ध्येय में लीन हो जाता है। तब ध्येय; विषय-मात्र ही निर्भास (प्रकट) होता है। समाधि में ध्यान और ध्येय अलग नहीं रहता, अपितु एक हो जाता है। यह चित्त की सर्वोत्कृष्ट स्थिर अवस्था है। समाधि के बिना आत्मसाक्षात्कार भी नहीं होता है।

संयम का स्वरूप

एक ही विषय पर धारणा, ध्यान और समाधि एक के बाद दूसरा बिना रुके या अव्याहत गति से लगातार सम्पन्न होने से इसको राजयोग की भाषा में **'संयम'** कहा जाता है। संयम कहने से धारणा, ध्यान और समाधि एक के बाद दूसरा निरन्तर सम्पन्न होता है, यह समझना चाहिये।

संयम-साधन से प्रज्ञालोक लाभ

संयम के परिपक्व या दृढ़ होने से प्रज्ञालोक अर्थात् प्रज्ञा के आलोक का लाभ होता है। प्रज्ञालोक अर्थात् प्रज्ञा का आलोक; समाधि जात या समाधि से उत्पन्न प्रज्ञा का आलोक (प्रकाश) है। यह आलोक प्रकाशित होने से लौकिक ज्ञान और शक्ति लाभ होता है। चिन्तनीय विषय के बारे में सब कुछ जान लिया जाता है। स्थूल दृष्टि (आंख) से हम एक ही स्थान की एक ही वस्तु के स्वरूप को जान सकते हैं। किन्तु समाधि ज्ञान से हम उस वस्तु के समग्र (सम्पूर्ण) स्वरूप को जान सकते हैं। हम किसी व्यक्ति की वर्तमान कार्य-प्रणाली और आचार-व्यवहार को देखकर उसके बारे में बहुत कम ही जान सकते हैं। किन्तु प्रज्ञालोक के द्वारा हम उसी व्यक्ति के समग्र स्वरूप को और अगली-पिछली (पूर्वापर) स्थिति को बहुत कुछ जान सकते हैं। इच्छा करने से ही जब संयम आ जायेगा तब ही संयम जय हो गया, यह कहा जा सकता है।

उस संयम को जय करने से अर्थात् श्वास-प्रश्वासादि को ऐसे स्वाभाविक या सम्पूर्ण रूप से वश में करने से सर्वभासक आलोक या बुद्धि का प्रकाश आ जाता है अर्थात् ज्ञान की विशेष शक्ति उत्पन्न हो जाती है।

संयम, संयम जय और इससे प्रज्ञा नामक ज्ञानालोक की प्राप्ति

इन तीनों बातों के अन्दर बहुत से गुप्त तथ्य विद्यमान हैं। इनके वास्तविक

तथ्य और शिक्षा-कौशल को केवल योगी ही जानते हैं। योग की भाषा के प्राचीन शब्द संयम को आज की भाषा में 'इच्छा शक्ति' कह सकते हैं। महर्षि पतञ्जलि के राजयोग में पहिले धारणा, इसके बाद ध्यान और इसके पश्चात् समाधि है। इन तीनों प्रक्रियाओं के साथ तेजस्विनी निर्मला बुद्धि की सार, इच्छाशक्ति अवश्य ही चाहिये। योगी; अभ्यास से और शिक्षा के द्वारा इन तीनों प्रक्रियाओं पर अधिकार या जय कर लेते हैं। इसी का नाम स्वात्मीकरण है।

संयम से स्वात्मीकरण क्या है?

स्वाभाविक रूप से कार्य करने का नाम आयत्तीकरण या स्वात्मीकरण है। श्वास-प्रश्वास जैसे स्वाभाविक और स्वात्मीकृत कार्य करने में कष्ट नहीं होता है। ऐसे ही यदि संयम किसी कष्ट के बिना सम्पन्न होता है, तब जानना चाहिये कि 'संयम-सिद्धि' हो गई है। ऐसे संयमसिद्ध योगी का संकल्प या इच्छा प्रयोग अमोघ है। **"संयमात् प्रज्ञालोकः"** इस सूत्र के भाव को देखकर यह नहीं समझना चाहिये कि संयम से केवल ज्ञान-विकास ही होता है, और कुछ नहीं होता है। ऐसे संयम सिद्ध योगी के संकल्प से वह सब कुछ सिद्ध होता है जो भी कुछ जीवों के लिये सम्भव है। ज्ञान शक्ति बढ़ने से क्रिया शक्ति भी बढ़ जाती है, यह प्राकृतिक नियम है। भूतजय, प्रकृति वशित्व और अणिमादि सिद्धियां संयम के प्रभाव की अज्ञात शक्ति से साधित होते हैं। संयम के द्वारा इच्छाधिकार पूर्ण होता है। संयम के अन्दर महती शक्ति छिपी हुई है।

संयम-साधना के समय योगी पहिले स्थूल विषयों पर संयम का प्रयोग करें। बाद में धीरे-धीरे सूक्ष्म से सूक्ष्मतर विषयों पर संयम प्रयोग करें। स्थूल अवलम्बन छोड़कर शुरू में ही सूक्ष्म अवलम्बन नहीं लेना चाहिये।

योग के शास्त्रों में समाधि की क्रमिक भूमियों के नाम सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार और निर्विचार हैं। योगी संयम के द्वारा विविध ऐश्वर्य और अलौकिक क्षमता प्राप्त करते हैं। लेकिन किस विषय के लिये कैसे संयम का प्रयोग करना चाहिये, किस प्रकार का संयम कहां हो, कौन से संयम के कौन से फल हैं, उनको और विविध चित्त-परिणामों के विभिन्न विकार-भावों को भी प्रत्यक्ष की तरह प्राप्त कर लेना चाहिये। चित्त; व्युत्थान में, निरोध में और एकाग्रता में किसी रूप में रहता है, इसके परिणाम और परिवर्तन किस प्रकार के होते हैं, यह सब निपुणता के साथ देखना चाहिये। निरोध काल की चित्तावस्था या

चित्त परिणाम जानना बहुत ही आवश्यक है। इन सूक्ष्म तत्वों की शिक्षा बहुत ही ध्यान से ग्रहण करनी चाहिये।

योग और उसके उद्देश्य या लक्ष्य के बारे में उपरोक्त विचार अनुभवसिद्ध और समाधि सिद्ध आप्त योगियों ने साधकों के मार्गदर्शन के लिये प्रकट किये हैं। इन विचारों में तनिक भी अतिशयोक्ति या आत्मश्लाघा नहीं है।

3. राज योग

परमात्मा से आत्मा का संयोग, योग कहलाता है। किन्तु प्रश्न है यदि आत्मा और परमात्मा वास्तव में एक ही हैं तो इस तरह के संयोग की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। संयोग तो द्वैत में अर्थात् दो वस्तुओं के बीच होता है।

समाधि में लीन योगी जान लेता है कि जीवात्मा; परमात्मा ही है। इसलिये योग; परमात्मा से जीवात्मा के इस मिलन या संयोग की अनुभूति कराने का साधन है। योग की शारीरिक और मानसिक क्रिया प्रक्रियाओं के द्वारा साधक अपने अन्त: स्थल में विराजमान अपने परम तत्त्व का साक्षात् करता है। यह परमतत्त्व ही संसार का सर्वोत्कृष्ट तत्त्व या सत्ता है। योग साधना एक ऐसी प्रक्रिया या पद्धति या कार्य प्रणाली है जिसके द्वारा साधक आत्मा और परमतत्त्व परमात्मा या ब्रह्म के साथ ऐक्य या तादात्म्य का अनुभव करने लगता है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार इस सृष्टि के प्रत्येक जीव का आधारभूत तत्त्व शुद्ध चैतन्य या चित् है। यह चित् स्वयं बन्धन में नहीं है। किन्तु बन्धन में पड़ा प्रतीत होता है। यदि आत्मा वास्तव में मुक्त नहीं होता तो उसका मोक्ष नहीं हो सकता था। अत: प्रत्येक जीव मुक्ति या मोक्ष प्राप्त कर सकता है। परमात्मा के साथ उसका तादात्म्य था और है, किन्तु माया के आवरण के कारण उसे (जीव को) यह तादात्म्य अनुभव नहीं होता। माया के इस आवरण या परदे के कारण जीवात्मा और परमात्मा अलग-अलग या भिन्न प्रतीत होते हैं। अविद्या या अज्ञान के कारण जीवात्मा और परमात्मा का यह तादात्म्य पता नहीं चलता। किन्तु आत्मा और परमात्मा का तादात्म्य या ऐक्य ज्ञान या विद्या के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

ज्ञान दो प्रकार का होता है-

स्वरूप ज्ञान और क्रिया ज्ञान

स्वरूप ज्ञान – चित् या विशुद्ध चैतन्य है। इस विशुद्ध चैतन्य की प्राप्ति ही योग का लक्ष्य या उद्देश्य है।

क्रिया ज्ञान – ऐसी बौद्धिक प्रक्रियाएं हैं जिनके द्वारा स्वरूप ज्ञान की प्राप्ति होती है। ज्ञान ऐसी मानसिक क्रिया या ऐसा बौद्धिक उपाय है जिसके द्वारा हम जान सकते हैं कि सत्य क्या है? मिथ्या क्या है? और ब्रह्म क्या है? अपने इस ज्ञान या विवेक से ब्रह्म का स्वरूप समझकर और अपना मन, ब्रह्म के इस स्वरूप पर तब तक एकाग्र करना जब तक हम ब्रह्म के पूर्ण स्वरूप को न जान लें और ब्रह्म का यह स्वरूप-ज्ञान हमारे मन में सदा बना रहे तथा हमारे मन से अन्य सब विचार (वृत्तियां) निकल जायें। इस अवस्था में मन; ब्रह्म में या विशुद्ध चैतन्य में ही सदा लीन रहता है। मन में ब्रह्म या विशुद्ध चैतन्य का स्थायी ज्ञान सदा बना रहना ही स्वरूप-ज्ञान या स्वरूपावस्थिति कहलाती है।

इस स्वरूप-ज्ञान या स्वरूपावस्थिति से पहिले योगाभ्यास के द्वारा योगी को क्रम मुक्ति प्राप्त होती है अर्थात् योगी; सत्य लोक में ब्रह्म के समीप पहुंच जाता है या उसे ब्रह्म का सायुज्य प्राप्त हो जाता है। ब्रह्म का यह सायुज्य या समीपता प्राप्त कर लेने पर योगी पूर्ण मोक्ष प्राप्त कर लेता है। पूर्ण मोक्ष, ब्रह्म-सायुज्य (समीपता) का ही परिणाम होता है।

किन्तु मनुष्य केवल बौद्धिक प्राणी ही नहीं है। उसके मन में अनेक प्रकार की भावनाएं और भक्ति भाव भी हैं। इन भावनाओं और भक्ति के अतिरिक्त उसका शरीर भी है। उपासना और योग की स्थूल तथा सूक्ष्म क्रियाएं शरीर से सम्बद्ध हैं और योग की स्थूल तथा सूक्ष्म क्रियाएं हठयोग से सम्बद्ध हैं।

हठयोग में ऐसी साधनाएं या अभ्यास किये जाते हैं जिनका सम्बन्ध हमारे स्थूल शरीर से है। स्थूल शरीर का सम्बन्ध हमारे सूक्ष्म शरीर से है।

सूक्ष्म शरीर

पांच ज्ञानेन्द्रियां अर्थात् नाक, कान, जीभ, त्वचा और आंख की शक्तियाँ,

पांच कर्मेन्द्रियां अर्थात् हाथ, पैर, वाणी, गुदा और उपस्थ की शक्तियां, ग्यारहवां मन जिसके द्वारा ये शक्तियां काम करती हैं तथा जिसमें संकल्प-विकल्प होते हैं। पांच सूक्ष्म भूत; और प्राण तथा अहंकार पैदा करने वाली शक्ति बुद्धि; इन अठारह शक्तियों का समूह सूक्ष्म शरीर कहलाता है। मुख्य रूप से प्राण, मन और बुद्धि से बने सूक्ष्म शरीर में प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोष हैं। अन्न द्वारा बना स्थूल शरीर अन्नमय कोष है। अस्मिता (अहंकार) द्वारा बनी कारण देह (शरीर) का नाम ही आनन्दमय कोष है। हमारे स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर की तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान से शुद्धि होती है। तप के द्वारा हमारे शरीर और इन्द्रियों की शुद्धि होती है। स्वाध्याय के द्वारा हमारे मन, अहंकार और बुद्धि की परिशुद्धि होती है। ईश्वर प्रणिधान के द्वारा चित्त की शुद्धि होती है अर्थात् चित्त के ऊपर पड़े हुए राजसिक और तामसिक मल दूर हो जाते हैं। हमने जैसी बुद्धि, मन, ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों आदि के साथ जन्म लिया है उन सबकी परिशुद्धि न होने से सम्यक् ज्ञान नहीं हो सकता। परमात्म तत्त्व के प्रत्यक्ष ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं मिलती।

जीवात्मा; अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पांच कोषों के आवरण से बंधा हुआ है। इन पंचकोषों से मुक्ति ही जीवात्मा की मुक्ति है। सबसे ऊपर अन्नमय कोष है। उसके अन्दर प्राणमय कोष है और इसके अन्दर मनोमय कोष है। मनोमय कोष के अन्दर आनन्दमय कोष है।

शरीर, इन्द्रियों, मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त की शुद्धि के लिये साधना में जिन साधकों का प्रयत्न जितना प्रबल होगा उन्हें उतनी ही जल्दी सफलता मिलेगी।

हठयोग

हठयोग की क्रियाओं से शरीर को स्वस्थ और सशक्त बनाया जाता है। हमारा शरीर आग में बिना पकाये हुए कच्चे घड़े जैसा है। योग की अग्नि से शरीर को तपा कर मजबूत बनाया जाता है। घेरण्ड संहिता के अनुसार षट्कर्मों से शरीर को साफ किया जाता है। आसनों से शरीर मजबूत और स्वस्थ बनता है। मुद्राओं से ध्यान में बैठने पर शरीर का हिलना-डुलना बन्द हो जाता है। प्रत्याहार से मन में धैर्य आता है। प्राणायाम से शरीर और मन में हल्कापन

आता है। ध्यान से प्रत्यक्ष ज्ञान होने लगता है और समाधि से निर्लिप्ति या वैराग्य की भावना आती है। इस प्रकार हठयोग की साधना से मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

हठयोग में प्राणायाम को बहुत महत्त्व दिया जाता है। इसलिये हठयोग प्राणाविद्या कहलाती है। हठयोग के 'ह' शब्द से सूर्य अर्थात् प्राण वायु और 'ठ' शब्द से चन्द्र अर्थात् अपान वायु का अभिप्राय लिया जाता है। प्राणवायु और अपानवायु को मिलाकर सुषुम्ना में प्रविष्ट कराना और सुषुम्ना के रास्ते कुण्डलिनी शक्ति को ब्रह्मरन्ध्र में स्थित सहस्रार में पहुंचाना हठयोग की क्रियाओं का मुख्य उद्देश्य है।

हठयोग में ऐसी साधनाएं या अभ्यास किये जाते हैं जिनका सम्बन्ध हमारे सूक्ष्म शरीर से है। इसलिये स्थूल शरीर पर नियन्त्रण करने का प्रभाव हमारे सूक्ष्म शरीर पर पड़ता है अर्थात् हमारे विचार, भावनाएं और राग-द्वेष प्रभावित होते हैं। इस तरह इन साधनाओं से मन पर नियन्त्रण स्थापित किया जाता है।

उपभोग

हमारा मन और शरीर संसार के विषयों का उपभोग करने के साधन हैं। जबतक हमारा मन सांसारिक विषयों में फंसा रहता है तब तक हम ब्रह्म से तादात्म्य या ऐक्य की अनुभूति नहीं कर सकते। सांसारिक विषय-भोग; विशुद्ध चैतन्य या चिदावस्था प्राप्त करने के मार्ग में विघ्न हैं। चिदावस्था प्राप्त करने के लिये चित् शक्ति पर पड़े सभी आवरण दूर करने होते हैं। इसलिये योग के द्वारा चित्त वृत्तियों पर और प्राण पर नियन्त्रण प्राप्त किया जाता है। और मन तथा प्राण के सभी आवरण या मल दूर किये जाते हैं। चित्त वृत्तियों और प्राण को पूरी तरह से नियन्त्रित कर लेने पर चित् या परमात्मा का साक्षात् होता है। तब मन और शरीर उस परा-शक्ति में लीन हो जाते हैं जिससे वे उत्पन्न हुए थे। हमारा मन और पंच भूतों से बना यह शरीर उसी परा-शक्ति का ही प्राकट्य है। यह पराशक्ति; शिव या चित् है।

योग का उद्देश्य

योग, विशुद्ध चैतन्य की प्राप्ति का साधन है। योग के द्वारा हम अपना

मार्ग रोकने वाले अज्ञान या अविद्या को दूर करते हैं। अज्ञान का अन्धकार दूर करने की प्रक्रिया ही शक्ति है। इस शक्ति के दो स्वरूप हैं। निबोधिका शक्ति और निरोधिका शक्ति।

निबोधिका शाक्ति हमें ज्ञान प्रदान करती है। और निरोधिका शक्ति संसार के दृश्य या स्थूल विषयों से मन की आसक्ति हटाती है। सांसारिक विषयों से मन विरक्त हो जाने पर विशुद्ध चैतन्य के साक्षात्कार की अवस्था उत्पन्न होती है। इस अवस्था के प्रादुर्भाव को ही समाधि कहा जाता है।

समाधि की अवस्था में जीवात्मा और परमात्मा के तादात्म्य या ऐक्य अथवा समरसता की अनुभूति होती है। यह अनुभूति, प्राण और मन का लय होने पर तथा मन के सभी संकल्प-विकल्प नष्ट होने पर होती है। समाधि की अवस्था में उत्पन्न समरसत्व की स्थिति; आत्मा की सहजावस्था या आत्मा का स्वाभाविक स्वरूप है। जब तक यह अवस्था उत्पन्न नहीं होती तब तक मन में संकल्प-विकल्प या वृत्तियां उठती रहती हैं। मन की ये वृत्तियां अहंकार की भावना के कारण या 'तेरा', 'मेरा' के भेद के कारण उठती रहती हैं।

समाधि की अवस्था पानी में घुले हुए नमक के टुकड़े के समान है। जैसे नमक का टुकड़ा पानी के साथ घुल-मिल जाता है या एकाकार हो जाता है। वैसे ही समाधि की अवस्था में जीवात्मा और परमात्मा के बीच ऐक्य स्थापित हो जाता है।

योग और समाधि

कुलार्णव तन्त्र के अनुसार समाधि; ध्यान की वह अवस्था है जिसमें 'यहाँ' या 'यहाँ नहीं' का बोध नहीं रहता। समाधि की अवस्था में योगी आत्मा का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर शान्त, अगाध जल की तरह निश्चल बना रहता है।

माया-तन्त्र के अनुसार योग जीवात्मा और परमात्मा का संयोग है।

अन्य विचारों के अनुसार योग; शिव और आत्मा के तादात्म्य या ऐक्य भाव का ज्ञान है।

आगमवादियों के अनुसार शक्त्यात्मक ज्ञान या शक्ति का ज्ञान योग है। कुछ के मत में पुराण-पुरुष या शाश्वत-पुरुष का ज्ञान योग है।

प्रकृतिवादियों के अनुसार शिव और शक्ति के संयोग का ज्ञान ही योग है।

योग की ये सभी परिभाषाएं एक ही बात का संकेत करती हैं कि मनुष्य की आत्मा या जीवात्मा द्वारा यह अनुभव करना कि ब्रह्म ही सारे संसार के नियामक हैं।

हठयोग प्रदीपिका के अनुसार राजयोग, समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, लयस्तत्त्व, शून्याशून्य, परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालम्ब, निरञ्जन, जीवन्मुक्ति, सहजा, तुरीया ये सब एक ही अवस्था हैं। इस अवस्था में चित्त की वृत्तियां रुक जाती हैं और कर्म समाप्त हो जाते हैं। सुख और दु:ख से रहित यह अवस्था निर्विकार कहलाती है। निर्विकार अर्थात् जिस अवस्था में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। इस अवस्था में शरीर छूटने पर विदेह कैवल्य या परम मुक्ति प्राप्त होती है। आत्मा की यह अवस्था ही स्थायी अवस्था या स्वरूपावस्था है।

योग के प्रकार

यद्यपि योग का उद्देश्य एक ही है, किन्तु इस उद्देश्य को प्राप्त करने के मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। समान्यतया योग के चार प्रकार बताये जाते हैं।

हठयोग, मन्त्र योग, लय योग और राजयोग। हठयोग से शरीर और मन स्वस्थ तथा सतेज होकर दूसरे योगों के लिये उपयोगी बन जाते हैं। हठयोग की साधना से योगी भूख-प्यास, निद्रा-आलस्य, गर्मी-सर्दी आधि-व्यधि (मानसिक और शारीरिक रोग), जरा-वार्धक्य आदि द्वन्द्व-समूहों पर विजय प्राप्त करते हैं। हठयोगी, त्राटक-योग के अभ्यास से दूर-दृष्टि, सूक्ष्म-दृष्टि और अव्याहत-दृष्टि (बेरोकटोक देखने की शक्ति) को बढ़ाते हैं। कुम्भक योग के द्वारा योगी बहुत दिन तक निराहार तथा नीरोग होकर रह सकते हैं।

हठयोग दो प्रकार का है- गोरक्ष मुनि का छह अंगों वाला योग और मार्कण्डेय मुनि का आठ अंगों वाला योग।

गोरक्ष मुनि के छह अंगों वाले योग में यम और नियम नहीं हैं जबकि अष्टांग योग में यम और नियम का स्थान सबसे पहिला है। इन दोनों प्रकार के योगों का उद्देश्य कैवल्य-लाभ या मोक्ष-प्राप्ति ही है।

मन्त्र योग

प्रणव और गायत्री आदि मन्त्रों के नियमित और लम्बी अवधि तक जप करने से मन लीन हो जाता है। इससे भी मोक्ष-लाभ मिलता है। भृगु, कश्यप आदि ऋषि मन्त्र योग के उपदेष्टा हैं।

लय योग

वेद व्यास आदि कई ऋषि लय-योग के उपदेष्टा हैं। लय योग के इन ऋषियों के अनुसार हमारे शरीरों में तीन मुख्य शक्तियां हैं-

ऊर्ध्व-शक्ति, मध्य-शक्ति और अधः शक्ति

ऊर्ध्व शक्ति के निपातन से और अधः शक्ति के संकोचन से मध्य-शक्ति का उद्‌बोधन होता है। इस प्रक्रिया से सात्विक आनन्द का प्रवाह अनुभव होता है। इस अनुभव या उपलब्धि के लिये शरीर के इन चक्रों में ध्यान करना होता है:-

स्वाधिष्ठान चक्र, नाभिचक्र (मणिपूर चक्र), हृदय चक्र (अनाहत चक्र), कण्ठ चक्र (विशुद्ध चक्र), तालु चक्र, भ्रू चक्र (आज्ञा चक्र), ब्रह्मरन्ध्र चक्र और अन्तिम ब्रह्मचक्र या सहस्रार। इन चक्रों में ध्यान करने से आनन्द मिलने लगता है। लय-योग के अभ्यास से भी मोक्ष लाभ होता है। लय-योग के अनुभवी गुरु से लय योग की साधना के सम्बन्ध में अनेक रहस्य मालूम हो सकते हैं। लय-योग की साधना से शरीर के स्नायविक शक्ति के केन्द्र भी पता चल जाते हैं।

राजयोग

राजयोग, आठ अंगों में विभक्त है- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। महर्षि पतञ्जलि ने अपने योग शास्त्र में राजयोग के इन अंगों को चार भागों में विभक्त किया है-

समाधि पाद, साधन पाद, विभूति पाद और कैवल्य पाद।

अष्टाङ्ग योग के पहिले पांच अंग; यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार, बहिरङ्ग साधन हैं और शेष तीन धारणा, ध्यान तथा समाधि, अन्तरङ्ग

साधना के अंग हैं। बहिरंग साधना के द्वारा चित्त निर्मल हो जाता है। चित्त जितना निर्मल होगा, सिद्धि उतनी ही शीघ्र होगी। मलिन चित्त से ध्यान लगना असम्भव है। चित्त में रजो मल रहने से चित्त चंचल रहता है और तमो मल से ध्यान के समय नींद आ जाती है।

अन्तरंग साधना का पहिला अंग धारणा है। किसी ध्येय पदार्थ या लक्ष्य पर मन लगाना धारणा कहलाता है। अधिक समय की स्थायी धारणा का नाम ही ध्यान है और ध्यान के गाढ़ तथा गम्भीर होने का नाम समाधि है।

चित्त का लय

हठयोग, मन्त्र योग, लय योग और राजयोग इन सब में ही लय का सम्बन्ध है। लय के बिना योग होता ही नहीं। प्रश्न है कि किसका लय?

इसका उत्तर है चित्त का लय।

महर्षि पतञ्जलि ने चित्त के लय पर बहुत जोर दिया है। योग साधना की इन विभिन्न विधियों में चित्तवृत्तियों पर नियन्त्रण कर ब्रह्म साक्षात्कार किया जाता है। योग की इन चारों ही विधियों का सम्बन्ध अष्टांग योग से है। ब्रह्म साक्षात्कार के लिये समाधि की अवस्था मन्त्रयोग में महाभाव, हठयोग में महाबोध, लय योग में महालय और राजयोग में ज्ञान योग कहलाती है।

कुण्डलिनी योग में मन और शरीर को शिव के साथ संयुक्त कर पूर्ण समाधि प्राप्त की जाती है। राजयोग या ज्ञानयोग में प्रमुख रूप से बौद्धिक-प्रक्रियाओं का अभ्यास किया जाता है किन्तु साथ ही साथ योग की अन्य क्रियाओं का भी अभ्यास किया जाता है। मन्त्र योग में उपासना और पूजा का बहुत महत्त्व होता है। हठयोग में प्राणायाम, मुद्रा, आसन और षट्कर्म आदि शारीरिक क्रियाओं का अभ्यास किया जाता है। किन्तु इन सभी योग पद्धतियों में प्रत्येक योग पद्धति की क्रियाओं और विधियों को भी अपनाया जाता है और उनका नियमित अभ्यास किया जाता है। ज्ञान योगी, कुण्डलिनी शक्ति को जगाये बिना ही अपने मानसिक प्रयत्न से स्वरूप-ज्ञान प्राप्त करता है। किन्तु हठयोगी कुण्डलिनी शक्ति के द्वारा ही स्वरूप-ज्ञान पाता है। सहस्रार में स्थित शिव के साथ कुण्डलिनी का संयोग स्वरूप-ज्ञान है।

योग की सभी पद्धतियों में अष्टांग योग के यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि किसी न किसी अंश तक अपनाये जाते हैं। सभी योग पद्धतियों में नैतिक आचार–व्यवहार, धार्मिक प्रवृत्ति, नियमित अभ्यास और साधना आवश्यक हैं।

यम, नियम और आसनों के अभ्यास से शरीर पर नियन्त्रण प्राप्त किया जाता है। यम, नियम, और आसनों के साथ प्राणायाम का अभ्यास करने से प्राण–शक्ति पर नियन्त्रण स्थापित किया जाता है। इन चारों के साथ प्रत्याहार का अभ्यास करने से इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखा जाता है और उन्हें वशवर्ती बनाया जाता है। इसके बाद धारणा, ध्यान, समाधि के अभ्यास से चित्त की वृत्तियां नष्ट की जाती हैं। इस अवस्था में केवल बुद्धि काम करती है। वैराग्य अर्थात् सुख दु:ख से उदासीन रहने का अभ्यास करने से बुद्धि का भी लय हो जाता है और योगी को शुद्ध आत्मस्वरूप का ज्ञान हो जाता है। इस अवस्था में जीव, शुद्ध बुद्धि स्वरूप बनकर प्रकृति और ब्रह्म के साथ उसी तरह मिल जाता है जैसे पानी में नमक की डली घुल जाती है। समाधि या चित्त लय की इस अवस्था का वर्णन शास्त्रों में इस प्रकार किया गया है–

मनसो वृत्तिशून्यस्य ब्रह्माकारतया स्थितिः।

तथा

यस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति।

अर्थात् विचार तरंगों से सर्वथा रहित मन की अवस्था ब्रह्म के आकार की हो जाती है।

ब्रह्मज्ञान या ब्रह्म साक्षात्कार हो जाने पर इस सम्पूर्ण सृष्टि के पदार्थों का ज्ञान हो जाता है।

4. राजयोग का अभ्यास

स्वामी विवेकानन्द ने अमेरिका और इंगलैण्ड में अपने शिष्यों को राजयोग की क्रियात्मक शिक्षा के बारे में जो उपदेश दिये थे उनका सार पाठकों के मार्ग-दर्शन के लिये प्रस्तुत किया जा रहा है।

संसार के अन्य विज्ञानों की भांति राजयोग भी एक विज्ञान है। यह विज्ञान मन का विश्लेषण और अतीन्द्रिय (सूक्ष्म) जगत् के तथ्यों का संकलन करता है। इस दृष्टि से राजयोग आध्यात्मिक जगत् का निर्माता है। संसार के सभी महान् उपदेष्टाओं ने कहा है कि 'हमने देखा और जाना है।'

यह प्रत्यक्ष अनुभव योग के द्वारा प्राप्त होता है।

हमारे अस्तित्व की सीमा, चेतना अथवा स्मृति नहीं हो सकती। एक अतिचेतन भूमि भी है। मन की अतिचेतन भूमि और सुषुप्ति अवस्था में हमें संवेदनाएं नहीं प्राप्त होतीं। किन्तु इन दोनों के बीच ज्ञान और अज्ञान जैसा आकाश-पाताल का भेद है! योगशास्त्र; विज्ञान के ही समान तर्कसंगत है।

मन की एकाग्रता ही समस्त ज्ञान का स्रोत है। योग हमें जड़-तत्त्व को अपना दास बनाने की शिक्षा देता है। योग का अर्थ है - जोड़ना अर्थात् जीवात्मा क़ो परमात्मा के साथ जोड़ना या मिलाना।

श्रद्धाभाव से योगाभ्यास करने पर मन का एक के बाद दूसरा स्तर खुलता जाता है और प्रत्येक स्तर नये तथ्यों को प्रकाशित करता है। हम अपने सामने नये जगतों की सृष्टि होती सी देखते हैं। हमारे हाथों में नयी शक्तियां आ जाती हैं, किन्तु हमें मार्ग में ही रुक नहीं जाना चाहिये। जब हमारे सामने हीरों की खान पड़ी हो तो कांच के मनकों से हमें चौंधिया नहीं जाना चाहिये।

केवल ईश्वर ही हमारा लक्ष्य है। उसकी प्राप्ति न हो पाना ही हमारी मृत्यु है।

सफलता चाहने वाले साधक के लिये इन तीन बातों की आवश्यकता है।

पहली है- सांसारिक और पारलौकिक इन्द्रिय भोग-वासना का त्याग तथा केवल भगवान और सत्य को लक्ष्य बनाना। हम इस संसार में सत्य की प्राप्ति के लिये आये हैं भोग के लिये नहीं। भोग पशुओं के लिये छोड़ दो, जिनको हमारी अपेक्षा भोग में कहीं अधिक आनन्द मिलता है। मनुष्य विचारशील प्राणी है। उसे मृत्यु पर विजय तथा प्रकाश को प्राप्त कर लेने तक संघर्ष करते ही रहना चाहिये। उसे व्यर्थ की बातों में अपनी शक्ति नष्ट नहीं करनी चाहिये। आत्मा का लिंग, देश, काल, और स्थान नहीं होता।

दूसरी है सत्य और भगवत् प्राप्ति की तीव्र आकांक्षा। जैसे जल में डूबता मनुष्य वायु के लिये बेचैन रहता है, वैसे ही व्याकुल हो जाओ। केवल ईश्वर को ही चाहो, और कुछ भी स्वीकार न करो। जो आभास-मात्र है उससे धोखा न खाओ। सबसे विमुख होकर केवल ईश्वर की खोज करो।

तीसरी बात में छह अभ्यास हैं -

1. मन को बहिर्मुख न होने देना।
2. इन्द्रिय-निग्रह।
3. मन को अन्तर्मुख बनाना।
4. निर्विरोध सहिष्णुता या पूर्ण तितिक्षा।
5. मन को एक भाव में स्थिर रखना। ध्येय को सामने रखो और उसका चिन्तन करो। अपने ध्येय को कभी अलग न करो। समय की गणना न करो।
6. अपने स्वरूप का सतत चिन्तन करो।

अन्ध विश्वास को पूरी तरह छोड़ दो। अपनी तुच्छता के विश्वास में अपने को सम्मोहित मत करो। जब तक तुम ईश्वर के साथ एकात्मता की वास्तविक अनुभूति न कर लो, तब तक रात-दिन, अपने आपको बताते रहो कि तुम वस्तुतः क्या हो।

इन साधनाओं के बिना कोई भी फल प्राप्त नहीं हो सकता।

हम ब्रह्म की धारणा कर सकते हैं, पर उसे वाणी के द्वारा व्यक्त करना असम्भव है। जैसे ही हम ब्रह्म को अभिव्यक्त करने की चेष्टा करते हैं, वैसे ही हम ब्रह्म को सीमित बना देते हैं और वह ब्रह्म नहीं रह जाता।

हमें इन्द्रिय जगत् की सीमाओं से परे जाना है और बुद्धि से भी अतीत होना है। हममें ऐसा करने की शक्ति है।

स्थूल और सूक्ष्म प्रकृति

योगी कहते हैं कि संसार में अप्राकृतिक नाम की कोई वस्तु नहीं है। किन्तु प्रकृति में दो प्रकार की अभिव्यक्तियां हैं - स्थूल और सूक्ष्म। सूक्ष्म प्रकृति कारण है और स्थूल प्रकृति कार्य है। स्थूल वस्तु को इन्द्रियों द्वारा सहज ही प्राप्त किया जा सकता है पर सूक्ष्म वस्तु को नहीं। राजयोग के अभ्यास में सूक्ष्मतर अनुभूति होती है।

भारतवर्ष में जितने वेदमतानुयायी दर्शन (आस्तिक दर्शन) हैं, उन सबका एक ही लक्ष्य है कि जीवन में पूर्णता प्राप्त करके आत्मा को मुक्त करा लेना। इसका उपाय है - योग।

योग शब्द बहुभावव्यापी (अनेक अभिप्रायों वाला) है। महर्षि पतञ्जलि का योगसूत्र ग्रन्थ राजयोग का शास्त्र है और यह राजयोग का सर्वोच्च प्रामाणिक ग्रन्थ है।

पतञ्जलि का योग दर्शन; सांख्य मत या सांख्य दर्शन पर आधारित है। इन दोनों मतों या दर्शनों में बहुत ही कम अन्तर (भेद) है। इनके दो मुख्य मतभेद निम्नलिखित हैं -

पहला तो यह कि पतञ्जलि आदिगुरु के रूप में सगुण ईश्वर की सत्ता स्वीकार करते हैं, जबकि सांख्य का ईश्वर लगभग पूर्णता प्राप्त एक व्यक्ति मात्र है जो कुछ समय तक एक सृष्टिकल्प का शासन करता है।

दूसरा मतभेद है कि योगी; आत्मा या पुरुष के समान मन को भी सर्वव्यापी मानते हैं पर सांख्य मत वाले ऐसा नहीं मानते।

राजयोग विद्या, मनुष्य को उसकी अपनी आभ्यन्तरिक अवस्थाओं के पर्यवेक्षण का उपाय दिखा देती है। मन ही उस पर्यवेक्षण का यन्त्र है। मनोयोग की शक्ति का सही सही नियमन कर जब उसे अन्तर्जगत की ओर परिचालित किया जाता है, तभी वह मन का विश्लेषण कर सकती है और तब उसके ही प्रकाश से हम यह ठीक ठीक समझ सकते हैं कि अपने मन के भीतर क्या घट रहा है? मन की शक्तियां इधर-उधर बिखरी हुई प्रकाश की किरणों के समान हैं। जब इन्हें केन्द्रीभूत किया जाता है तब वे सब कुछ प्रकाशित कर देती हैं।

हमारे ज्ञान का यही एकमात्र उपाय है। बचपन से हमने केवल बाहर की वस्तुओं में मन लगाना सीखा है, अपने अन्तर्जगत में मन लगाने की शिक्षा नहीं पाई है। इसीलिये हममें से अधिकतर मनुष्य आभ्यान्तरिक क्रिया-कलाप का निरीक्षण करने की शक्ति खो बैठे हैं। मन को अन्तर्मुखी करना उसकी बहिर्गति रोकना, उसकी सारी शक्तियों को केन्द्रीभूत करके इन शक्तियों का मन के ऊपर ही प्रयोग करना ताकि वह अपना स्वभाव समझ सके, अपने आप को विश्लेषण कर देख सके - अत्यन्त कठिन कार्य है। परन्तु मन के क्षेत्र में वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार बढ़ने के लिये यही एकमात्र उपाय है।

जब मनुष्य अपने मन का विश्लेषण करते करते ऐसी वस्तु का साक्षात् दर्शन कर लेता है जिसका किसी काल में नाश नहीं, जो स्वरूपतः नित्यपूर्ण और नित्यशुद्ध है, तब उसको फिर दुःख नहीं रह जाता, उसका सारा विषाद न जाने कहाँ गायब हो जाता है।

भय और अपूर्ण वासना ही सारे दुःखों की मूल है। पूर्वोक्त अवस्था प्राप्त होने पर मनुष्य समझ जाता है कि उसकी मृत्यु किसी काल में नहीं है। तब उसे मृत्यु का भय नहीं रह जाता। अपने को पूर्ण समझ लेने पर असार वासनाएं नहीं रहतीं। मृत्यु-भय और वासनाओं का नाश हो जाने पर कोई दुःख नहीं रह जाता। इस दुःख की जगह उसे इसी देह में परमानन्द की प्राप्ति हो जाती है।

मन की एकाग्रता - इस ज्ञान के प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है एकाग्रता। मन की शक्तियों को एकाग्र करने के सिवाय संसार में यह समस्त ज्ञान अन्य किस तरह प्राप्त हुआ है? यदि यह मालूम चल जाये कि प्रकृति का द्वार किस तरह खटखटाना चाहिये, उस पर कैसे आघात करना चाहिये, तो प्रकृति अपना सारा रहस्य खोल देती है। उस आघात की शक्ति और तीव्रता एकाग्रता से ही आती है। मानव मन की शक्ति की कोई सीमा नहीं है। वह जितना ही एकाग्र होता है, उसकी उतनी ही शक्ति एक लक्ष्य पर केन्द्रित होती है, यही रहस्य है।

मन को बाहर के किसी विषय या वस्तु पर स्थिर करना अपेक्षाकृत सरल है। मन स्वभावतः बहिर्मुखी है। किन्तु धर्म, मनोविज्ञान या दर्शनशास्त्र के बारे में ऐसा नहीं है। यहाँ तो जानने वाला (ज्ञाता या विषयी) और जानने योग्यवस्तु (ज्ञेय या विषय) दोनों एक ही हैं। यहाँ विषय या ज्ञेय या जानने

योग्य वस्तु या प्रमेय, अन्दर की वस्तु है। यहाँ मन ही प्रमेय या जानने योग्य वस्तु है। मनस्तत्त्व का अन्वेषण करना ही यहाँ प्रयोजन है और मन ही मनस्तत्त्व का अन्वेषण करने वाला या कर्त्ता है। हम जानते हैं कि मन एक ऐसी शक्ति है जिससे वह अपने अन्दर जो कुछ घट रहा है उसे देख सकता है। इस शक्ति को अन्तः पर्यवेक्षण शक्ति कह सकते हैं। मन ही सारी शक्तियों को एकत्र करके उनका प्रयोग मन पर ही करना होगा। तब एकाग्र मन अपने अन्तरतम के सारे रहस्य प्रकाशित कर देगा। तब हम विश्वास की सच्ची नींव पर पहुंचेंगे। तभी हमें धर्म की सच्ची प्राप्ति होगी। तभी आत्मा है या नहीं, जीवन केवल इस सामान्य जीवित काल तक सीमित है अथवा अनन्तकाल व्यापी है और इस संसार में कोई ईश्वर है या नहीं, यह सब हम स्वयं देख सकेंगे। हमारे ज्ञान चक्षुओं के सामने सब कुछ उद्भासित हो उठेगा। राजयोग हमें यही शिक्षा देना चाहता है। राजयोग में जितने उपदेश हैं उन सबका उद्देश्य सर्वप्रथम मन की एकाग्रता का साधन है। इसके बाद है मन के गम्भीरतम (सबसे गहरे) प्रदेश में कितने प्रकार के भिन्न-भिन्न कार्य हो रहे हैं, उनका ज्ञान प्राप्त करना, और इसके बाद उनसे साधारण सत्यों को निकालकर अपने एक सत्य सिद्धान्त पर आना। इसीलिये राजयोग की शिक्षा किसी धर्म विशेष पर आधारित नहीं है। हमारा धर्म चाहे जो भी हो, हम चाहे आस्तिक हों या नास्तिक, इससे कुछ बनता बिगड़ता नहीं, हम मनुष्य हैं, बस यही पर्याप्त है। प्रत्येक मनुष्य में धर्म तत्व का अनुसन्धान करने की शक्ति है। उसमें ऐसी शक्ति भी है कि वह अपने भीतर से ही इन प्रश्नों के उत्तर पा सके। परन्तु इसके लिये कुछ कष्ट उठाना पड़ेगा।

जब तक कोई बात स्वयं प्रत्यक्ष न कर सको, तब तक उस पर विश्वास मत करो। राजयोग यही शिक्षा देता है।

दीर्घकाल तक निरन्तर अभ्यास – राजयोग की साधना में दीर्घकाल तक और निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता है। इस अभ्यास का कुछ अंश शरीर के संयम से सम्बद्ध है, परन्तु अभ्यास का अधिकांश मन के संयम से सम्बद्ध है। अधिकांश लोगों का मन पूरी तरह शरीर के अधीन रहता है। वास्तव में उनके मन की शक्ति बहुत थोड़ी विकसित हुई है। हममें मन के निग्रह (संयम) की शक्ति बहुत कम है। मन पर यह अधिकार पाने के लिये

शरीर और मन पर नियन्त्रण करने के लिये कुछ बहिरंग या शारीरिक साधनाओं की आवश्यकता है। जब शरीर पूरी तरह अधिकार में आ जायेगा तब मन को हिलाने डुलाने का समय आयेगा। इस तरह जब मन बहुत कुछ वश में आ जायेगा, तब हम उससे इच्छानुसार काम ले सकेंगे। उसकी विचार तरंगों या वृत्तियों को एकमुखी होने के लिये बाध्य कर सकेंगे।

राजयोगी के मतानुसार यह सम्पूर्ण बहिर्जगत; अन्तर्जगत् या सूक्ष्म जगत् का स्थूल विकास ही है। सभी स्थूल वस्तुओं में सूक्ष्म को कारण और स्थूल को कार्य समझना होगा। इस नियम से बहिर्जगत् कार्य है और अन्तर्जगत् कारण। इसीलिये स्थूल जगत् की दीखने वाली शक्तियां; आभ्यन्तरिक सूक्ष्म शक्तियों का स्थूल भाग मात्र हैं। जिन्होंने इन सूक्ष्म आभ्यन्तरिक शाक्तियों का पता करके उन्हें चलाना सीख लिया है, वे सम्पूर्ण प्रकृति को वश में कर सकते हैं। सम्पूर्ण जगत् को वश में करना और सम्पूर्ण प्रकृति पर अधिकार पाना - इस महान् कार्य को योगी अपना कर्त्तव्य समझते हैं। वे ऐसी अवस्था में जाना चाहते हैं जहाँ प्रकृति के नियम उन पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकते। जिस अवस्था में वे सब प्राकृतिक नियमों को पार कर जाते हैं तब वे आभ्यन्तरिक और बाह्य सारी प्रकृति पर अधिकार प्राप्त कर लेते हैं। मनुष्य जाति की उन्नति और सभ्यता इस प्रकृति को वश में कर लेने की शक्ति पर ही निर्भर है।

किसी के मत से अन्त:प्रकृति को वश में कर लेने से सब कुछ नियन्त्रण में हो जाता है। दूसरों के मत में बाह्य प्रकृति को वश में करने से सब कुछ वश में आ जाता है। ये दोनों ही सिद्धान्त अपनी - अपनी जगह ठीक हैं, क्योंकि प्रकृति में बाह्य और आभ्यन्तर जैसा कोई भेद नहीं है। यह केवल काल्पनिक विभाग है। बहिर्वादी और अन्तर्वादी जब अपने ज्ञान की चरम सीमा पार कर लेंगे, तब अन्त में उन्हें दार्शनिक होना पड़ेगा। उसी प्रकार दार्शनिक भी देखेंगे कि वे मन और स्थूल भूत के नाम से जो दो भेद कर रहे थे, वह भेद वास्तव में कल्पना मात्र हैं।

जिससे यह बहु उत्पन्न हुआ है, जो एक पदार्थ अनेक रूपों या बहुरूपों में प्रकट हुआ है, उस पदार्थ का निर्णय करना ही समस्त विज्ञान वह मुख्य उद्देश्य और लक्ष्य है।

राजयोगी कहते हैं कि हम पहिले अन्तर्जगत् का ज्ञान प्राप्त करेंगे, फिर

उसी के द्वारा बाह्य और आन्तरिक दोनों ही प्रकार की प्रकृति पर अधिकार कर लेंगे। प्राचीन काल से ही लोग इसके लिये प्रयत्नशील रहे हैं। भारत वर्ष में इस दिशा में विशेष चेष्टा होती रही है। पाश्चात्य देशों में लोग इसको रहस्य या गुप्त विद्या सोचते थे। वहाँ जो लोग इसका अभ्यास करते थे, उनपर अघोरी, डाइन, ऐन्द्रजालिक आदि दोष लगाकर उन्हें जला दिया अथवा मार डाला जाता था।

भारत में अनेक कारणों से यह विद्या ऐसे लोगों के हाथों में चली गई जिन्होंने इसका नब्बे प्रतिशत (90%) अंश नष्ट कर डाला और शेष को गुप्त रखने की चेष्टा की।

इन सारी योग प्रणालियों में जो कुछ गुह्य या रहस्यात्मक है, उसको छोड़ना पड़ेगा। जिससे हमें बल मिलता है उसी का अनुसरण करना चाहिये। रहस्य-स्पृहा मानव मस्तिष्क को दुर्बल बना देती है।

योग एक महाविज्ञान है। भारतवर्ष में यह योग शास्त्र हजारों वर्ष पहले आविष्कृत हुआ था। तब से भारतवर्ष में योगशास्त्र प्रणालीबद्ध होकर वर्णित और प्रकाशित होता रहा है। यह एक आश्चर्य जनक बात है कि योग का व्याख्याकार जितना आधुनिक है, उसका भ्रम भी उतना ही अधिक है और लेखक जितना प्राचीन है उसने उतनी ही अधिक युक्तियुक्त बात कही है।

अन्ध विश्वास करना ठीक नहीं। अपनी विचार शक्ति और युक्ति काम में लानी होगी। यह प्रत्यक्ष करके देखना होगा कि शास्त्र में जो कुछ लिखा है वह सत्य है या नहीं।

सांख्यदर्शन - राजयोग; सांख्य दर्शन पर पूरी तरह आधारित है। सांख्य दर्शन के अनुसार किसी विषय या वस्तु को जानने की प्रणाली इस प्रकार है:
-

सबसे पहले किसी वस्तु (विषय) के साथ आंख आदि किसी बाह्य इन्द्रिय (करण) का संयोग होता है। आंख आदि बाह्य इन्द्रियां उस वस्तु को मस्तिष्क में स्थित अपने केन्द्र के पास भेजती हैं। आंख आदि इन्द्रियों के ये केन्द्र उस वस्तु को मन के पास भेजते हैं और मन उस वस्तु को निश्चय करने वाली बुद्धि के पास ले जाता है, तब पुरुष या आत्मा उस वस्तु को ग्रहण करता है। फिर जिस क्रम से वह वस्तु अन्दर आई थी उसी क्रम से लौट जाने की पुरुष मानो आज्ञा देता है, और इस प्रकार किसी वस्तु का ज्ञान होता है।

पुरुष या आत्मा के सिवाय मन बुद्धि, इन्द्रियां ये सब जड़ हैं। परन्तु आंख आदि बाह्य इन्द्रियों की अपेक्षा मन; सूक्ष्मतर भूत से बना है। मन जिस उपादान (वस्तु या पदार्थ) से बना है, उसी से 'तन्मात्र' नाम के सूक्ष्म भूतों की उत्पत्ति होती है। इन सूक्ष्म भूतों के स्थूल हो जाने पर दिखाई देने वाले महाभूत पृथ्वी, वायु, जल, तेज और आकाश ये पांच महाभूत बनते हैं। यही सांख्य का मनोविज्ञान है। इसलिये बुद्धि और दिखाई देने वाले स्थूल भूत में अन्तर केवल स्थूलता और सूक्ष्मता में हैं। एकमात्र पुरुष या आत्मा ही चेतन है। मन तो मानो आत्मा के हाथ में एक यन्त्र है। मन के द्वारा आत्मा बाहर के विषयों को ग्रहण करता है।

चंचल मन – मन निरन्तर बदलता रहता है, इधर से उधर दौड़ता रहता है। कभी सभी इन्द्रियों से लगा रहता है तो कभी एक से और कभी किसी इन्द्रिय से भी नहीं लगा रहता। मान लो मैं मन लगाकर घड़ी की टिक टिक सुन रहा हूँ, तब आंखें खुली रहने पर भी मैं कुछ देख नहीं पाऊंगा। इससे समझ में आ जाता है कि जब मन कान के साथ लगा था, तब आंख के साथ उसका संयोग नहीं था। परन्तु पूर्णता प्राप्त मन सभी इन्द्रियों के साथ एक ही समय लगाया जा सकता है। मन की अन्तर्दृष्टि की शक्ति है, जिसके बल से मनुष्य अपने अन्तःकरण या हृदय के सबसे गहरे प्रदेश तक नजर डाल सकता है। इस अन्तर्दृष्टि का विकास ही योगी का उद्देश्य है।

मन की समस्त शक्तियों को एकत्र करके और इन शक्तियों को भीतर की ओर मोड़ करके योगी जानना चाहता है कि भीतर क्या हो रहा है? आधुनिक शरीर शास्त्री कहते हैं कि आंख वास्तव में देखने की इन्द्रिय नहीं है। देखने की इन्द्रिय तो मस्तिष्क के अन्दर स्नायु-केन्द्र में है। कान आदि सभी बाह्य इन्द्रियों के बारे में भी ठीक यही बात है। आधुनिक वैज्ञानिकों का यह भी कहना है कि मस्तिष्क जिस पदार्थ से बना है, इन्द्रियों के स्नायु-केन्द्र भी उसी पदार्थ से बने हुए हैं। सांख्य-दर्शन भी ऐसा ही कहता है। अन्तर यही है सांख्य का सिद्धान्त मनस्तत्त्व पर आधारित है और वैज्ञानिकों का भौतिकता पर। किन्तु योगी की खोज का क्षेत्र इन दोनों से परे है। योगी प्रयत्न करता है कि वह अपने को इतना अधिक सूक्ष्म अनुभूति सम्पन्न बना ले, जिसमें वह मन की विभिन्न अवस्थाओं को प्रत्यक्ष कर सके। समस्त मानसिक प्रक्रियाओं का पृथक्-पृथक् मानसिक

प्रत्यक्ष करना आवश्यक है। बाहर के या शरीर के इन्द्रिय गोलकों से विषयों का संयोग या आघात होते ही उससे उत्पन्न हुई संवेदनाएं उस उस इन्द्रिय (करण) की सहायता से किस तरह स्नायु से होती हुई जाती हैं। मन किस प्रकार उन संवेदनाओं को ग्रहण करता है, फिर वे संवेदनाएं किस प्रकार निश्चयात्मिका बुद्धि के पास जाती हैं। तत्पश्चात् बुद्धि उन संवेदनाओं को किस प्रकार आत्मा या पुरुष के पास पहुंचाती है, इन समस्त व्यापारों को अलग-अलग रूप से देखना होगा।

प्रत्येक विषय या विज्ञान की शिक्षा की अपनी-अपनी निर्दिष्ट प्रणाली है। उस विज्ञान को समझने का इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। कोई भी विज्ञान क्यों न हो, उसके लिये पहिले अपने आप को तैयार करना होगा। फिर एक निर्दिष्ट प्रणाली का अनुसरण करना होगा। राजयोग के सम्बन्ध में भी ऐसा ही है।

सात्विक आहार - योग के साधक के लिये भोजन के सम्बन्ध में कुछ नियम आवश्यक हैं। उसे ऐसा भोजन करना चाहिये जिससे उसका मन पवित्र रहे।

भोजन के साथ जीव का क्या सम्बन्ध है, चिड़ियाघर में जाने पर यह समझ में आ जायेगा। हाथी विशालकाय प्राणी है, परन्तु उसका स्वभाव बड़ा शान्त है। दूसरी ओर बाघ और शेर बड़े चंचल हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि भोजन कितना भयानक परिवर्तन कर देता है। हमारे शरीर के अन्दर जितनी शक्तियां काम कर रही हैं, वे भोजन से पैदा हुई हैं। यदि हम उपवास करने लगें तो हमारा शरीर दुर्बल हो जायेगा। शारीरिक शक्तियां घट जायेंगी और कुछ दिन बाद मानसिक शक्तियां भी घटने लगेंगी। इसलिये योग साधना की प्रारम्भिक अवस्था में भोजन के सम्बन्ध में विशेष ध्यान रखना होगा।

योगी को अधिक विलास और कठोर तप दोनों को ही छोड़ देना चाहिये। उपवास करना या शरीर को किसी प्रकार कष्ट देना उचित नहीं। गीता कहती है कि जो अपने को व्यर्थ कष्ट देता है वह कभी योगी नहीं हो सकता। अत्यधिक भोजन करने वाला या उपवास रखने वाला, बहुत जागने वाला या सदा सोते रहने वाला, सदा काम में लगा रहने वाला या सदा आलस्य में पड़ा रहने वाला, इनमें से कोई भी योगी नहीं हो सकता-

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।। गीता 6/16

युक्ताहार विहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।। गीता 6/17

प्राणायाम – राजयोग में प्राणवायु चित्तभूमि में प्रविष्ट होकर हमें आध्यात्मिक राज्य में ले जाती है। प्राण, प्रथम फेफड़ों पर क्रिया करता है, फेफड़े हृदय को प्रभावित करते हैं। हृदय, रक्तप्रवाह को और रक्त प्रवाह मस्तिष्क को तथा मस्तिष्क, मन पर क्रिया करता है। राजयोग के द्वारा ईश्वर को प्राप्त करने की इच्छा करने वाले व्यक्ति को शारीरिक, मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से सबल होना आवश्यक है।

ब्रह्माण्ड में जो ऊर्जा है उसका नाम प्राण है। यह ऊर्जा या प्राण सभी प्राणियों में शक्ति के रूप में निवास करती है। प्राण को प्रयोग करने का उपकरण या साधन मन है। मन; पंच भूतों से बना है। मन से परे आत्मा है, जो प्राण को धारण करता है। प्राण, ब्रह्माण्ड को गतिमान करने की शक्ति है। जीवन की प्रत्येक अभिव्यक्ति में प्राण को देखा जा सकता है। शरीर मरणधर्मी है। मन भी मरणधर्मी है। पांच तत्वों या पंचभूतों से बने होने के कारण शरीर और मन का अन्त अवश्यम्भावी है। इन सबसे परे आत्मा है, जो कभी नहीं मरता। आत्मा, विशुद्ध बुद्धि है, जिससे प्राण नियन्त्रित और परिचालित होता है।

मन अत्यन्त सूक्ष्म भौतिक पदार्थ है। प्राण को अभिव्यक्त करने का उपकरण मन है। शक्ति की अभिव्यक्ति के लिये भौतिक पदार्थ की आवश्यकता होती है। हमारा मन तीन स्तरों पर क्रियाशील है – अवचेतन, चेतन और अतिचेतन। मनुष्यों में केवल योगी ही अतिचेतन अवस्था में रहता है। योग का पूरा सिद्धान्त यह है कि मन से परे कैसे पहुंचा जाय। प्रकाश या ध्वनि के कम्पन पर विचार करने से मन के इन तीनों स्तरों को समझा जा सकता है। प्रकाश में जब अति मन्द कम्पन होते हैं तब वे दिखाई नहीं देते। प्रकाश के इन कम्पनों की तीव्रता बढ़ने पर प्रकाश दिखाई पड़ता है। प्रकाश के कम्पन अत्यन्त तीव्र हो जाने पर हम उन्हें नहीं देख सकते। यही बात ध्वनि के कम्पनों के बारे में भी होती है।

ओजस्

ओजस् उसे कहते हैं, जो एक मनुष्य को दूसरे से भिन्न बनाता है। जिस मनुष्य में विपुल ओजस् होता है वह जननेता होता है। ओजस् प्रबल आकर्षण शक्ति प्रदान करता है। ओजस् का निर्माण नाड़ियों के प्रवाहों से होता है। इसका निर्माण उस शक्ति द्वारा बड़ी सरलता से होता है, जिसकी अभिव्यक्ति यौन शक्ति में होती है। यदि यौन केन्द्रों की शक्तियों का व्यर्थ में ही नाश न हो तो उनको ओज में बदला जा सकता है।

शरीर के दो प्रमुख नाड़ी प्रवाहों का उद्गम मस्तिष्क से होता है। ये दो शक्ति प्रवाह मेरुदण्ड और सुषुम्णा के दोनों ओर से नीचे मूलाधार तक जाते हैं। मस्तिष्क के पिछले भाग में अंग्रेजी के अंक 8 के आकार में एक दूसरे को काटते हुए ये दोनों शक्ति प्रवाह नीचे मूलाधार तक जाते हैं। इस प्रकार शरीर के बायें भाग का नियन्त्रण मस्तिष्क के दायें भाग से होता है। इस शक्ति प्रवाह के सबसे निचले सिरे को यौन केन्द्र या मूलाधार चक्र कहते हैं। ये दोनों शक्ति प्रवाह मूलाधार में एक दूसरे का अतिक्रमण करके मस्तिष्क में लौट आते हैं। इन दोनों में से एक का नाम सूर्य या पिंगला नाड़ी है जो मस्तिष्क के बायें गोलार्द्ध से प्रारम्भ होकर मेरुदण्ड के दायीं ओर मस्तिष्क के आधार सहस्त्रार पर एक दूसरे को लांघ कर पुनः मूलाधार पर अंग्रेजी के 8 अंक के आधे भाग के समान एक दूसरे का फिर अतिक्रमण करती हैं।

दूसरे शक्ति प्रवाह का नाम चन्द्र या इड़ा नाड़ी है। इसकी क्रिया उपर्युक्त क्रम से ठीक विपरीत है अर्थात् यह शक्ति प्रवाह मस्तिष्क के दायें गोलार्द्ध से प्रारम्भ होकर मेरुदण्ड के बायीं ओर से मूलाधार तक जाता है और मूलाधार पर 8 के अंक को पूरा बनाता है। इस शक्ति प्रवाह का निचला भाग ऊपरी भाग से कहीं अधिक लम्बा है। ये शक्ति प्रवाह रात-दिन गतिशील रहते हैं और शरीर के विभिन्न केन्द्रों में जिन्हें योगी 'चक्र' कहते हैं बड़ी-बड़ी जीवनी शक्तियों का संग्रह करते रहते हैं। एकाग्रता द्वारा हम इन शक्तियों का अनुभव कर सकते हैं और शरीर के विभिन्न अंगों में उनका पता लगा सकते हैं। सूर्य और चन्द्र के ये शक्ति प्रवाह श्वास क्रिया के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं और इसी के नियमन द्वारा हम शरीर को नियन्त्रित कर सकते हैं।

कुण्डलिनी – सूर्य और चन्द्र शक्ति प्रवाह शरीर के सभी अंगों में शक्ति का संचार करते हैं। बची हुई अतिरिक्त शक्ति सुषुम्णा के अन्दर विभिन्न चक्रों या स्नायु केन्द्रों में संचित रहती है। योगी इन शक्ति प्रवाहों का अनुभव ही नहीं करते अपितु इन्हें प्रत्यक्ष देखते भी हैं। ये उनके जीवन में ज्योर्तिमय हो उठते हैं।

हमें सूर्य और चन्द्र की गतियों को नये मार्ग से चलाना होगा और सुषुम्णा का मुख खोल कर उन्हें नया रास्ता देना होगा। जब हम इस शक्ति प्रवाह को सुषुम्णा के रास्ते मस्तिष्क तक ले जाने में सफल हो जाते हैं तब हम शरीर से बिल्कुल अलग हो जाते हैं।

मेरुदण्ड की अन्तिम हड्डी त्रिकास्थि (Sacrum) के पास मूलाधार चक्र सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। त्रिकास्थि; मूलाधार चक्र के ऊपर है और इसे त्रिकोण या त्रिभुज भी कहते हैं। यह स्थल काम-शक्ति के प्रजनन तत्त्व का निवास है। योगी इस शक्ति को इस त्रिकोण के अन्दर छोटे से कुण्डलीकृत सर्प के प्रतीक के रूप में मानते हैं। कुण्डली मार कर सोये पड़े इस सर्प को योगी कुण्डलिनी कहते हैं। इसी कुण्डलिनी को जाग्रत करना राजयोग का प्रमुख उद्देश्य है।

चेतना और अवचेतना इन्हीं दो नाड़ियों के माध्यम से कार्य करती हैं। लेकिन जब अतिचेतना इस मार्ग के निचले छोर में पहुंच जाती है तो शक्ति प्रवाह या नाड़ी प्रवाह को ऊपर जाने का मार्ग पूरा न करने देकर इस प्रवाह को रोक देती है तथा मूलाधार से ओजस् के रूप में सुषुम्णा के मार्ग से ऊपर जाने के लिये विवश करती है।

सुषुम्णा का मुख या द्वार स्वभावतः बन्द रहता है। लेकिन इस ओजस् का मार्ग बनाने के लिये उसे खोला जा सकता है। ज्यों-ज्यों यह शक्ति प्रवाह सुषुम्णा के मार्ग से एक चक्र से दूसरे चक्र में पहुंचता है त्यों-त्यों हम सत्ता की एक भूमिका से दूसरी भूमिका की यात्रा कर सकते हैं। यही कारण है कि मनुष्य शरीर अन्य सब शरीरों में श्रेष्ठ है, क्योंकि मानव शरीर में ही जीवात्मा के लिये सभी भूमिकाएं और अनुभव सम्भव हैं। हमें दूसरे शरीर की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यदि मनुष्य चाहे तो अपने शरीर में अपनी तैयारी समाप्त करने के बाद निर्मल आत्मा बन सकता है।

जब ओजस् सभी चक्रों को पार करता हुआ सहस्त्रार में पहुंच जाता है तब मनुष्य न तो शरीर रह जाता है न मन। वह सभी बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

मूलाधार चक्र के त्रिकोण में संचित बलवती कामशक्ति को पशुसुलभ क्रिया से उन्नत कर मनुष्य शरीर के शक्ति स्त्रोत मस्तिष्क में पहुंचा कर वहाँ संचित करने पर वह काम शक्ति ओजस् अर्थात् महती आध्यात्मिक शक्ति बन जाती है। समस्त सत् चिन्तन, समस्त प्रार्थनाएं इस पशुसुलभ काम शक्ति के एक अंश को ओजस् में बदलने में सहायता करती हैं और हमें आध्यात्मिक शक्ति प्रदान करती हैं। यह ओजस् ही मनुष्य का सच्चा मनुष्यत्व है और केवल मनुष्य शरीर में ही इसका संग्रह सम्भव है। जिसकी समस्त पशुसुलभ काम शक्ति ओजस् में बदल गई वही देवता है। उसकी वाणी में शक्ति होती है और उसके वचन ज़गत् को पुनरुज्जीवित करते हैं।

कुण्डलिनी जागरण का अभ्यास – योगी मन ही मन कल्पना करता है कि यह कुण्डलिनी धीरे-धीरे उठ कर सर्वोच्च स्तर अर्थात् सहस्त्रार में पहुंच रही है। मनुष्य जब तक अपनी सर्वोच्च शक्ति काम शक्ति को ओजस् में परिणत नहीं कर लेता तब तक वह वास्तविक रूप में आध्यात्मिक नहीं हो सकता।

कोई शक्ति उत्पन्न नहीं की जा सकती। शक्ति को केवल एक दिशा में परिचालित किया जा सकता है। अतः हमें अपनी महती शक्तियों को अपने व़श में करना सीखना चाहिये। हमें पशु की तरह इन शक्तियों को रखने की बजाय इन्हें आध्यात्मिक बना देना चाहिये। अतः स्पष्ट है कि पवित्रता ही समस्त धर्म और नैतिकता की आधारशिला है। विशेषतः राजयोग में मन, वचन और कर्म की पवित्रता परमावश्यक है। देह के इस सार अंश को व्यर्थ नष्ट कर देने पर आध्यात्मिकता की प्राप्ति सम्भव नहीं है।

प्राणायाम शुरू करने से पहले इस त्रिकोण मण्डल को ध्यान से देखने की चेष्टा करो। आंखें बन्द करके इसके चित्र की मन ही मन स्पष्ट कल्पना करो। सोचो कि इसके चारों ओर अग्निशिखा है और उसके बीच में कुण्डलिनी स़ोई पड़ी है।

जब कुण्डलिनी स्पष्ट रूप से दीखने लगे तब अपनी कल्पना में इसे मूलाधार चक्र में स्थित करो और कुम्भक प्राणायाम में श्वास रोक कर कुण्डलिनी

को जगाने के लिये श्वास के द्वारा उसके मस्तक पर आघात करो। कुम्भक के समय 'हुम्' मन्त्र का जप करना चाहिये। रुके हुए श्वास को तेजी के साथ कुण्डलिनी के सिर के ऊपर प्रत्येक 'हुम्' जपने के साथ निक्षिप्त करो और कल्पना करो कि ऐसा करने से वह जाग रही है। जितनी ही शक्तिशाली कल्पना होगी उतनी ही शीघ्रता से वास्तविक फल की प्राप्ति होगी और कुण्डलिनी जाग्रत हो जायेगी। जब तक कुण्डलिनी जाग्रत नहीं हुई है तब तक यही सोचो कि वह जाग्रत हो गई है तथा शक्ति प्रवाहों को अनुभव करने का प्रयत्न करो और इन शक्ति प्रवाहों को सुषुम्णा पथ में परिचालित करने का प्रयत्न करो। इससे इनकी क्रिया में शीघ्रता आती है।

सुषुम्णा का ध्यान करना अत्यन्त लाभदायक है। तुम इसका चित्र अपने भाव चक्षुओं के सामने लाओ। यह सर्वोत्तम विधि है। फिर देर तक उसका ध्यान करो। सुषुम्णा एक सूक्ष्म, समुज्ज्वल सूत्र है। मेरुदण्ड का यह प्राणवन्त मार्ग जिसके द्वारा हम कुण्डलिनी जाग्रत कर सकते हैं, मुक्ति का द्वार है।

षट्चक्र – योगियों की भाषा में सुषुम्णा के दोनों सिरों पर दो कमल हैं। नीचे वाला कमल कुण्डलिनी के त्रिकोण को ढके हुए है और ऊपर वाला कमल ब्रह्मरन्ध्र पर सहस्रार को ढके हुए है। इन दोनों के बीच में और भी चार कमल हैं, जो इस मार्ग के विभिन्न सोपान हैं। कुल मिलाकर इन छह कमलों को षट् चक्र कहते हैं। हमारे शरीर में इन षट् चक्रों की स्थिति इस क्रम से है–

प्रथम चक्र	मूलाधार चक्र	मेरुदण्ड के नीचे।
द्वितीय चक्र	मणिपूर चक्र	नाभिदेश में।
तृतीय चक्र	अनाहत चक्र	हृदय के पास।
चतुर्थ चक्र	विशुद्ध चक्र	कण्ठ के नीचे।
पञ्चम चक्र	आज्ञा चक्र	नेत्रों के मध्य में।
षष्ठ चक्र	सहस्रार	मस्तिष्क के ऊपर।

सबसे पहिले कुण्डलिनी को जगाना चाहिये। उसे एक कमल से दूसरे कमल की ओर ऊपर उठाते हुए अन्त में मस्तिष्क में पहुंचाना चाहिये। प्रत्येक सोपान मन का एक नया स्तर है।

मन का संयम

मन को वश में करने की शक्ति प्राप्त करने से पहिले हमें मन का भली

भांति अध्ययन करना चाहिये। चंचल मन को संयत करके उसको सांसारिक विषयों से हटाना होगा और उसे एक विचार पर केन्द्रित करना होगा। इस क्रिया को बार-बार करना आवश्यक है। इच्छाशक्ति द्वारा मन को वश में करके, उसकी क्रिया रोक कर ईश्वर की महिमा का चिन्तन करना चाहिये।

मन को स्थिर करने का सबसे सरल उपाय है - चुपचाप बैठ जाना और मन को कुछ क्षणों के लिये जहाँ जाय वहाँ जाने देना इस भाव का दृढ़तापूर्वक चिन्तन करना चाहिये कि

"मैं मन को विचरण करते हुए देखने वाला अर्थात् साक्षी हूँ। मैं मन नहीं हूँ।"

फिर ऐसी कल्पना करनी चाहिये कि मन मुझसे बिल्कुल भिन्न है। अपने को ईश्वर से अभिन्न मानो। मन अथवा जड़ पदार्थ के साथ अपने को एक करके कदापि न सोचो।

सोचो कि मन हमारे सामने विस्तृत तरंग रहित शान्त सरोवर है और आने जाने वाले विचार इसके तल पर उठने वाले बुलबुले हैं। विचारों को रोकने का प्रयत्न मत करो। वरन् उनको देखो और जैसे-जैसे वे विचरण करते हैं, वैसे-वैसे ही तुम भी उनके पीछे चलो। यह क्रिया मन के वृत्तों को धीरे-धीरे सीमित कर देगी। कारण यह है कि मन, विचार की विस्तृत परिधि में घूमता है और ये परिधियां विस्तृत होकर निरन्तर बढ़ने वाले वृत्तों में फलती रहती हैं। ठीक वैसे ही जैसे किसी सरोवर में ढेला फेंकने पर होता है। हम इस क्रिया को उलट देना चाहते हैं और बड़े वृत्तों से प्रारम्भ कर उन्हें छोटा बनाते चलते हैं। यहाँ तक कि अन्त में हम मन को एक बिन्दु पर स्थिर करके उसे वहीं रोक सकें।

इस भाव का दृढ़तापूर्वक चिन्तन करो कि **"मैं मन नहीं हूँ। मैं देखता हूँ कि मैं सोच रहा हूँ। मैं अपने मन को तथा अपनी क्रिया को देख रहा हूँ।"** इस प्रकार मन और भावना से अपने को एक समझने का भाव प्रतिदिन कम होता जायेगा। यहाँ तक कि अन्त में तुम अपने को मन से बिल्कुल अलग कर सकोगे और वास्तव में मन को अपने से भिन्न जान सकोगे।

इन्द्रियों से परे जाना योगी की प्रथम स्थिति है। जब वह मन पर विजय प्राप्त कर लेता है तब सर्वोच्च स्थिति प्राप्त कर लेता है।

जितना सम्भव हो एकान्त सेवन करो।

विचार एक प्रकार के चित्र हैं अतः हमें उनकी रचना नहीं करनी चाहिये। हमें अपने मन से सारे विचार हटा कर उसे खाली कर देना चाहिये। जितनी शीघ्रता से विचार आयें उतनी ही शीघ्रता से उन्हें दूर भगा देना चाहिये। इसे कार्य रूप में बदलने के लिये हमें जड़ तत्व और देह के परे जाना अत्यन्त आवश्यक है।

हमारा उच्चतम आदर्श ईश्वर है। उसका चिन्तन करो। यही नहीं कि हम ज्ञाता को जान सकते हैं अपितु हम तो वही हैं।

यदि हम कल्पना का सदुपयोग करें तो वह हमारी परम हितैष्णिणी है। कल्पना, युक्ति से परे जा सकती है और वही ऐसी ज्योति है जो हमें सर्वत्र ले जा सकती है।

अन्तः स्फुरण प्रदान करने वाली शक्ति हमारे अन्दर है। हमें अपने को अपनी उच्च मनः शक्तियों से प्रेरित करना होगा।

अपने को ईश्वर से अभिन्न समझो। कुछ समय बाद विचार अपने आने की घोषणा करेंगे। विचार कैसे प्रारम्भ होते हैं, इस बात का हमें ज्ञान होगा और हम जो कुछ भी सोचने जा रहे हैं, उसके प्रति हम सचेत हो जायेंगे। इस स्तर पर ठीक वैसा ही अनुभव होगा जैसा कि हम किसी आदमी को प्रत्यक्ष देख रहे हैं। हम इस सीढ़ी तक तभी पहुंच सकते हैं जब हमने अपने को अपने मन से अलग करना सीख लिया है और हम अपने को अलग और मन को अलग वस्तु के रूप में देखते हैं। विचार तुम्हें पकड़ने न पायें। हटकर खड़े हो जाओ। विचार स्वयं शान्त हो जायेंगे।

पवित्र विचारों का अनुसरण करो। उनके साथ चलो और जब वे अन्तर्हित हो जायेंगे तब तुम्हें सर्वशक्तिमान भगवान के चरणों के दर्शन होंगे। यह स्थिति ज्ञानातीत या अतिचेतन अवस्था है। जब विचार विलीन हो जायें तब उसी स्थिति का अनुसरण करो और उसी में तन्मय हो जाओ।

प्रभामण्डल (Halos) अन्तर्ज्योति के प्रतीक हैं और योगी उनका दर्शन कर सकते हैं। कभी कभी हम ऐसा मुख देखते हैं जो मानो किसी ज्योति से मण्डित है, जिसमें हम उसके चरित्र की झलक पा सकते हैं और उसके बारे

में किसी अचूक निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं। हम अपने इष्ट का आगमन दिव्य दर्शन के रूप में देख सकते हैं और इस प्रतीक को आलम्बन बना कर सरलता के साथ अपने मन को पूर्णरूपेण एकाग्र कर सकते हैं।

यद्यपि हम सभी इन्द्रियों की सहायता से कल्पना कर सकते हैं, तथापि हम अधिकतर आंखों से सहायता लेते हैं। यहाँ तक कल्पना अर्ध जड़ है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि हम बिना चित्र के चिन्तन नहीं कर सकते। योग में कल्पना को बनी रहने दो, पर ध्यान रखो कि वह शुद्ध और पवित्र रहे। कल्पना शक्ति की प्रक्रिया हम सब की अलग-अलग विशिष्टताएं हैं। जो मार्ग तुम्हारे लिये सबसे अधिक स्वाभाविक हो, उसी का अनुसरण करो। यही सरलतम मार्ग होगा।

सदा प्रसन्न रहो। वीर बनो। नित्य स्नान करो और धैर्य, लगन तथा पवित्रता बनाये रखो। तभी तुम वास्तव में योगी बनोगे। शीघ्रता कदापि करो। यदि उच्च शक्तियां अवतरित होती हैं तो याद रखो कि वे तुम्हारे मार्ग से अलग पगदण्डियां हैं। वे तुम्हें मुख्य पथ से भ्रष्ट न कर पायें। उन्हें सर्वथा छोड़ दो और अपने एकमात्र लक्ष्य पर अटल रहो - ईश्वर। केवल अनन्त की चाह करो, जिसे पाकर हमें अनन्त शान्ति प्राप्त होगी।

पूर्ण को प्राप्त करने की चाह करो। फिर प्राप्त करने के लिये कुछ भी शेष नहीं रह जाता। हम सदा के लिये पूर्णता का लाभ प्राप्त कर लेते हैं -

पूर्ण सत्, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण आनन्द।

1

गोरक्षपद्धतिः
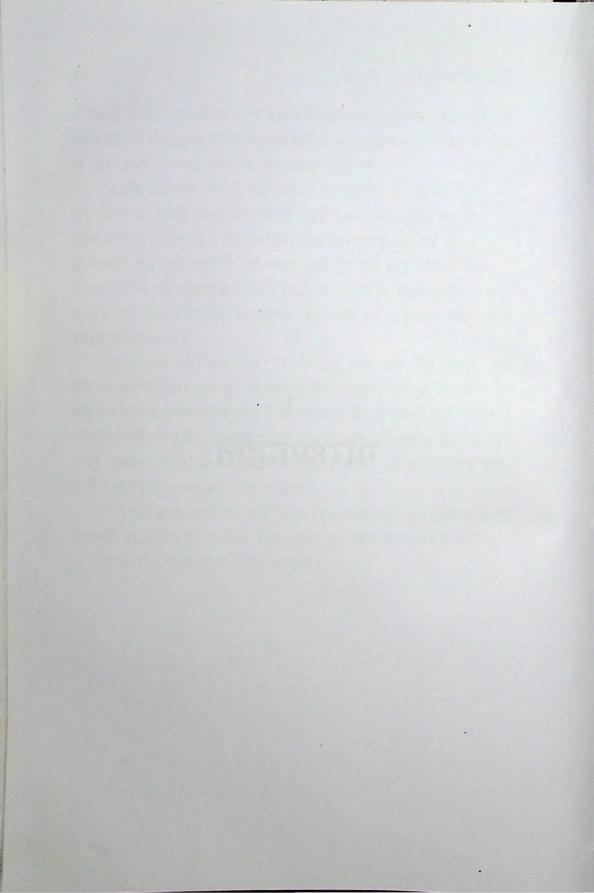
ओ३म्

गोरक्षपद्धतिः

प्रथमम् शतकम्

श्री गुरुं परमानन्दं वन्दे स्वानन्दविग्रहम्।
यस्य सान्निध्यमात्रेण चिदानन्दायते तनुः।। 1।।

मैं परम आनन्द स्वरूप गुरुरूप परमात्मा को प्रणाम करता हूँ। परमात्मा स्वयं आनन्दस्वरूप हैं। उनके समीप चले जाने से ही हमारा शरीर भी ज्ञान और आनन्द से परिपूर्ण हो जाता है।

नमस्कृत्य गुरुं भक्त्या गोरक्षो ज्ञानमुत्तमम्।
अभीष्टं योगिनां ब्रूते परमानन्दकारकम्।। 2।।

मैं गोरक्षनाथ अपने गुरु को भक्तिभाव के साथ प्रणाम करके ऐसा उत्तम ज्ञान बताता हूँ जो अत्यधिक आनन्द देने वाला है और जिसे योगी जानना चाहते हैं।

गोरक्षसंहितां वक्ति योगिनां हितकाम्यया।
ध्रुवं यस्यावबोधेन जायते परमं पदम्।। 3।।

योगियों की भलाई के लिये गोरक्षनाथ योगी गोरक्षसंहिता का उपदेश करते हैं। इस योगविद्या को भलीभांति समझ लेने से मनुष्य परम पद को अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

एतद्विमुक्तिसोपानमेतत्कालस्य वञ्चनम्।
यद्व्यावृत्तं मनो भोगादासक्तं परमात्मनि।। 4।।

योगाभ्यास से मनुष्य मोक्ष के मार्ग पर चलने लगता है। योगाभ्यास से मनुष्य का शरीर स्वस्थ हो जाने से शरीर में बुढ़ापा नहीं आता और योगी की आयु बढ़ जाती है। योगाभ्यास से मन; सांसारिक विषय-भोगों से हटकर परमात्मा का चिन्तन करने लगता है।

द्विजसेवितशाखस्य श्रुतिकल्पतरोःफलम्।
शमनं भवतापस्य योगं भजत सत्तमाः।। 5।।

वेद जैसे कल्पवृक्ष की शाखाओं पर पक्षियों की तरह ब्राह्मण और मुनि बैठे हुए हैं। अर्थात् ब्राह्मण और मुनि वेद का स्वाध्याय कर रहे हैं। वेदरूपी कल्पवृक्ष का फल योगशास्त्र है। योगाभ्यास करने से मनुष्य संसार के दुखों से सदा के लिये अपना पीछा छुड़ा लेता है इसलिये सज्जनों को योगाभ्यास अवश्य करना चाहिये।

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि वदन्ति षट्।। 6।।

आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये छह योग के अंग हैं।

आसन

आसनानि च तावन्ति यावन्तो जीवजन्तवः।
एतेषामखिलान् भेदान् विजानाति महेश्वरः।। 7।।

इस जगत् में जितने भी जीव-जन्तु हैं उतने ही आसन भी हैं। इन सारे आसनों के भेद शिव ही जानते हैं। शास्त्रों के अनुसार इस संसार में मनुष्य पशु-पक्षी, कीट-पतंग और वृक्ष-वनस्पतियों सहित चौरासी (84) लाख योनियां हैं। इन योनियों के जैसे -जैसे शरीर हैं उन्हीं को देखकर योग के आसन निर्धारित किये गये हैं किन्तु कोई भी साधक पूरे आसन नहीं करता क्योंकि सारे आसन करने में बहुत समय लग जाता है। इसलिये प्रत्येक योगाभ्यासी को अपने शरीर की आवश्कता के अनुसार अपने लिये उपयोगी

आसनों का अभ्यास नियमित रूप से करना लाभदायक होता है। किसी भी व्यक्ति को ऐसा कोई आसन करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये जिससे उसके शरीर को हानि पहुंचने की आशंका हो। किसी रोग के कारण भी कुछ आसन नहीं करने चाहियें।

चतुरशीति लक्षणामेकैकं समुदाहृतम्।
ततः शिवेन पीठानां षोडशोनं शतं कृतम्।। 8।।

शिव जी ने इन चौरासी लाख आसनों में से प्रत्येक आसन की विधि बताई, किन्तु प्राणियों की चौरासी लाख योनियों में से प्रत्येक प्राणी के शरीर के अनुसार ये सारे आसन जान लेना कठिन है इसलिये शिवजी ने योगाभ्यास के लिये चौरासी आसन ही बताये।

आसनेभ्यः समस्तेभ्यो द्वयमेतदुदाहृतम्।
एकं सिद्धासनं प्रोक्तं द्वितीयं कमलासनम्।। 9।।

इन सारे 84 आसनों में से भी दो आसन ही सबसे अच्छे हैं – सिद्धासन और पद्मासन।

सिद्धासन

योनिस्थानकमंघ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसेत्-
मेढ्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा हनुं सुस्थिरम्।
स्थाणुः संयमितेन्द्रियोऽचलदृशा पश्येद् भ्रुवोरन्तरम्-
ह्येतन्मोक्षकपाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते।। 10।।

गुदा और लिङ्ग के बीच का वह स्थान जहाँ सीवनी होती है उसे योनि या योनिस्थान कहते हैं। मनुष्य के शरीर में यह स्थान मूलाधार चक्र और स्वाधिष्ठान चक्र इन दो चक्रों के बीच में होता है। यहाँ पर बांये पैर की एड़ी लगाकर सारे शरीर का भार डालने से योनि पर दबाव पड़ने लगता है और एड़ी इधर-उधर हिलने नहीं पाती। इसके बाद दांये पैर की एड़ी को पेडू के पास लिंग की जड़ (मूल) पर रखा जाता है। इस तरह दोनों पैरों की एड़ियां एक दूसरी के नीचे

ऊपर आ जाती हैं। दोनों पैरों के अंगूठे और पंजे जांघ और पिण्डली के बीच में फंस जाते हैं। दांये पैर का अंगूठा तथा पंजा नीचे रखे हुए बांये पैर की जांघ और पिण्डली के बीच में और बांये पैर का अंगूठा तथा पंजा दांये पैर की जांघ और पिण्डली के बीच में आ जाता है।

आसन की यह स्थिति लगने के बाद ठोडी को हृदय से ऊपर कण्ठकूप में लगाना चाहिये। गर्दन या ठोडी को आगे-पीछे या ऊपर नीचे नहीं हिलाना चाहिये। मन को सभी इन्द्रियों से हटाकर एकाग्र करना चाहिये और शरीर को पूरी तरह स्थिर (निश्चल) रखकर दोनों नेत्रों के पलकों को झपके बिना भौंहों के बीच में देखते रहना चाहिये। सिद्धासन का अभ्यास करने से मोक्ष का दरवाजा खुल जाता है।

मूलाधार चक्र और स्वाधिष्ठान चक्र के बीच अर्थात् गुदा और लिंग के बीच जो योनि स्थान है और जहाँ सीवनी है वहाँ पर सोये हुए सांप की तरह कुण्डलिनी शक्ति साढ़े तीन कुण्डलियां (लपेट) मारकर सोई रहती है। कुण्डलिनी ने सुषुम्ना नाड़ी का मुख रोक रखा है। शक्तिचालन मुद्रा से कुण्डलिनी को जगाकर इसे सुषुम्ना के रास्ते ब्रह्मरन्ध्र में पहुंचाना होता है। सहस्रदल कमल या ब्रह्मरन्ध्र में कुण्डलिनी शक्ति के पहुंचने पर योगी के लिये मुक्ति का मार्ग खुल जाता है। कुण्डलिनी को जगाने, मन एकाग्र करने और प्राणायाम तथा जप का अभ्यास करने के लिये सिद्धासन बहुत उपयोगी है। सिद्धासन लगाने पर योनिस्थान पर सारे शरीर का भार पड़ने लगता है। शरीर के इस दबाव के कारण गुदा और लिंग के आसपास होने वाला रक्त का प्रवाह रुक जाता है और योनि स्थान सुन्न हो जाता है। इससे घबराना नहीं चाहिये और सिद्धासन में बैठे रहने का अभ्यास धीरे-धीरे बढ़ाते रहना चाहिये।

सिद्धासन वीर्य रक्षा के लिये भी उपयोगी है। इस आसन के बारे में कुछ लोगों का कहना है कि इसके अभ्यास से गृहस्थियों को हानि पहुंचती है लेकिन यह विचार गलत है और भ्रम के कारण है।

सुषुम्ना नाड़ी - हृदय से मस्तिष्क को जाने वाली सूक्ष्म ज्ञानधारा सुषुम्ना है। सुषुम्ना को स्थूल शरीर में नहीं देखा जा सकता है।

तत्र श्वेतः सुषुम्ना ब्रह्मयानः।

नाक के दांये और बायें स्वरों में क्रमशः पिंगला और इडा नाड़ियां हैं। दायें स्वर को सूर्य स्वर और बायें स्वर को चन्द्र स्वर भी कहते हैं। इडा और पिंगला के बीच सूक्ष्म नाड़ी सुषुम्ना है। सुषुम्ना, मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र तक गई है। इडा और पिंगला नाडियां सुषुम्ना को लपेटे हुए चलती हैं। इन दोनों नाड़ियों की वक्रगति से षट्चक्रों में पांच-चक्र बनते हैं, जिन्हें पंचचक्र कहते हैं। इडा नाड़ी को अमृतविग्रहा और पिंगला को रौद्रात्मिका कहते हैं। ये दोनों नाड़ियां काल-स्वरूप दिखाती हैं। जब ये दोनों नाड़ियां समान गति से चलती हैं तब सुषुम्ना नाड़ी में उनका लय हो जाता है। सामान्य अवस्था में मानव देह की नाक के दोनों स्वरों में से एक ही स्वर से श्वास-प्रश्वास होता है। दो घण्टे चौबीस मिनट बाद श्वास-प्रश्वास दूसरे स्वर से होने लगता है। किन्तु दोनों स्वरों के एक साथ चलने पर प्राण सुषुम्ना में चलने लगता है। इस स्थिति में कुण्डलिनी शक्ति सुषुम्ना में प्रवेश करती है। सुषुम्ना में कुण्डलिनी के प्रविष्ट हो जाने पर योगी सिद्ध हो जाता है। सुषुम्ना के मार्ग से प्राण त्यागने वाले योगी का पुनर्जन्म नहीं होता। सुषुम्ना में अपने प्राण प्रविष्ट करके योगी अपने महाप्रयाण का समय भी बदल देते हैं। इसीलिये सुषुम्ना नाड़ी को कालभक्षक या कालरोधक भी कहते हैं। सुषुम्ना के मार्ग से सहस्रार में प्रवेश करके कुण्डलिनी शान्त हो जाती है। इस शान्त अवस्था को समाधि अवस्था कहा जाता है। समाधिस्थ योगी का शरीर विकार रहित हो जाता है अर्थात् उसके शरीर का घटना, बढ़ना और नष्ट होना (**वर्धते, विपरिणमते, नश्यति**) इन तीनों विकारों से रहित हो जाता है। तब योगी के नाखून और बाल आदि नहीं बढ़ते। प्राणक्रिया बन्द होने से नाड़ी का चलना और हृदय की धड़कन बन्द हो जाती है। इसीलिये ऐसे योगी को कालभक्षक या कालान्तक योगी कहते हैं।

ब्रह्मनाड़ी, शून्यपदवी, ब्रह्मरन्ध्र, महापथ, श्मशान, शाम्भवी, मध्यमार्ग ये सभी शब्द सुषुम्ना के पर्यायवाची हैं। हठ० प्र० 3/4-5।

बद्ध पद्मासन - वामोरुपरि दक्षिणं च चरणं संस्थाप्यवामं तथा

दक्षोरुपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम्।

अङ्गुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकयेदे-
तद्व्याधिविकारनाशनकरं पद्मासनं प्रोच्यते।। 11।।

आसन पर बैठकर बांयी जांघ के ऊपर दायां पैर रखना चाहिये। फिर बायां पैर दायीं जांघ के ऊपर रखना चाहिये। अब दायें हाथ को पीठ के पीछे ले जाकर बांयी जांघ पर रखे हुए दायें पैर का अंगूठा पकड़ना चाहिये। इसी तरह बायें हाथ से बायें पैर का अंगूठा पकड़ना चाहिये। ठोडी कण्ठकूप से सटाकर अपनी नाक के अगले छोर पर देखते रहना चाहिये। यह बद्ध पद्मासन रोगों के विकार नष्ट कर देता है।

सिद्धासन और पद्मासन दोनों ही बैठकर किये जाते हैं। बद्ध पद्मासन का अभ्यास वे स्त्री-पुरुष नहीं कर सकते जिनकी कमर और पेट का भाग भारी होता है। इसलिये शुरू में पद्मासन में बैठने का अभ्यास ही करना चाहिये। पद्मासन और सिद्धासन में बैठते समय कमर सीधी रहनी चाहिये। रीढ़ की हड्डी भी सीधी रखनी चाहिये। अधिकांश व्यक्ति उठते-बैठते और चलते-फिरते समय रीढ़ की हड्डी सीधी रखने पर ध्यान नहीं देते। इस कारण रीढ़ की हड्डी के निचले भाग पर धड़ का दबाव पड़ता रहता है और आयु बढ़ने पर कमर दर्द रहने लगता है। पद्मासन में देर तक बैठने का अभ्यास करने से कमर दर्द, गर्दन और कन्धों का दर्द तथा कन्धों के अकड़ जाने की शिकायत पैदा नहीं होगी और यदि गर्दन, कन्धों तथा कमर में कहीं दर्द आदि है वह भी दूर होने लगेगा। पद्मासन में देर तक बैठने पर कई बार दोनों टांगों के बीच दर्द होने लगता है क्योंकि ऊपर रखी हुई टांग से निचली टांग पर लगातार दबाव पड़ता रहता है। यह असुविधा दूर करने के लिये रुमाल की पतली तह बनाकर इस रुमाल को दोनों टांगों के बीच उस जगह रखना चाहिये जहाँ दर्द होने लगा है। ऐसा करने से पद्मासन में देर तक बैठे रहना सरल हो जायेगा। शुरू में पद्मासन में बैठने पर कुछ देर बाद एक पैर सुन्न होने लगता है क्योंकि पैर मुड़े रहने से और उस पर दबाव पड़ने से रक्त संचार कम हो जाता है। जब पैर सुन्न हो तो आसन बदल कर नीचे वाला पैर ऊपर और ऊपर वाला पैर नीचे रख लेना चाहिये। कमर सीधी रखने का अभ्यास करने से फेफड़े भी खुले रहते हैं और उनमें अधिक प्राणवायु भरने लगती है।

हठयोग प्रदीपिका के प्रथम उपदेश का 44वां श्लोक भी गोरक्षनाथ के उपरोक्त श्लोक से बिल्कुल मिलता है। हठयोग प्रदीपिका के प्रथम उपदेश में साधारण पद्मासन का वर्णन इन तीन श्लोकों में इस प्रकार है -

पद्मासन - उत्तानौ चरणौ कृत्वा उरुसंस्थौ प्रयत्नतः।

उरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी कृत्वा ततो दृशौ।। ह० प्र० 45

नासाग्रे विन्यसेद् राजदन्तमूले तु जिह्वया-
उत्तंभ्य चिबुकं वक्षस्युत्थाप्य पवनं शनैः।। 46

इदं पद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधिविनाशनम्।
दुर्लभं येन केनापि धीमता लभ्यते बुधैः।। 47

पिछले श्लोक में बतायी गई विधि के अनुसार दांया और बांया पैर बांयी और दांयी जांघ पर रखना चाहिये। दोनों हथेलियां एक दूसरी के ऊपर-नीचे रखकर नाभि के पास रहनी चाहियें। इधर-उधर न देखकर नाक के अगले भाग पर देखते रहना चाहिये और जीभ बीच के दोनों दांतों से सटी रहनी चाहिये। ठोडी कण्ठकूप में लगानी चाहिये और मूल बन्ध लगाना चाहिये। इस तरीके से पद्मासन लगाकर देर तक बैठे रहने से शरीर के सारे रोग नष्ट हो जाते हैं। पद्मासन में बैठने का तरीका, सभी लोग नहीं जानते किन्तु बुद्धिमान लोग, योगियों और विद्वानों से जान लेते हैं।

श्लोक में जीभ को अगले दांतों से सटाये रखने का उल्लेख है। यह नियम सदा ध्यान में रखना चाहिये कि कोई भी आसन करते समय या ध्यान में बैठते समय जीभ इधर-उधर हिलती न रहे। इसीलिए यहाँ जीभ को अगले दांतों से सटाये रखने को कहा गया है। ध्यान में बैठने पर भी जीभ दांतों से, या तालु से सटी रहनी चाहिये। जीभ के इधर-उधर न हिलने से ध्यान लगाने में आसानी हो जाती है।

श्लोक में मूल बन्ध लगाने को भी कहा गया है। मूल बन्ध, गुदा सिकोड़कर और गुदा को ऊपर उठाकर लगाया जाता है। मूलबन्ध लगाने से आंतों पर, रीढ़ की हड्डी पर और सारे धड़ पर जोर पड़ता है और इन सभी

स्थानों पर रक्त-प्रवाह बढ़ जाता है। जिसके कारण ये सभी अंग स्वस्थ होने लगते हैं। प्राणायाम का अभ्यास करते समय मूलबन्ध लगाना होता है। पद्मासन में बैठकर मूलबन्ध लगाना भी अच्छा है किन्तु शुरू में पद्मासन के साथ मूलबन्ध लगाने में कठिनाई होती है इसलिये पद्मासन का अभ्यास हो जाने पर थोड़ी-थोड़ी देर के लिये अपनी सामर्थ्य और शक्ति के अनुसार मूलबन्ध लगाने का अभ्यास करना चाहिये।

षट्चक्र वर्णन

षट्चक्रं षोडशाधारं द्विलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्ध्यन्ति योगिनः।। 12।।

जो मनुष्य अपने शरीर में छह चक्रों, मन लगाने के सोलह स्थानों और दो लक्ष्यों तथा पांच आकाशों को नहीं जानते वे सिद्ध योगी कैसे बन सकते हैं।

षट् चक्र - शरीर में चेतना के अनेक केन्द्र हैं जिन्हें योग में चक्र या पद्म कहा जाता है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञाचक्र ये छह चक्र हैं।

मूलाधार चक्र - रीढ़ की हड्डी के अन्तिम और निचले छोर पर है जो त्रिक का केन्द्र स्थान है। मूलाधार चक्र, गुदामूल से दो अंगुलि ऊपर और मेढ्र अर्थात् उपस्थ मूल से दो अंगुलि नीचे होता है। इसकी आकृति लाल रंग के प्रकाश से उज्ज्वल चार पंखुड़ी (दल) वाले कमल जैसी है। इन दलों पर वं, शं, षं, और सं ये चार अक्षर हैं। यह चक्र पृथ्वी तत्व का मुख्य स्थान है। पृथ्वी तत्त्व का स्थान होने के कारण इसका गुण गन्ध है। यह चक्र नीचे की ओर चलने वाले अपान वायु का मुख्य स्थान है। गन्ध-तन्मात्रा से उत्पन्न होने वाली सूंघने की शक्ति नासिका ज्ञानेन्द्रिय का भी स्थान है। मूलाधार चक्र पृथ्वी तत्व से उत्पन्न होने वाली मल-त्याग की शक्ति गुदा कर्मेन्द्रिय का भी स्थान है। इस चक्र का लोक पृथ्वी (भू) है। मूलाधार चक्र पर ध्यान करने से साधक नीरोग और आनन्दित रहता है। वह प्रबन्ध करने में और बोलने तथा काव्य आदि साहित्यिक कार्य करने में कुशल हो जाता है। इस चक्र के नीचे त्रिकोण यन्त्र जैसा सूक्ष्म योनिमण्डल है जिसके मध्य के कोण से सुषुम्णा (सरस्वती)

नाड़ी, दक्षिण कोण से पिंगला (यमुना) नाड़ी और बायें कोण से इडा (गंगा) नाड़ी निकलती है, इसलिये इसको मुक्तत्रिवेणी भी कहते हैं।

तान्त्रिक ग्रन्थों के अनुसार इस योनिमण्डल के बीच में तेजोमय रक्तवर्ण क्लीं बीजरूप कन्दर्प नाम का स्थिरवायु विद्यमान है, जिसके मध्य में ब्रह्मनाड़ी के मुख में स्वयम्भू लिङ्ग है। इसमें कुण्डलिनी शक्ति साढ़े तीन कुण्डल में लिपटी हुई शंख के गोल आकार जैसी सोई रहती है। मूलशक्ति अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति का आधार होने के कारण यह चक्र मूलाधार चक्र कहलाता है।

कुण्डलिनी शक्ति

इस ब्रह्माण्ड में जितनी शक्तियां हैं, उन सब को ईश्वर ने हमारे शरीर-रूपी पिण्ड के इस भाग में एकत्र कर दिया है। मूलाधार चक्र के नीचे त्रिकोण यन्त्र जैसे योनिमण्डल के बीच वाले कोण से निकली सुषुम्णा नाड़ी का मुख साधारण अवस्था में बन्द रहता है। सुषुम्णा नाड़ी त्रिकोण योनिमण्डल के बीच से मेरुदण्ड के भीतर होती हुई ऊपर की ओर चलती है। सुषुम्णा नाड़ी का मुख बन्द रहने के कारण शरीर में इसकी शक्ति अविकसित रहती है। इस त्रिकोण योनिमण्डल के दायें और बायें कोणों से क्रमशः पिंगला और इडा नाड़ियां निकलती हैं। प्राणशक्ति, इडा और पिंगला के रास्ते छह चक्रों को छूती हुई मस्तिष्क की ओर चलती है। प्राणशक्ति हमारे सारे शरीर में प्रवाहित होती रहती है।

इसी त्रिकोण योनिमण्डल के बीच में अत्यन्त सूक्ष्म अद्भुत दिव्य शक्तिवाली नाड़ी लिपटी हुई पड़ी है। यह ऐसी सर्पिणी जैसी है जो साढ़े तीन लपेट मारे और अपनी पूंछ मुंह में दबाये शंख जैसी आकृति में सो रही है। इसी नाड़ी को कुण्डलिनी – शक्ति कहते हैं। यह नाड़ी प्रयोग न करने के कारण सोई हुई सी रहती है। शरीर में इसका कोई कार्य दिखाई नहीं देता। किन्तु जब यह नाड़ी अपने लपेट खोलकर सुषुम्णा नाड़ी में चली जाती है तब यह जाग जाती है। जैसे किसी कमरे में लगे बिजली के बल्ब आदि बटन दबाते ही प्रकाश देने लगते हैं वैसे ही कुण्डलिनी शक्ति के जागने पर शरीर के सारे चक्र और नाड़ियां प्रकाशित और शक्ति सम्पन्न हो जाती हैं। कुण्डलिनी शक्ति जिस-जिस चक्र पर पहुंचती है वह चक्र अधोमुख से ऊर्ध्वमुख होकर कमल के फूल की

तरह खिलता जाता है या विकसित होता जाता है। आज्ञाचक्र पर कुण्डलिनी शक्ति के पहुंचते ही सम्प्रज्ञात समाधि लग जाती है। सहस्रार या ब्रह्मरन्ध्र पर कुण्डलिनी शक्ति के पहुंचने पर असम्प्रज्ञात समाधि लगने लगती है। इस अवस्था में योगी को सारी सृष्टि का ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

शरीर के शुद्ध होने पर मन में सात्विक विचार बढ़ते जाते हैं। पवित्र अन्तःकरण, ईश्वर की सच्ची भक्ति और परिपक्व वैराग्य की अवस्था में मन एकाग्र होने पर निश्चल ध्यान से कुण्डलिनी शक्ति जागृत होती है। भस्त्रिका, महावेध, महामुद्रा, खेचरी मुद्रा, विपरीतकरणी मुद्रा, अश्विनी मुद्रा, योनि मुद्रा, और शक्तिचालिनी मुद्रा आदि कुण्डलिनी शक्ति को चेतन करने में सहायक हो सकती हैं। किन्तु ये सब बाह्य साधन हैं।

कुण्डलिनी के मुख का सुषुम्णा में प्रवेश केवल ध्यान की परिपक्व अवस्था में ही हो सकता है। बिना ध्यान के केवल बाह्य साधनों से कुण्डलिनी शक्ति को क्षोभ पहुंचाने से मूर्छा जैसी अवस्था आ सकती है जो बेहोशी और सुषुप्ति अवस्था से तो ऊंची है किन्तु वास्तविक स्वरूपावस्थिति नहीं है और न ही उसमें सूक्ष्म जगत का कोई अनुभव हो सकता है। कुण्डलिनी जागृत करने का सबसे उत्तम उपाय मूलाधार से लेकर सहस्रार तक सब चक्रों का भेदन करना है।

कठ आदि उपनिषदों में वर्णित नाचिकेत अग्नि ही कुण्डलिनी शक्ति है। योगी, त्रिनाचिकेत हो जाने पर जन्म-मरण से तर जाता है। उसका शरीर योगाग्निमय हो जाता है-

न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः।
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्।। श्वेताश्वतर उपनिषद् 2/12

नाक के बायें स्वर में इडा से और दायें स्वर में पिंगला नाड़ी से श्वास-प्रश्वास होता है। इन दोनों नाड़ियों के बीच में सुषुम्णा की स्थिति है। सुषुम्णा के अन्दर भी कई सूक्ष्म नाड़ियां होती हैं जिनमें चित्रिणी नाड़ी भी है। चित्रिणी नाड़ी कुण्डलिनी शक्ति का मार्ग है। सुषुम्णा के दोनों ओर की नाड़ियां इडा और पिंगला, कुण्डलिनी शक्ति के दो कुण्डल (कान की बालियां) हैं

अतः इस शक्ति का नाम कुण्डलिनी है। सम्पूर्ण सृष्टि को चलाने वाली महाकुण्डलिनी शक्ति है, जो अव्यक्त है। जीव को चलाने वाली व्यक्त शक्ति कुण्डलिनी है। कुण्डलिनी शक्ति के प्रकट होने पर वेग उत्पन्न होता है। इस वेग से जो प्रथम स्फोट (शब्द) होता है उसे नाद कहते हैं।

बिजली जैसी चमकीली कुण्डलिनी साढ़े तीन कुण्डलियां मारे सांप की भांति कन्द के ऊपर सुषुम्णा के द्वार पर सोती रहती है। शक्तिचालन क्रिया से योगी इसे जगाकर सुषुम्णा के रास्ते इसे ब्रह्मरन्ध्र में ले जाते हैं। मस्तिष्क में ब्रह्मरन्ध्र तक कुण्डलिनी शक्ति ले जाने का अभ्यास कुण्डलिनी योग कहलाता है।

तैजस तत्त्व प्रधान सुषुम्णा के साथ मानसिक रश्मियों के संघर्षण से उत्पन्न विद्युत जैसी ज्योति (विशोका ज्योति पा० यो० 1/36) का आलंकारिक रूप ही कुण्डलिनी है। सूर्य की किरणों के स्पर्श से जैसे कमल खिल जाते हैं वैसे ही मन की रश्मियां पड़ने पर देहगत आभ्यन्तरिक चक्र या केन्द्र प्रकाशित होकर दीखने लगते हैं। सम्भवतः इसी भाव के आधार पर इन केन्द्रों (चक्रों) को कमल का नाम दे दिया गया है।

कुटिलांगी, भुजंगी, शक्ति, ईश्वरी, कुण्डली, अरुन्धती, बालरण्डा ये कुण्डलिनी के नाम हैं।

स्वाधिष्ठान चक्र – शरीर के छह चक्रों में से यह दूसरा चक्र है। यह चक्र मूलाधार चक्र से दो अंगुल या कुछ ऊपर पेडू की सीध में पीछे की ओर होता है। स्वाधिष्ठान चक्र, प्राण अर्थात् स्व का अधिष्ठान या आधार माना जाता है। इसका आकार सिंदूरी रंग से प्रकाशित छह पंखड़ियों (दलों) वाले कमल के समान है। इन छह दलों के छह वर्ण (अक्षर) बं, भं, मं, यं, रं, और लं हैं। यह चक्र जल तत्व का मुख्य स्थान है। जल तत्व की नीचे की ओर गति है। जल तत्व का गुण रस है। सारे शरीर में व्याप्त होकर गति करने वाले व्यान वायु का स्थान स्वाधिष्ठान चक्र है।

यह चक्र, रस तन्मात्रा से उत्पन्न रसना (जीभ) शक्ति अर्थात् जिह्वा ज्ञानेन्द्रिय का स्थान है। जल तत्त्व से उत्पन्न मूत्र त्याग करने की शक्ति, उपस्थ कर्मेन्द्रिय का भी यह चक्र स्थान है। इस चक्र का लोक भुवः (अन्तरिक्ष) है।

तान्त्रिक ग्रन्थों में इस चक्र पर ध्यान करने का फल उत्पत्ति, पालन और निधन बताया गया है। यहाँ ध्यान करने से साधक की जिह्वा पर सरस्वती देवी का प्रभाव बढ़ जाता है।

मणिपूरचक्र – नाभिमूल की सीध में पीछे की ओर शरीर के छह चक्रों में से तीसरा चक्र मणिपूर है। नाभि में जो कन्द है उससे निकली बहत्तर (72) हजार नाड़ियां सारे शरीर में फैली हुई हैं। इनमें से दस मुख्य नाड़ियां ऊपर जाती हैं जो शब्द, रस, गन्ध, श्वास, जमुहाई, भूख, प्यास, डकार, नेत्र–दृष्टि और बुद्धि को पुष्ट करती हैं। नीचे जाने वाली दस नाड़ियां अपान–वायु, मल, मूत्र, शुक्र, अन्न और पेय पदार्थों का रस नीचे तक पहुंचाती हैं। सुषुम्णा नाड़ी, नाभि कन्द से होकर उसी प्रकार जाती है जैसे मणि में पिरोया हुआ धागा। इसीलिए इस चक्र का नाम मणिपूर है। इस चक्र की आकृति नीले रंग के प्रकाश से आलोकित दस पंखड़ी वाले कमल जैसी है। इन दस दलों पर डं, ढं, णं, तं, थं, दं, धं, नं, पं, और फं ये दस अक्षर हैं। यह चक्र लाल रंग के त्रिकोणाकार वाले अग्नि तत्व का मुख्य स्थान है। जैसे मेढ़ा उछल कर चलता है वैसे ही अग्नि तत्व की गति ऊपर की ओर है। अग्नि तत्व का गुण रूप है। अन्न आदि भोजन के रस को सारे शरीर में समान रूप से पहुंचाने वाले समान वायु का यह चक्र स्थान है। रूप तन्मात्रा से उत्पन्न देखने की शक्ति चक्षु ज्ञानेन्द्रिय का मणिपूर चक्र स्थान है। अग्नि तत्व से उत्पन्न चलने की शक्ति पैर कर्मेन्द्रिय का भी यह चक्र स्थान है। इस चक्र का लोक स्वः (द्युलोक) है। विभूति पाद में मणिपूर चक्र में या नाभिचक्र में ध्यान करने से शरीर के वात, पित्त और कफ इन तीनों दोषों की और त्वचा, रक्त, मांस, नाड़ी, हड्डी, चर्बी और वीर्य इन सात धातुओं की स्थिति आदि का पूरा ज्ञान हो जाता है और अजीर्ण आदि रोग दूर हो जाते हैं –

नाभि चक्रे कायव्यूहज्ञानम्।। पा० यो०वि० पा० 29।।

अनाहत चक्र (हृदय चक्र) – देह के छह चक्रों में से चौथा चक्र अनाहत है। इस चक्र का स्थान हृदय की सीध में पीछे की ओर है। इस चक्र की आकृति सिंदूरी रंग के बारह दलों वाले कमल जैसी है। इन बारह दलों पर कं, खं, गं, घं, ङं, चं, छं, जं, झं, ञं, टं और ठं ये बारह अक्षर हैं। यह चक्र

वायु तत्व का मुख्य स्थान है। हरिण की गति की तरह इस तत्व की गति तिरछी है। इस वायु तत्व का गुण स्पर्श है। यह चक्र मुख और नाक से गति करने वाले प्राणवायु का मुख्य स्थान है। स्पर्श तन्मात्रा से उत्पन्न स्पर्श करने की शक्ति त्वचा–ज्ञानेन्द्रिय का यह चक्र केन्द्र है। वायु तत्व से उत्पन्न पकड़ने की शक्ति हाथ कर्मेन्द्रिय का यह चक्र स्थान है। यह अन्तःकरण का मुख्य स्थान है। इस चक्र का लोक महः है। तान्त्रिक ग्रन्थों में अनाहत चक्र पर ध्यान करने का फल जितेन्द्रिय होना और वाणी तथा कवित्व शक्ति का विकास बतलाया गया है। कुछ ग्रन्थों में अनाहत चक्र के पास आठ दलों का निम्न मनश्चक्र बतलाया गया है। स्त्रियों तथा भक्तिभाव वालों के लिये अनाहत चक्र ध्यान करने का उपयुक्त स्थान है।

विशुद्ध चक्र - इस पांचवें चक्र का स्थान कण्ठ के पीछे है। विशुद्ध चक्र को जालन्धर पीठ भी कहा जाता है। इस चक्र की आकृति धुंधले रंग के 16 दलों वाले कमल जैसी है। इन सोलह पंखडियों पर अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, लृ, लॄ, ए, ऐ, ओ, औ, अं और अः ये 16 अक्षर हैं। यह चक्र आकाश तत्व का मुख्य स्थान है। हाथी की तरह झुक कर चलने जैसी इस तत्व की गति है। आकाश तत्व का गुण शब्द है। सारे शरीर में ऊपर की ओर गति करने वाले उदान वायु का मुख्य स्थान विशुद्ध चक्र है। शब्द तन्मात्रा से उत्पन्न श्रवण शक्ति श्रोत्र ज्ञानेन्द्रिय का यह चक्र स्थान है। आकाश तत्व से उत्पन्न वाक् शक्ति, वाणी कर्मेन्द्रिय का स्थान है। इस चक्र का लोक जनः है। विशुद्ध चक्र पर ध्यान करने का फल कवि, ज्ञानी, शान्तचित्त, नीरोग, शोकहीन और दीर्घजीवन बतलाया गया है। विशुद्ध चक्र पर मन की स्थिति होने पर मन, आकाश की तरह विशुद्ध हो जाता है। इसलिये यह चक्र विशुद्ध कहलाता है।

आज्ञाचक्र - शरीर का यह छठा चक्र भ्रूमध्य में होता है। इस चक्र की आकृति सफेद रंग के दो दलों के कमल जैसी है। इन दलों के अक्षर हं और क्षं हैं। इन दोनों दलों से पीनियल ग्लैण्ड (Pineal Gland) और पीयूष ग्रन्थि (Pituitary Gland) का संकेत समझना चाहिये। इस चक्र का तत्व महत्तत्त्व है। इस तत्व की गति नाद है और बीजाक्षर ओ३म् है। इसका लोक तपः है। आज्ञा चक्र पर मन तथा प्राण स्थित हो जाने पर सम्प्रज्ञात समाधि

लगने लगती है। मूलाधार चक्र से चलने वाली इडा, पिंगला, और सुषुम्णा नाड़ियां आज्ञाचक्र पर मिल जाती हैं इसीलिये यह स्थान युक्त त्रिवेणी भी कहलाता है।

आज्ञा चक्र ही सभी शास्त्रों में हृदय स्थल कहा गया है। किन्तु मोटी बुद्धि वाले स्थूल हृदय को ही हृदय मानते हैं –

तदेव हृदयं नाम सर्वशास्त्रादिसम्मतम्।
अन्यथा हृदि किं चास्ति प्रोक्तं यत् स्थूल बुद्धिभिः। – योग स्वरोदय

यह आज्ञाचक्र ही शिवनेत्र या दिव्यदृष्टि का साधन है।

सहस्त्रार या शून्य चक्र या ब्रह्मरन्ध्र – ब्रह्मरन्ध्र; तालु और कपालसन्धि के लगभग बीच में है। मस्तक के ऊर्ध्व भाग में ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर सहस्त्रार चक्र चार अंगुल फैला हुआ है। मूलाधार चक्र से लेकर आज्ञाचक्र तक के छह चक्रों के ऊपर मस्तिष्क में स्थित सूक्ष्म हृदय पंकज, सहस्त्रार है। कुछ विद्वानों तथा अभ्यासियों का विचार है कि उपनिषदों में अंगुष्ठ मात्र हृदय पुरुष का जो स्थान बतलाया गया है, वह ब्रह्मरन्ध्र ही है। ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर सहस्त्रार चक्र है। यही चित्त का स्थान है, जिसमें आत्मा के ज्ञान का प्रकाश या प्रतिबिम्ब पड़ रहा है। इस स्थान पर प्राण और मन के स्थिर हो जाने पर असम्प्रज्ञात समाधि अर्थात् सर्ववृत्ति-निरोध हो जाता है या चित्त के सारे संकल्प विकल्प बन्द हो जाते हैं।

हमारे चैतन्यमय जीव को जीवत्व की चेतना सहस्त्रार चक्र से अनाहत चक्र अर्थात् हृदय चक्र में आने पर होती है। सहस्त्रार चक्र में अव्यक्त नाद है। यह अव्यक्त नाद, आज्ञाचक्र (भ्रू मध्य) में आकर ओंकार रूप से व्यक्त होता है। इस ओंकार से उत्पन्न होने वाली पचास मातृकाओं (वर्णों) की अव्यक्त स्थिति का स्थान सहस्त्रार चक्र है। इस स्थान को अकुल स्थान कहते हैं। यही श्री शिवशक्ति का स्थान है। श्री शिवशक्ति अर्धनारी नटीश्वर हैं। शक्ति; व्यक्त और शिव; अव्यक्त हैं। ओंकार से पहिले स्वरोत्पत्ति (अ, इ, उ, ए आदि) होती है और बाद में व्यञ्जन (क, ख आदि) उत्पन्न होते हैं।

आज्ञाचक्र के निचले चक्र विशुद्ध, अनाहत आदि चक्र विभिन्न वर्णों की

उत्पत्ति के स्थान हैं। विभिन्न चक्रों के दलों पर ये वर्ण चक्रों के वर्णन में बताये जा चुके हैं।

शरीर में जीवात्मा का स्थान - कई बार पूछा जाता है कि हमारे शरीर में जीवात्मा या आत्मा कहाँ रहता है? वास्तव में हमारे चित्त या मन पर आत्मा के ज्ञान का प्रकाश पड़ रहा है। हमारा चित्त ही हमारा कारण शरीर है। इस कारण–शरीर के साथ आत्मा का सम्बन्ध होने से आत्मा को जीवात्मा कहा जाता है। हमारा कारण शरीर हमारे सूक्ष्म–शरीर में व्याप्त है और सूक्ष्म शरीर; स्थूल शरीर में।

स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर

स्थूल शरीर - माता–पिता के रज और वीर्य से उत्पन्न होने वाला हमारा स्थूल शरीर; पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश प्रकृति के इन पांच महाभूतों से बना है।

सूक्ष्म शरीर– हमारे स्थूल शरीर में आंख, कान, नाक, जीभ और त्वचा ये पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं। हाथ, पैर, वाणी (वाक्), गुदा (पायु) और मूत्रेन्द्रिय (उपस्थ) ये पांच कर्मेन्द्रियां हैं। ग्यारहवीं इन्द्रिय मन जिसके द्वारा हमारी पांचों ज्ञानेन्द्रियां और पांचों कर्मेन्द्रियां अपना–अपना काम करती हैं। हमारे शरीर को बनाने वाले पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पांच महाभूतों के पांच सूक्ष्म भूत या प्राण 16वीं शक्ति। अहंता या मैं का भाव पैदा करने वाली शक्ति अहंकार (17) तथा बुद्धि इन अठारह शक्तियों का समूह सूक्ष्म शरीर कहलाता है। हमारी बुद्धि, मन के साथ मिलकर कोई निर्णय या निश्चय करती है। हमारे मन के भाव और संस्कार भी हमारी बुद्धि में ही रहते हैं।

कारण शरीर - चेतनतत्व या आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित सत्वगुण युक्त चित्त या मन कारण शरीर कहलाता है। हमारे चित्त में ही अहंकार बीजरूप से या सूक्ष्म रूप से छिपा हुआ और अपने कार्य को बन्द करके रहता है। इस अहंकार को 'अस्मिता' (अस्मि–मैं हूँ) भी कहा जाता है।

जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाएँ

जाग्रत अवस्था - जाग्रत अवस्था में हम अपने स्थूल शरीर से काम करते हैं।

स्वप्नावस्था - जब हमारा स्थूल शरीर काम करते करते थक जाता है तब तमोगुण, रजोगुण को दबा कर स्थूल शरीर को स्थूल जगत् या दिखाई देने वाले इस संसार में काम करने से रोक देता है और हमें नींद आने लगती है। सोते समय सूक्ष्म शरीर जाग्रत-अवस्था के कामों की स्मृति के आधार पर तरह तरह की कल्पनाएं करके कार्य करने लगता है। यही कार्य हमें स्वप्न लगते हैं। सोते हुए हमारा सूक्ष्म शरीर भी तमोगुण से दबा रहता है। स्वप्न में तमोगुण के अन्धकार में स्वप्न की सारी बातें और दृश्य काल्पनिक होते हैं किन्तु समाधि की अवस्था में सत्वगुण की प्रधानता होती है इसलिये हमारा ध्यान जिस वस्तु पर या विषय पर लगा हुआ होता है उसका वास्तविक या असली स्वरूप समाधि अवस्था में सत्वगुण की प्रधानता के कारण सत्वगुण के प्रकाश में स्पष्ट दिखाई देने लगता है।

सुषुप्ति अवस्था - जब तमोगुण; रजोगुण को इतना अधिक दबा लेता है कि हमारा सूक्ष्म शरीर स्वप्नावस्था में या सोते हुए भी कार्य करना बन्द कर देता है तब हमें गहरी नींद आ जाती है। गहरी नींद की यह अवस्था सुषुप्ति अवस्था कहलाती है। सुषुप्ति की इस अवस्था में हमारे कारण शरीर में ही कार्य होते हैं। किन्तु गहरी नदि में या सुषुप्ति अवस्था में हमारे शरीर पर तमोगुण का प्रभाव इतना अधिक बढ़ जाता है जिसके कारण हमें कुछ भी अनुभव, ज्ञान, स्वप्न, आदि की कोई कल्पना भी नहीं होती। इसलिये तमोगुण के अन्धकार में हमें न तो बाहर का ज्ञान होता है और न ही अपने मन या बुद्धि के अन्दर का ज्ञान होता है। समाधि की अवस्था में जब हमारे मन की एकाग्रता इतनी अधिक बढ़ जाती है कि सत्व गुण, रजोगुण को इतना दबा देता है कि हमारा सूक्ष्म शरीर मन की एकाग्रता की वृत्ति या भाव को भी दिखा नहीं सकता तब सत्वगुण के अत्यधिक प्रकाश में विवेक ख्याति उत्पन्न होती है। विवेक ख्याति; कारण शरीर में उत्पन्न होती है। विवेकख्याति में हमारी आत्मा

और चित्त अलग-अलग दिखाई देने लगते हैं अर्थात् चित्त या मन के द्वारा हम आत्मा को साक्षात् देखते हैं।

शास्त्रों में तथा योग के ग्रन्थों में सुषुप्ति अवस्था में जीवात्मा का स्थान हृदय ही बताया गया है। हृदय हमारे शरीर का सबसे महत्वपूर्ण अंग है। यहीं से सारे शरीर में नस-नाड़ियां रक्त ले जा रही हैं। सारे शरीर के अन्दर के सभी काम हृदय से ही हो रहे हैं। इसीलिये हृदय की गति रुकते ही सारे शरीर के काम बन्द हो जाते हैं। इसलिये सुषुप्ति अवस्था में जीवात्मा का स्थान हृदय कहा जा सकता है। बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार -

यत्रैष एतत् सुप्तो ऽभूद् य एष विज्ञानमयः
पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय
य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते।। बृहद्० 2/1/17

अर्थात् विज्ञान या विशेष ज्ञान वाला यह पुरुष (आत्मा) जब गहरा सोया हुआ होता है तब वह हमारे शरीर की इन्द्रियों के विज्ञान को लेकर हृदय के अन्दर आकाश या खाली स्थान में सोता है।

स्वप्नावस्था में जीवात्मा का स्थान कण्ठ बताया गया है। क्योंकि जागते हुए या जाग्रत अवस्था में जो वस्तुएं देखी जाती हैं, सुनी जाती हैं, या भोगी जाती हैं उनके संस्कार कण्ठ की हिता नाम की नाड़ी में रहते हैं। हिता-नाड़ी हमारे सिर के एक बाल के एक हजारवें भाग जितनी सूक्ष्म है। हिता नाड़ी में संस्कार जमा रहने के कारण अनुभूत पदार्थों का और उनका ज्ञान स्वप्नावस्था में कण्ठ में होता है।

जाग्रत अवस्था में जीवात्मा; बाह्य इन्द्रियों नेत्र, कान, आदि के द्वारा बाहर के विषयों को देखता है। बाह्य-इन्द्रियों में नेत्र या आंख मुख्य है, इसीलिये जागते समय या जाग्रत-अवस्था में जीवात्मा का स्थान छान्दोग्य उपनिषद् में नेत्र बताया गया है -

य एषोऽक्षिणी पुरुषो दृश्यते एष आत्मेति" छान्दोग्य, 8/7/4

अर्थात् यह जो आंख में पुरुष दीखता है यह आत्मा है।

सम्प्रज्ञात समाधि में जीवात्मा का स्थान आज्ञाचक्र कहा जा सकता है,

क्योंकि यही दिव्यदृष्टि या तीसरे नेत्र का स्थान है। इसी को शिवनेत्र भी कहते हैं।

असम्प्रज्ञात समाधि में जीवात्मा का स्थान ब्रह्मरन्ध्र है, क्योंकि इसी स्थान पर प्राण और मन के स्थिर हो जाने पर असम्प्रज्ञात समाधि अर्थात् सर्ववृत्ति निरोध होता है। असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में मन की सारी वृत्तियां या संकल्प विकल्प रुक जाते हैं।

सूक्ष्म जगत्

ऊंची अवस्था वाले योगी, समाधि अवस्था में सूक्ष्म शरीर से सूक्ष्म जगत् में भ्रमण करते हैं। महा विदेहा - बहिरकल्पिता (पातं० 3/43) वृत्ति वाले सिद्धयोगी समाधि से भिन्न अवस्था में भी इच्छानुसार सूक्ष्म शरीर से सूक्ष्म जगत् में भ्रमण कर सकते हैं। सूक्ष्म शरीर द्वारा ही चित्त में जन्म, आयु और भोग देने वाली वासनाओं के संस्कार (कर्माशय) एकत्र रहते हैं। मृत्यु के समय हृदय रूपी चर्खी से प्राण की डोरी टूट जाने पर सूक्ष्म शरीर उड़ता हुआ ऐसे गर्भ के पास पहुंच जाता है जहाँ उसकी वासनाओं (प्रधान कर्म विपाक) को पूरा करने वाले समान संस्कार होते हैं (पातंजल 2/12-13)। इस गर्भ के हृदय से, सूक्ष्म शरीर के प्राण जुड़ जाते हैं।

कुछ के मत में सूक्ष्म शरीर का सूक्ष्म जगत् में भ्रमण नहीं होता अपितु चित्त की वृत्तियां शरीर से बाहर जाती हैं, अर्थात् चित्त में इन्हीं वृत्तियों द्वारा ऐसा परिणाम होता है कि सूक्ष्म शरीर बाहर जाता हुआ लगता है - 'अनन्तं वै मनः' (बृहदारण्यक)।

पांच कोश

जीवात्मा हमारे शरीर के पांच कोशों (खाली-स्थानों) से घिरा हुआ है। इन कोशों को आनन्दमय, विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय और अन्नमय कोश कहते हैं।

आनन्दमय कोश - शुद्ध आत्मतत्व पर चित्त या महत् तत्व का आवरण, परदा या घेरा है। यह आवरण आनन्दमय कोश कहलाता है। यह आनन्दमय कोश या चित्त, कारण शरीर कहलाता है।

विज्ञानमय कोश – आनन्दमय कोश के ऊपर अहंकार और बुद्धि का परदा (आवरण) विज्ञानमय कोश कहलाता है। विज्ञानमय कोश आत्मा को ढककर आत्मा को, करने वाला, जानने वाला, निश्चय करने वाला और अहंकार, अभिमान करने वाला दिखाता है।

मनोमय कोश – विज्ञानमय कोश के ऊपर मन और पांच ज्ञानेन्द्रियों का आवरण मनोमय कोश कहलाता है। आत्मा पर मनोमय कोश के आवरण के कारण आत्मा अपने को संशय, शोक और मोह को पैदा करने वाला मानने लगता है। इस मनोमय कोश में इच्छा शक्ति रहती है।

प्राणमय कोश – मनोमय कोश के ऊपर, पांच-कर्मेन्द्रियों और प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान इन पांच प्राणों का परदा है। इस आवरण को प्राणमय कोश कहा जाता है। प्राण और इन्द्रियों के इस प्राणमय कोश से ढके रहने के कारण आत्मा, अपने को काम करने वाला, दान आदि देने वाला, चलने-फिरने वाला, भूख-प्यास वाला आदि तरह-तरह के काम करने वाला मानता है।

विज्ञानमय, मनोमय और प्राणमय – इन तीनों कोशों वाला शरीर, सूक्ष्म शरीर कहलाता है। पांच महाभूतों को बनाने वाले सूक्ष्म पंच महाभूतों से बने ज्योतिर्मय कोश के अन्दर दस ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों तथा मन, बुद्धि और अहंकार सहित अठारह तत्वों से सूक्ष्म शरीर बना हुआ है। सूक्ष्म पंच महाभूतों अथवा तन्मात्राओं के परमाणु हम अपनी इन्द्रियों से नहीं देख सकते। सूर्य की किरणों में तैरते हुए सूक्ष्म धूल के कण दिखाई देते हैं जिनका वर्णन इन शब्दों में किया गया है –

जालान्तरस्थ सूर्यांशौ यत् सूक्ष्मं दृश्यते रजः।

इन पांच सूक्ष्म महाभूतों को तन्मात्रा भी कहते हैं, जैसे शब्द तन्मात्रा, गन्ध तन्मात्रा, रस तन्मात्रा, रूप तन्मात्रा, और स्पर्श तन्मात्रा। इन पांच तन्मात्राओं या सूक्ष्म पंच महाभूतों से पांच स्थूल महाभूत बनते हैं। शब्द तन्मात्रा से आकाश, गन्ध तन्मात्रा से पृथिवी, रस तन्मात्रा से जल, रूप तन्मात्रा से अग्नि और स्पर्श तन्मात्रा से वायु ये पांच स्थूल महाभूत बने हुए हैं। इन्हीं पांच स्थूल महाभूतों से सृष्टि के जीव-जन्तु, वनस्पति और तरह-तरह के सारे पदार्थ बने

हुए हैं। हमारा शरीर भी इन्हीं पांच स्थूल भूतों से बना हुआ है। समाधि अवस्था में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का जितना सूक्ष्म भाव साक्षात् होता है वही तन्मात्र, पांच महाभूतों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पांच गुणों का सूक्ष्म रूप है।'

सोलह आधार

देह के जिन सोलह स्थानों पर मन केन्द्रित किया जाता है या लगाया जाता है उन स्थानों को हठयोग में आधार कहा जाता है। ये आधार इस प्रकार हैं –

पैर का अंगूठा, टखना और एड़ी, घुटना, जांघ, सीवनी, मूलाधार या योनिस्थान, लिंग (स्वाधिष्ठान), नाभि (मणिपूर), हृदय (अनाहत), कण्ठ (विशुद्ध), गर्दन, छोटी जीभ (लम्बिका, कौआ), नासिका, भ्रूमध्य (आज्ञा), मस्तक, सिर और ब्रह्मरन्ध्र।

अङ्गुष्ठ गुल्फ जानूसीवनी लिङ्ग नाभयः।
हृदयग्रीवा कण्ठदेशश्च लम्बिका नासिका तथा।।
भ्रूमध्यं च ललाटं च मूर्धा च ब्रह्मरन्ध्रकम्।
एते हि षोडशाधाराः कथिता योगिपुङ्गवैः।।

कुछ के मत में जिह्वाग्र, नेत्र, और ऊर्ध्वदन्ताधार (तालु) भी इनमें सम्मिलित हैं। तान्त्रिकों के अनुसार मूलाधार आदि छह चक्र तथा बिन्दु, अर्द्धेन्दु, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिका, समनी, रोधिनी, और ध्रुव मण्डल षोडशाधार हैं।

मन लगाने के पहिले आधार पैर के अंगूठे पर एकाग्र दृष्टि से ध्यान लगाने से नेत्रों की दृष्टि स्थिर होती है। सिद्धासन लगाकर पैर की एड़ी से मूलाधार पर लम्बे समय तक शरीर का सारा भार डालने से मूलाधार पर रक्त संचार रुक जाता है और शरीर का यह भाग सुन्न (अचेतन) हो जाता है। कहते हैं कि सिद्धासन में देर तक बैठे रहने से जठराग्नि (पाचन शक्ति) बढ़ जाती है। लिङ्ग (स्वाधिष्ठान या गुह्याधार) और गुदा को सिकोड़ने और बार-बार खोलने का लगातार अभ्यास करने से वीर्य को शरीर में रोकने की शक्ति बढ़ जाती है। सिद्धासन में दूसरे पैर की एड़ी से लिङ्ग के मूल पर दबाव पड़ता है। नाभि

(मणिपूर चक्र) पर ध्यान लगाकर उड्डीयान बन्ध लगाने का अभ्यास करने से पेट के कीड़े आदि नष्ट हो जाते हैं। उड्डीयान बन्ध के साथ मूलबन्ध भी लगाना चाहिये। हृदय (अनाहत चक्र) पर मन एकाग्र करने से हृदय कमल विकसित हो जाता है। कण्ठ (विशुद्ध चक्र) पर ध्यान करने से प्राण वायु (श्वास) को रोकने का सामर्थ्य बढ़ जाता है। कण्ठ पर ध्यान करते समय जलन्धर बन्ध लगाना चाहिये। लम्बिका (छोटी जीभ या कौआ) पर ध्यान लगा कर खेचरी मुद्रा करने से ब्रह्मरन्ध्र की पीयूष ग्रन्थि से टपकते हुए अमृत रस के जीभ पर गिरने से सारे शरीर में स्वास्थ्य और कान्ति व्याप्त हो जाती है। तालु पर ध्यान लगाकर जीभ के अगले भाग को तालु से सटाने पर रोग शान्त हो जाते हैं। नाक के अगले भाग पर एकटक देखते रहने से मन स्थिर होने लगता है। भ्रू मध्य (आज्ञा चक्र) पर ध्यान करने का अभ्यास करने से ज्योति प्रकट होने लगती है।

लक्ष्य

ध्यान लगाने के स्थान लक्ष्य कहलाते हैं। लक्ष्य, शरीर के अन्दर और बाहर होते हैं। इसलिये लक्ष्य दो प्रकार के हैं - **अन्तर्लक्ष्य** और बहिर्लक्ष्य। नाक तथा भ्रू मध्य आदि आधार बहिर्लक्ष्य या बाहर के लक्ष्य हैं। मूलाधार चक्र, अनाहत चक्र, आदि आधार अन्तर्लक्ष्य हैं।

पांच आकाश

खाली स्थान या शून्य स्थान को आकाश कहते हैं। हमारे शरीर में तीन आकाश या खाली स्थान हैं - हृदय, कण्ठ और भ्रू मध्य। तन्त्र के अनुसार प्रथम आकाश सफेद रंग का है। इसके अन्दर लाल रंग का ज्योतिरूप प्रकाश दूसरा आकाश है। इसके अन्दर धुंए के रंग का तीसरा महा आकाश है। इस तीसरे महाकाश के अन्दर नीली ज्योति वाला तत्त्वाकाश है। तत्त्वाकाश के अन्दर बिजली के रंग का पांचवां ज्योतिस्वरूप सूर्याकाश है।

एकस्तम्भं नवद्वारं गृहं पञ्चाधिदैवतम्।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्ध्यन्ति योगिनः।। 13।।

हमारे शरीर में एक खम्भा, नौ दरवाजे और पांच अधिदेवता हैं। जो

योगी अपने शरीर के खम्भे, नौ दरवाजों और पांच अधिदेवताओं को नहीं जानते वे सिद्ध योगी कैसे बन सकते हैं।

हमारे घर रूपी शरीर में हमारा मन ही एकमात्र ऐसा खम्भा है जो सारे शरीर को थामे हुए हैं। हमारा मुख, दो आंखें, दो नासिका रन्ध्र, दो कान, गुदा और लिङ्ग ये नौ दरवाजे हैं। हमारा शरीर पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पांच महाभूतों से बना है। प्रकृति के इन पांच महाभूतों या पांच तत्वों के अधिदेवता ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव हैं।

चतुर्दलं स्यादाधारं, स्वाधिष्ठानं च षट् दलम्।
नाभौ दशदलं पद्मं सूर्यसंख्यादलं हृदि।। 14।।

कण्ठे स्यात् षोडशदलं भ्रू मध्ये द्विदलं तथा।
सहस्त्रदलमाख्यातं ब्रह्मरन्ध्रे महापथे।। 15।।

बारहवें श्लोक में षटचक्रों का विस्तार के साथ वर्णन किया जा चुका है। संक्षेप से मूलाधार चक्र में चार दलों का कमल, स्वाधिष्ठान चक्र में छह दलों का, मणिपूर चक्र में दस दलों का, अनाहत चक्र में बारह दलों का, विशुद्ध चक्र में सोलह दलों का, आज्ञाचक्र में दो दलों का और ब्रह्मरन्ध्र में सहस्त्रदलों का कमल है।

आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम्।
योनिस्थानं द्वयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते।। 16।।

पहिले चक्र मूलाधार और दूसरे चक्र स्वाधिष्ठान के बीच में योनिस्थान है जिसे कामरूप पीठ भी कहते हैं। यहीं पर सोये हुए सांप की तरह कुण्डलिनी शक्ति साढ़े तीन कुण्डलियां या लपेटे मारकर सोई रहती है। इसने सुषुम्ना नाड़ी का मुख रोक रखा है। शक्ति चालन मुद्रा से इसे जगाकर कुण्डलिनी को सुषुम्ना के रास्ते ब्रह्मरन्ध्र में पहुंचाया जाता है।

आधाराख्ये गुदस्थाने पंकजं च चतुर्दलम्।
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाख्या सिद्धवन्दिता।। 17।।

गुदा की जगह पर मूलाधार चक्र है। इस चक्र में चार दलों का कमल है।

इस चतुर्दल कमल के बीच में त्रिकोण के आकार वाली योनि है। इसे कामाख्या पीठ कहते हैं। सिद्ध योगी इस कामाख्या पीठ की वन्दना करते हैं अर्थात् वे यहीं से अपनी साधना आरम्भ करते हैं।

योनिमध्ये महालिङ्गं पश्चिमाभिमुखस्थितम्।
मस्तके मणिवद्बिम्बं यो जानाति स योगवित्।। 18।।

त्रिकोण आकार वाली इस योनि के बीच में महालिंग है जिसका मुख पश्चिम अर्थात् नीचे की ओर है। इस महालिङ्ग के मस्तक पर मणि की तरह चमकीला बिम्ब है। इस बिम्ब सहित महालिंग को जो जानता है वही वास्तविक योगी है। महालिङ्ग का मुख पश्चिम की ओर है।

उपरोक्त श्लोक में योनि और महालिंग का वर्णन सृष्टि प्रक्रिया की ओर इशारा करता है। मन्दिरों में भी शिवलिंग; योनि के बीच में स्थापित रहता है और भक्तजन शिवलिंग की आराधना के द्वारा प्रकृति और पुरुष के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति करने वाली परा शक्ति का या परब्रह्म परमात्मा का स्मरण, वन्दन और आराधन करते हैं।

तन्त्र के अनुसार स्वयम्भू महालिंग त्रिकोणाकार योनि में सुषुम्ना द्वार के सामने है। यहाँ पर सोई हुई कुण्डलिनी शक्ति हमारे जीवन और शरीर का आधार है और यही शक्ति मोक्ष का द्वार भी है।

तप्तचामीकराभासं तडिल्लेखेव विस्फुरत्।
त्रिकोणं तत्पुरं वह्नेरधो मेढ्रात्प्रतिष्ठितम्।। 19।।

तपे हुए सोने के रंग वाला और बिजली की तरह चमकीला लिंग के नीचे जो त्रिकोण है वह कालाग्नि का स्थान है। यह त्रिकोण मेढ्र (लिङ्गमूल) से नीचे है।

यत्समाधौ परं ज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम्।
तस्मिन् दृष्टे महायोगे यातायातो न विन्दते।। 20।।

समाधि में इस त्रिकोण पर मन एकाग्र करने से सारे संसार में व्याप्त अनन्त ज्योति प्रकट होती है। यही ज्योति कालाग्नि है। इसे देख लेने पर योगी, जन्म-मरण और संसार में आने जाने के बन्धन से छूट जाता है।

स्वशब्देन भवेत्प्राणः स्वाधिष्ठानं तदाश्रयः।
स्वाधिष्ठानाश्रयादस्मात्मेढ्रमेवाभिधीयते।। 21।।

'स्व' शब्द का अर्थ प्राण होता है। मेढ्र अर्थात् लिंगमूल पर स्वाधिष्ठान चक्र है। लिंगमूल अर्थात् मेढ्र प्राण का आधार होने के कारण स्वाधिष्ठान कहलाता है। पिछले श्लोकों में योनिस्थान, योनि और महालिंग का उल्लेख किया गया है। सृष्टि उत्पत्ति के लिये अनिवार्य प्रकृति और पुरुष के संयोग का ही यहाँ आलंकारिक रूप में वर्णन किया गया है। जहाँ तक व्यक्तिगत देह का सम्बन्ध है वहाँ भी स्त्री-पुरुष के संयोग के बिना नया प्राणी जन्म नहीं लेता। जबतक पुरुष का वीर्य स्त्री के रज के साथ नहीं मिलता तबतक गर्भाधान नहीं होता। इसलिये लिंग में स्थित वीर्य ही नये जीव का मुख्य कारण होता है। इस दृष्टि से वीर्य स्व या प्राण का आधार है।

तन्तुना मणिवत्प्रोतो यत्र कन्दः सुषुम्णया।
तन्नाभिमण्डले चक्रं प्रोच्यते मणिपूरकम्।। 22।।

जैसे किसी तागे में मणि पिरोई रहती है वैसे ही सुषुम्ना नाड़ी में कन्द पिरोया हुआ है। नाभि मण्डल में यह कन्द मणिपूरक चक्र कहलाता है। पीछे बारहवें श्लोक में मणिपूर चक्र का वर्णन किया जा चुका है।

द्वादशारे महाचक्रे पुण्यपाप विवर्जिते।
तावज्जीवो भ्रमत्येव यावत्तत्वं न विन्दति।। 23।।

हृदय में बारह पंखुड़ियों का अनाहत चक्र है। इसी अनाहत चक्र में या हृदय चक्र में पाप और पुण्य से रहित जीवात्मा रहता है। जीवात्मा; सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों से परे है अर्थात् गुणातीत है। गुणातीत होने के कारण जीवात्मा पाप-पुण्य से रहित है। किन्तु जीव को जबतक तत्व ज्ञान नहीं हो जाता तबतक वह अहंकार और माया-मोह के बन्धन में पड़ा हुआ जीवन-मरण के चक्र में घूमता ही रहता है।

दस नाड़ियां

ऊर्ध्वं मेढ्रादधोनाभे : कन्दो योनिः खगाण्डवत्।

तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्त्राणां द्विसप्ततिः ।। 24 ।।

लिंगमूल से ऊपर और नाभि से कुछ नीचे पक्षी के अण्डे जैसा कन्द है जो शरीर में व्याप्त सभी नाड़ियों का उत्पत्ति स्थान है। इस कन्द से बहत्तर (72) हजार नाड़ियां निकली हुई हैं।

हठयोग प्रदीपिका के अनुसार शरीर में कन्द का स्थान मूलाधार से एक बालिश्त या बारह अंगुल ऊपर नाभि और लिंग मूल के बीच में है। यह कन्द चार अंगुल चौड़ा होता है। कन्द सफेद ओर मुलायम लपेटे हुए कपड़े जैसा होता है।

ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरङ्गुलम्।
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टिताम्बरलक्षणम्।। हठ० प्र० 3/113

याज्ञवल्क्य के अनुसार कन्द का स्थान निम्नलिखित है –

गुदात्तु द्व्यंगुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यंगुलादधः।
देहमध्यं तनोर्मध्यमनुजानामितीरितम्।।
कन्दस्थानं मनुष्याणां देहमध्यान्नवाङ्गुलम्।
चतुरङ्गुलविस्तारमायामं च तथाविधम्।।

गुदा से दो अंगुल ऊपर और लिंग से दो अंगुल नीचे मनुष्य के शरीर का मध्य भाग है। मनुष्यों में कन्द शरीर के बीच से नौ अंगुल ऊपर होता है। मनुष्यों का कन्द चार अंगुल चौड़ा और चार अंगुल लम्बा होता है।

तेषु नाडीसहस्त्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृताः।
प्रधानाः प्राणवाहिन्यो भूयस्तासु दश स्मृताः ।। 25 ।।

इन बहत्तर हजार नाड़ियों में से बहत्तर नाड़ियों ही मुख्य हैं। इन बहत्तर नाड़ियों में से भी दस नाड़ियां शरीर में प्राणों का संचार करती हैं।

प्राणवाहिनी दस नाड़ियाँ

इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्णा च तृतीयका।
गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी।। 26।।

अलम्बुषा कुहूश्चैव शङ्खिनी दशमी स्मृता।
एतन्नाडीमयं चक्रं ज्ञातव्यं योगिभिः सदा।। 27।।

इडा, पिंगला, सुषुम्ना, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुषा, कुहू और शंखिनी ये दस नाड़ियां मुख्य हैं जिनसे शरीर में प्राण संचार करता है। दस नाड़ियों के इस चक्र के बारे में योगियों को सदा जानकारी रखनी चाहिये।

इडा वामे स्थिता भागे पिङ्गला दक्षिणे स्थिता।
सुषुम्णा मध्यदेशे तु गान्धारी वामचक्षुषि।। 28।।

दक्षिणे हस्तिजिह्वा च पूषा कर्णे च दक्षिणे।
यशस्विनी वामकर्णे ह्यानने चाप्यलम्बुषा।। 29।।

नाक के बायें सुर में इडा और नाक के दायें सुर में पिंगला नाड़ियां हैं। इडा और पिंगला के बीच में सुषुम्ना है। गान्धारी नाड़ी बायीं आंख में और हस्तिजिह्वा दायीं आंख में हैं। दायें कान में पूषा और बायें कान में यशस्विनी नाड़ी हैं। मुख में अलम्बुषा नाड़ी है।

कुहूश्च लिङ्गदेशे तु मूलस्थाने च शंखिनी।
एवं द्वारं समाश्रित्य तिष्ठन्ति दश नाडयः।। 30।।

कुहू लिंग में और लिंगमूल में शंखिनी नाड़ियां हैं। इस तरह ये दस नाड़ियां प्राणवायु के एक एक मार्ग में हैं।

इडापिङ्गलासुषुम्णाः प्राणमार्गे समाश्रिताः।
सततं प्राणवाहिन्यः सोमसूर्याग्निदेवताः।। 31।।

इडा, पिंगला और सुषुम्ना ये तीन नाड़ियां प्राणवायु की मुख्य नाड़ियां हैं। इनके द्वारा शरीर को सदा और लगातार प्राणवायु मिलती रहती है। इन नाड़ियों के देवता चन्द्र, सूर्य और अग्नि हैं। नाक के बायें सुर की नाड़ी इडा का

देवता चन्द्रमा है। इसका यह अभिप्राय है कि बायें सुर की नाड़ी इडा में चन्द्रमा की तरह शीतल प्राणवायु चलता है। दायें सुर की नाड़ी पिंगला में सूर्य की भांति गरम प्राणवायु चलता है। सुषुम्ना में अग्नि जैसा तीव्र प्राणवायु होता है। इडा और पिंगला नाड़ियां सुषुम्ना नाड़ी को लपेटे हुए चलती है। इडा नाड़ी को अमृतविग्रहा और पिंगला को रौद्रात्मिका कहते हैं। जब ये दोनों नाड़ियां समानगति से चलती है तब सुषुम्ना में उनका लय हो जाता है। सामान्य अवस्था में मनुष्य देह की नाक के दोनों स्वरों में से एक ही स्वर से श्वास-प्रश्वास होता है। दो घण्टे चौबीस मिनट के बाद श्वास-प्रश्वास दूसरे स्वर से होने लगता है। किन्तु दोनों स्वरों के एक साथ चलने पर प्राणवायु सुषुम्ना में चलने लगता है। इस अवस्था में कुण्डलिनी शक्ति, सुषुम्ना में प्रवेश करती है। सुषुम्ना में कुण्डलिनी के प्रविष्ट हो जाने पर योगी सिद्ध हो जाता है। सुषुम्ना के मार्ग से प्राण त्यागने वाले योगी का पुनर्जन्म नहीं होता।

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङन्या उत्क्रमणे भवन्त्युत्क्रमणे भवन्ति।।

छान्दोग्य० 8/6/6, कठ० 2/3/16

हृदय की एक सौ एक नाड़ियां हैं। इनमें से एक सिर की ओर निकलती है। इस नाड़ी से ऊपर चढ़ता हुआ ज्ञानी पुरुष अमृतत्व को अर्थात् ब्रह्मलोक को जाता है। दूसरी नाड़ियों से निकलता हुआ प्राण जीव को तरह-तरह की योनियों में ले जाता हैं। इस प्रकार सुषुम्ना नाड़ी से ब्रह्मरन्ध्र के रास्ते जिस योगी का प्राण शरीर से निकलता है वह मुक्त हो जाता है।

सूक्ष्म प्राण

गोरक्षपद्धति के प्रथम शतक के 27वें से लेकर 31वें श्लोक तक जिन दस नाड़ियों और शरीर में उनके स्थानों का वर्णन है उनके अतिरिक्त योग के अन्य ग्रन्थों में पांच और नाड़ियों को शरीर की प्राण वाहिनी मुख्य नाड़ियों में माना गया है। इस प्रकार गोरक्षपद्धति के अनुसार इडा, पिंगला से लेकर कुहू और शंखिनी तक प्राणवाहिनी दस मुख्य नाड़ियां हैं। योग के दूसरे ग्रन्थों में इन दस नाड़ियों के अतिरिक्त पांच और नाड़ियों को अर्थात् पन्द्रह नाड़ियों को प्राणवाहिनी नाड़ियां माना गया है। इनके नाम हैं – शूरा, सरस्वती, वारुणी,

विश्वोदरी और चित्रा। शूरा नाड़ी से हम गन्ध ग्रहण करते हैं। शूरा नाड़ी, नाक से भ्रू मध्य तक जाती है। सरस्वती नाड़ी जीभ के अगले सिरे तक है। जीभ; सरस्वती नाड़ी के द्वारा बोलती है और ज्ञान को प्रकट करती है इसीलिये अच्छे वक्ताओं और विद्वानों के लिये कहा जाता है कि उनकी जिह्वा पर सरस्वती स्वयं विराजमान हैं।

उपरोक्त पन्द्रह नाड़ियों में भी इडा, पिंगला और सुषुम्ना ये तीन नाड़ियां प्रधान हैं। इन तीन नाड़ियों का क्रियात्मक योग से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन तीनों में सुषुम्ना सबसे मुख्य और सर्वश्रेष्ठ है। यह नाड़ी अत्यन्त सूक्ष्म है। सुषुम्ना, गुदा के पास से मेरुदण्ड के भीतर होती हुई मस्तिष्क में चली गई है। गुदा के पास से ही इडा बायीं ओर से और पिंगला दायीं ओर से नाक के मूल तक अर्थात् भ्रू मध्य तक चली गईं हैं। भ्रू मध्य में इडा, पिंगला और सुषुम्ना ये तीनों नाड़ियों आपस में मिलती है। सुषुम्ना को सरस्वती, इडा को गंगा और पिंगला को यमुना भी कहते हैं। गुदा के समीप, जहाँ से ये तीनों नाड़ियां अलग-अलग चलती हैं, उस स्थान को 'मुक्त त्रिवेणी' और भ्रूमध्य में जहाँ ये तीनों नाड़ियां मिलती हैं उस स्थान को 'युक्त त्रिवेणी' कहते हैं।

सामान्य रूप से हमारे शरीर में इडा और पिंगला नाड़ियों से प्राणशक्ति श्वास-प्रश्वास के रूप में लगातार प्रवाहित होती रहती है। इडा को चन्द्र नाड़ी और पिंगला को सूर्य नाड़ी भी कहते हैं। इडा नाड़ी के बायें स्वर में चलने के कारण बायें स्वर को चन्द्र स्वर और पिंगला के दायें स्वर में चलने के कारण दायें स्वर को सूर्य स्वर कहा जाता है। इडा, तमः प्रधान और पिंगला रजः प्रधान है। श्वास कभी बायें स्वर से तो कभी दायें स्वर से चलता है। जब श्वास बायें स्वर से चलता है तब कहा जाता है कि श्वास इडा नाड़ी से या चन्द्र स्वर से चल रहा है। दायें स्वर से श्वास चलने पर कहा जाता है कि श्वास, पिंगला नाड़ी से या सूर्यस्वर से चल रहा है। प्राण जब दोनों स्वरों से समान गति से अथवा एक क्षण दायें स्वर से और दूसरे क्षण बायें स्वर से चलता हो तब कहा जाता है कि प्राण सुषुम्ना में प्रवाहित होने लगा है। यह स्थिति अत्यन्त उन्नत अवस्था प्राप्त योगी की होती है। साधारण योगाभ्यासी यही प्रयत्न करते हैं कि उनका श्वास दिन के समय अर्थात् सूर्योदय से सूर्यास्त तक बायें स्वर या

चन्द्र स्वर में चले जिसे शरीर शीतल रहे और रात में सूर्यास्त से सूर्योदय तक श्वास दायें स्वर या सूर्य स्वर से चले जिससे शरीर रात में गर्म रहे। किन्तु हमारा स्वर प्रतिदिन सवेरे सूर्योदय से ढाई-ढाई घड़ी तक या दो घण्टे चौबीस मिनट तक एक स्वर से चलता है। और फिर दूसरा स्वर चलने लगता है। नाक के दायें और बायें स्वरों से श्वास चलने का निश्चित नियम इस प्रकार बताया गया है –

आदौ चन्द्रः सिते पक्षे भास्करस्तु सितेतरे।
प्रतिपदा दिनान्याहुस्त्रीणि त्रीणि क्रमोदये।।

भुवन विजय स्वरोदय

शुक्लपक्ष की प्रतिपदा (पहली) तिथि से तीन-तीन दिन की बारी से चन्द्र या बायें स्वर से तथा कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा तिथि से तीन-तीन दिन की बारी से सूर्य या दायें स्वर से श्वास सूर्योदय के समय पहिले चलने लगता है। ढाई घड़ी के बाद श्वास दूसरे स्वर से चलने लगता है। शरीर में कोई विकार या रोग होने पर स्वर अनियमित रूप से चलने लगता है। इस अवस्था में स्वर बदल लेने से रोग दूर करने में सहायता मिलती है।

जो स्वर चलाना हो उस स्वर के नथुने पर ध्यान करने से वह स्वर चलने लगता है। इसी प्रकार जो स्वर चलाना हो तो उस स्वर से दूसरी करवट लेटने से थोड़ी देर बाद बन्द स्वर चलने लगता है।

दस प्राण वायु

प्राणोऽपानः समानश्चोदान व्यानौ च वायवः।
नागो कूर्मोऽथ कृकलो देवदत्तो धनञ्जयः।। 32।।

प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय ये दस वायुएं हमारे शरीर के विभिन्न अंगों में हैं।

हृदि प्राणो वसेन्नित्यमपानो गुदमण्डले।
समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमध्यगः।। 33।।

व्यानो व्यापी शरीरेषु प्रधानाः पञ्च वायवः।
प्राणाद्याः पञ्च विख्याता नागाद्याः पञ्च वायवः।।34।।

प्राण वायु हृदय में, अपान गुदा में, समान नाभि में, उदान कण्ठ में और व्यान वायु सारे शरीर में व्याप्त होकर रहता है। प्राण, अपान आदि ये पांच वायु प्रधान हैं। इनके अतिरिक्त नाग, कूर्म आदि पांच वायु गौण हैं।

प्राणवायु, हृदय में रहकर श्वास-प्रश्वास करता है। अपान वायु; मूलाधार में रहकर मल-मूत्रादि शरीर से बाहर निकालता है। अपान वायु, नाभि से पैरों के तलुओं तक गति करता है। समान वायु, खाये-पीये पदार्थों का रस शरीर के विभिन्न अंगों में समान रूप से पहुंचाता है। यह वायु हृदय से नाभि तक संचार करता है। उदान वायु, कण्ठ में रहता है और सिर तक आता जाता है। इसी उदान वायु के द्वारा शरीर के व्यक्तिगत प्राण (व्यष्टि-प्राण) का समष्टि प्राण से सम्बन्ध बना रहता है। मृत्यु के समय सूक्ष्म शरीर, उदान प्राणवायु द्वारा स्थूल शरीर से निकलता है। यह वायु धातुगत बोधांशों को धारण करता है। कुछ के मत में उदान वायु शरीर की वृद्धि करता है। उदान की परिभाषा है 'उन्नयनात् इति उदानः' अर्थात् शरीर को उठाये रखने के कारण यह प्राणवायु उदान कहलाता है। सूक्ष्म शरीर के कर्म, गुण, वासनाओं और संस्कारों के अनुसार उदान वायु नये गर्भ में प्रवेश कराता है। योगी, उदान वायु के द्वारा स्थूल शरीर से निकलकर दूसरे लोकों में घूम सकते हैं।

उदान वायु, ओठों, मुख, शरीर और आंखों को चलाता है तथा शरीर के मर्मों को सचेष्ट रखता है -

स्पन्दयत्यधरं वक्त्रं गात्रनेत्र प्रकोपनः।
उद्वेजयति मर्माणि उदानो नाम मारुतः।।

उदान वायु पर अधिकार हो जाने से योगी का शरीर रूई की तरह हल्का हो जाता है और इस पर पानी, कीचड़ तथा कांटों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसा योगी अपनी इच्छा से देह त्यागता है। मरण काल में ऐसे योगी के प्राण ब्रह्मरन्ध्र से निकलने के कारण उसकी ऊर्ध्वगति (शुक्लगति), उत्तर मार्ग (उत्तरायण) से होती है -

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च।।

पातंजल योगसूत्र 3/39

व्यान वायु का शरीर में मुख्य स्थान उपस्थ मूल (लिंग मूल) से ऊपर है। यह वायु शरीर की स्थूल और सूक्ष्म सभी नाड़ियों में गति करता हुआ शरीर के सब अंगों में रक्त का संचार करता है। 'व्यापी इति व्यानः' 'व्याप्नोति सर्वशरीरम्।'

शिवयोगशास्त्र के अनुसार प्राणवायु; मुख, नाक, हृदय, नाभि में, और कुण्डलिनी के चारों ओर तथा पैर के अंगूठों में सदा रहता है। अपान वायु; गुदा, लिंग, जांघों, घुटनों, पेट, पेडू, कमर और नाभि में रहता है। व्यान वायु; कान, नाक, कण्ठ, मुख, गाल और मणिबन्ध (कलाई) में गति करता रहता है। उदान वायु; हाथ-पैरों तथा शरीर के सभी जोड़ों में रहता है। समान वायु; पेट की पाचन शक्ति से पचे हुए रसों को शरीर के सभी अंगों में समान रूप से पहुंचाता है।

उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने स्मृतः।
कृकरः क्षुत्कृज्ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे।। 35।।

पेट से डकार निकालना नाग वायु का काम है। आंखों की पलकों का झपकना कूर्म वायु से होता है। कृकर वायु भूख का अनुभव कराती है और देवदत्त वायु से जम्भाई आती है।

न जहाति मृतं चापि सर्वव्यापी धनञ्जयः।
एते सर्वासु नाडीषु भ्रमन्ते जीवरूपिणः।। 36।।

धनञ्जय वायु सारे शरीर में व्याप्त रहता है। देहान्त हो जाने पर भी धनञ्जय वायु शरीर में रहता है। ये दसों वायु शरीर की सभी नाड़ियों में गति करती रहती हैं।

आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथोच्छलति कन्दुकः।
प्राणापान समाक्षिप्तस्तथा जीवो न तिष्ठति।। 37।।

डण्डे से मारने पर जैसे गेंद उछलती है वैसे ही प्राण और अपान वायु से गतिशील जीव एक जगह नहीं बैठा रहता।

प्राणापान वशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च धावति।
वामदक्षिणमार्गेण चञ्चलत्वान्न दृश्यते।। 38।।

प्राण और अपान वायु के वश में पड़ा हुआ जीव शरीर में ऊपर-नीचे आता-जाता रहता है। प्राण वायु; इडा और पिंगला नाड़ियों के द्वारा नासिका से मूलाधार तक निरन्तर चलता रहता है। प्राण और अपान वायु की गति अत्यधिक चंचल है। प्राणायाम आदि का अभ्यास किये बिना प्राण की गति को वश में नहीं किया जा सकता।

रज्जुबद्धो यथा श्येनो गतोऽप्याकृष्यते पुनः।
गुणबद्धस्तथा जीवः प्राणापानेन कृष्यते।। 39।।

पैर में रस्सी बंधा हुआ बाज उड़कर फिर अपनी जगह आकर बैठ जाता है वैसे ही सत्व, रज और तम इन तीन गुणों से बंधा हुआ जीवात्मा, प्राण और अपान वायु से फिर जाग्रत अवस्था में आ जाता है। भाव यह है कि हमारा शरीर थक जाने पर जब गाढ़ी नींद में सो जाता है या समाधि अवस्था में हमारी बुद्धि ब्रह्म का साक्षात् करने लगती है तब भी हमारे शरीर के तीनों गुणों की वासनाओं से बंधा हुआ जीव फिर जाग्रत अवस्था में आ जाता है।

अपानः कर्षति प्राणं प्राणोऽपानं च कर्षति।
ऊर्ध्वाधः संस्थितावेतौ संयोजयति योगवित्।। 40।।

मूलाधार में स्थित अपान वायु, प्राण वायु को नीचे खींचता है और आज्ञाचक्र में स्थित प्राण वायु, अपान वायु को ऊपर खींचता है। योगी प्राणायाम के द्वारा इन दोनों को शरीर में मिला देते हैं। प्राण-अपान का मिलन ही योग है।

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः।
हंस हंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा।। 41।।

षट् शतानि त्वहोरात्रे सहस्त्राण्येकविंशतिः।
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा।। 42।।

जब हम श्वास छोड़ते हैं तब 'ह' शब्द होता है और श्वास भरते हुए 'स' शब्द होता है। इस तरह हम श्वास भरते और छोड़ते हुए सदा 'हंस' 'हंस' यह

शब्द जपते रहते हैं। एक दिन और एक रात में हम 21600 बार 'हंस' शब्द का जाप अपने आप कर लेते हैं।

अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी।
अस्याः संकल्प मात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते।। 43।।

अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति।। 44।।

श्वास-प्रश्वास करते हुए अपने आप ही हंस शब्द का उच्चारण होता रहता है। 'हंस' शब्द का स्वयं होने वाला जप 'अजपा गायत्री' कहलाता है। इस 'हंस' मन्त्र का ध्यान करने मात्र से ही जीव सभी प्रकार के पापों से छूट जाता है। यह 'अजपा' जप योगियों को मोक्ष दिलाता है। 'हंस' के इस अजपा जप के समान कोई विद्या, कोई जप, कोई ज्ञान न कभी था और न कभी होगा।

यद्यपि हम श्वास-प्रश्वास करते हुए अनजाने ही 'हंस' शब्द का उच्चारण करके हंस के समान निर्मल, विशुद्ध, त्रिगुणातीत परब्रह्म का जप करते रहते हैं किन्तु इस पर कभी ध्यान नहीं देते। यदि हम उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते परब्रह्म का ध्यान मन में करते रहें तो हमारे जीवन का उद्देश्य ही बदल जायगा और हमारी चित्तवृत्ति अन्तर्मुखी होने लगेगी। इसलिये शास्त्रों में यह विधान किया गया है कि हमें प्रातः काल नित्यकर्मों से निबटने के बाद संकल्प करना चाहिये कि मैं पिछले दिन रात की भांति आज भी अजपा जाप करूंगा। ऐसा संकल्प करने से हमारा मन जब भी श्वास-प्रश्वास पर लगेगा तो हम परब्रह्म का ध्यान करेंगे। संकल्प हमारे अवचेतन मन को प्रभावित करता है।

कुण्डलिन्यां समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स वेदवित्।। 45।।

यह अजपा गायत्री कुण्डलिनी शक्ति से उत्पन्न होती है। श्वास भरते और छोड़ते समय अजपा गायत्री का जप होता रहता है इसलिये 'हंस' शब्द का जप हमारे प्राणों का आधार है। श्वास-प्रश्वास का यह अजपा जप जीवात्मा की

शक्ति होने के कारण प्राणविद्या है। यह प्राणविद्या, सबसे बड़ी विद्या है। इस प्राणविद्या को जानने वाला वास्तव में ज्ञानी होता है।

यहाँ प्राणविद्या से अभिप्राय प्राणायाम से है। जो योगी प्राणायाम का ठीक अभ्यास कर अपनी इन्द्रियों और मन को वश में कर लेते हैं उन्हें इस संसार से तनिक भी मोह–ममता नहीं रह जाती। उन्हें संसार की असारता का और इस ब्रह्माण्ड को चलाने वाली परमशक्ति का साक्षात् ज्ञान हो जाता है।

शक्तिचालन

कन्दोर्ध्वे कुण्डली शक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः।
ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनाच्छाद्य तिष्ठति।। 46।।

हमारे शरीर में कन्द के ऊपर अर्थात् मणिपूर चक्र में आठ कुण्डली मारे कुण्डलिनी शक्ति अपने मुख से ब्रह्मरन्ध्र तक पहुंचने के रास्ते को अर्थात् सुषुम्ना नाड़ी के मुख को रोक कर सोयी हुई है।

येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारमनामयम्।
मुखेनाच्छाद्य तद्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी।। 47।।

प्रबुद्धा बुद्धियोगेन मनसा मरुता सह।
सूचीव गुणमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्णया।। 48।।

सुषुम्ना के जिस मार्ग से जन्म-मृत्यु के दुःख को नष्ट करने वाले ब्रह्मद्वार या ब्रह्मरन्ध्र में पहुंचा जाता है उस द्वार को रोक कर कुण्डलिनी शक्ति हमारे शरीर में सोई पड़ी है। इस कुण्डलिनी शक्ति को मन एकाग्र करके और सावधानी के साथ प्राणायाम के अभ्यास से प्राण को वश में करके जगाया जाता है। योगाभ्यास द्वारा प्राण और मन को वश में कर लेने पर कुण्डलिनी शक्ति, सुषुम्ना नाड़ी के रास्ते ब्रह्मरन्ध्र तक उसी तरह चली जाती है जैसे सूई में पिरोया हुआ तागा कपड़े में।

प्रसुप्तभुजगाकारा पद्मतन्तुनिभा शुभा।
प्रबुद्धा वह्नियोगेन व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्णया।। 49।।

कुण्डलिनी सोये हुए सांप जैसी और कमलनाल के तन्तु जैसी सूक्ष्म है। वह कल्याणकारिणी है। प्राणायाम के द्वारा अपानवायु की धौंकनी से प्रज्वलित

कालाग्नि की गर्मी से मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी शक्ति जाग जाती है और सुषुम्ना के रास्ते ऊपर ब्रह्मरन्ध्र में पहुंच जाती है।

उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात्।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत्।। 50।।

जैसे चाबी से ताला खोलकर बन्द दरवाजा खोल दिया जाता है उसी तरह योगी कुण्डलिनी शक्ति को ब्रह्मरन्ध्र में पहुंचा कर मोक्ष का मार्ग खोल देता है।

शक्तिचालनमुद्रा

कृत्वा सम्पुटितौ करौ दृढतरं बध्वा तु पद्मासनम्।
गाढं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यानं च तच्चेतसि।
वारम्वारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चारयेत्पूरितम् -
मुञ्चन्प्राणमुपैतिबोधमतुलं शक्ति प्रभावादतः।। 51।।

दोनों हाथों की हथेलियां एक दूसरी के ऊपर रखकर, अच्छी तरह पद्मासन लगाकर और ठोडी को कण्ठकूप में लगाकर अर्थात् जालन्धर बन्ध लगाकर, मन में परमात्मा का ध्यान करना चाहिये। मूलाधार बन्ध लगाकर अपान वायु को ऊपर प्राणवायु में मिला कर कुम्भक प्राणायाम करना चाहिये। फिर धीरे धीरे रेचक करना चाहिये। कुण्डलिनी शक्ति को जगाने वाली यह शक्तिचालन मुद्रा है।

शक्तिचालन मुद्रा का बहुत समय तक निरन्तर अभ्यास करने से सोई हुई कुण्डलिनी शक्ति जागकर सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाती है।

अंगानां मर्दनं कृत्वा श्रमसञ्जातवारिणा।
कट्वम्ललवणत्यागी क्षीरभोजनमाचरेत्।। 52।।

ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी योगपरायणः।
अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा।। 53।।

शक्तिचालन मुद्रा के अभ्यास में प्राणायाम करने से आये पसीने से शरीर के अंगों की मालिश करनी चाहिये। कुण्डलिनी जागरण का अभ्यास करने वाले साधक को कड़वे, खट्टे और नमकीन पदार्थ नहीं खाने चाहियें। उसे केवल दूध पीना चाहिये। मिताहार अर्थात् नपा-तुला भोजन करना चाहिये।

ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना चाहिये। काम, क्रोध, लोभ और मोह आदि से दूर रहना चाहिये। योगाभ्यास लगातार करते रहना चाहिये। इन नियमों का पालन करने वाला साधक एक वर्ष की साधना के बाद कुण्डलिनी शक्ति को निश्चय ही जगा सकता है। इस बारे के कोई सन्देह नहीं करना चाहिये।

मिताहार

सुस्निग्धो मधुराहारी चतुर्थांशविवर्जितः।
भुज्यते स्वरसं प्रीत्यै मिताहारी स उच्यते।। 54।।

स्निग्ध (चिकना) अर्थात् घी वाला और मीठा भोजन भूख से कम करना चाहिये। चतुर्थांशविवर्जित का अर्थ है कि पेट में जितनी जगह हो या जितनी भूख हो उसका आधा भाग अन्न खाना चाहिये और चौथाई भाग पानी पीना चाहिये। चौथा भाग खाली छोड़ देना चाहिये ताकि पेट में वायु के आने जाने के लिये स्थान रहे। साधक यदि दूध पर ही निर्भर रहे तो साधना बहुत अच्छी चलती है। साधक को अपना भोजन प्रभु को निवेदित करके करना चाहिये। ऐसा साधक मिताहारी कहलाता है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपनी जीवन कथा में लिखा है कि 'कोई कोई योगी प्रतिदिन जलमिश्रित दूध पीने से भी बल प्राप्त करते हैं। मैं योग शिक्षा के सुदीर्घ काल में दुग्धपान करके ही सबल और स्वस्थ रहा था।'

कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिः शुभमोक्षप्रदायिनी।
बन्धाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स वेदवित्।। 55।।

कन्द के ऊपर स्थित कुण्डलिनी शक्ति कल्याणकारी मोक्ष प्रदान करने वाली है। मूर्खों को यह शक्ति जन्म-मरण के बन्धन में बांधे रखती है। इस शक्ति को जो साधक जानता है वही सच्चा ज्ञानी है।

हठयोगप्रदीपिका के अनुसार शक्तिचालन मुद्रा

गङ्गायमुनयोर्मध्ये बालरण्डा तपस्विनी।
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम्।।

हठ० प्र० 3/109

गंगा अर्थात् इडा नाड़ी (बांये सुर) और यमुना अर्थात् (दायें सुर) नाड़ी के बीच में तपस्विनी बालविधवा (बालरण्डा = सुषुम्ना) सुषुम्ना नाड़ी है। बलात्कार अर्थात् हठयोग का प्रयत्न-पूर्वक अभ्यास करके सुषुम्ना नाड़ी में प्राण का प्रवेश कराना चाहिये। सुषुम्ना में प्राण का प्रवेश विष्णु अर्थात् विश्वव्यापी परमात्मा के परम पद अर्थात् मोक्ष को दिलाने वाला है।

इडा भगवती गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी।
इडापिङ्गलयोर्मध्ये बालरण्डा च कुण्डली।। हठ० प्र० 3/110

नाक के सुर की बायीं नाड़ी इडा को गंगा कहते हैं और दायें सुर की नाड़ी पिंगला, यमुना कहलाती है। इडा और पिंगला इन दो नाड़ियों के बीच बालविधवा (बालरण्डा) कुण्डलिनी नाड़ी है।

कन्द और उसका स्थान

ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरङ्गुलम्।
श्वेतं तु मृदुलं प्रोक्तं वेष्टितं वरलक्षणम्।।

हठ० प्र० 3/113.

याज्ञवल्क्य के अनुसार गुदा से दो अंगुलि ऊपर और मेढ्र अर्थात् लिंगमूल से दो अंगुलि नीचे मनुष्यों के शरीर का मध्यभाग होता है। शरीर के मध्य भाग से नौ अंगुलि ऊपर कंद का स्थान है। यह कंद चार अंगुलि चौड़ा और चार अंगुलि लम्बा होता है। इसकी शक्ल अण्डे जैसी होती है और यह चमड़ी अर्थात् त्वक् और नाड़ियों आदि के गुच्छे जैसा होता है। चौपायों, पक्षियों और सांपों आदि के शरीर में कंद उनके पेट के बीच में होता है -

गुदात्तु द्व्यंगुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यंगुलादधः।
देहमध्यं तनोर्मध्यमनुजानामितीरितम्।।
कंदस्थानं मनुष्याणां द्देहमध्यान्नवागुंलम्।
चतुरंगुलिविस्तारमायामं च तथाविधम्।।
अंडाकृतिवदाकारभूषितं च त्वगादिभिः।
चतुष्पदां तिरश्चां च द्विजानां तुन्दमध्यगम्।।

याज्ञवल्क्य के उपरोक्त वर्णन के अनुसार मनुष्य के शरीर के मध्यभाग से नौ अंगुलि ऊपर कन्द का स्थान होता है। हठयोगप्रदीपिका के उपरोक्त श्लोक के अनुसार मूलाधार से एक बालिश्त ऊपर कन्द का स्थान बताया गया है। गोरक्षपद्धति के प्रथम शतक के चौबीसवें श्लोक में कंद का स्थान मेढ्र अर्थात् लिंगमूल से ऊपर और नाभि से नीचे **ऊर्ध्वं मेढ्रादधोः नाभेः कंदयोनिः खगाण्डवत्** बतलाया गया है। इस प्रकार गोरक्षपद्धति और हठयोगप्रदीपिका में कंद का स्थान याज्ञवल्क्य के वर्णन से मिलता जुलता ही है। याज्ञवल्क्य के अनुसार कंद गुदा से ग्यारह अंगुलि ऊपर होता है। यही बात हठयोग प्रदीपिका के 'ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रम्' में कही गई है। हठयोग प्रदीपिका में भी कन्द को चार अंगुल चौड़ा बतलाया गया है। हठयोग प्रदीपिका के अनुसार कन्द मुलायम, सफेद और कपड़े में लिपटा हुआ सा है।

शक्ति चालन मुद्रा में कन्द को दबाया जाता है। शक्तिचालन मुद्रा कैसे की जाती है यह निम्नलिखित श्लोक में बताया गया है –

सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम्।
गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत्।।

हठ० प्र० 3/114

वज्रासन में बैठकर एड़ियों के पास पैरों को हाथों से पकड़कर कन्द को जोर से दबाना चाहिये।

घुटने मोड़कर और पैरों के तलुओं को गुदा से लगाकर सीधे बैठने से वज्रासन होता है। नमाज पढ़ते हुए मुसलमान इसी तरह बैठते हैं। वज्रासन में बैठकर एड़ी के पास पैरों को हाथों से पकड़कर आगे झुकने से कन्द पर दबाव पड़ता है।

वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा तु कुण्डलीम्।
कुर्यादनन्तरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत्।।

हठ० प्र० 3/115

वज्रासन में बैठकर शक्तिचालन मुद्रा करने के बाद भस्त्रा कुम्भक प्राणायाम करने से कुण्डलिनी शक्ति जल्दी ही जाग जाती है।

भानोराकुञ्चनं कुर्यात्कुण्डलीं चालयेत्ततः।
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः।।

हठ० प्र० 3/116

भानु अर्थात् सूर्य के स्थान नाभि को अन्दर की ओर खींचकर शक्ति चालन मुद्रा से कुण्डलिनी को चलाना चाहिये। शक्तिचालन मुद्रा का अभ्यास करने वाला यदि मृत्यु के मुंह में भी पड़ गया हो तो उसे मृत्यु का डर नहीं रहता अर्थात् उसकी मृत्यु नहीं होती।

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ।
ऊर्ध्वमाकृष्यते किञ्चित्सुषुम्णायां समुद्गता।।

हठ० प्र० 3/117

निडर होकर दो मुहूर्त तक अर्थात् चार घड़ी तक शक्तिचालन मुद्रा का निरन्तर अभ्यास करने से सुषुम्णा नाड़ी में कुण्डलिनी कुछ ऊपर चढ़ जाती है।

तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्णायां मुखं ध्रुवम्।
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्णां व्रजति स्वतः।।

हठ० प्र० 3/118

शक्तिचालन मुद्रा के अभ्यास से कुण्डलिनी शक्ति जागृत होकर सुषुम्ना नाडी के द्वार के हट जाती है। तब प्राणवायु अपने आप ही सुषुम्ना में चली जाती है।

तस्मात्सञ्चालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुन्धतीम्।
तस्याः सञ्चालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते।।

हठ० प्र० 3/119

इसलिये योगी को आराम से सोती हुई कुण्डलिनी को प्रतिदिन जगाना या चलाना चाहिये। कुण्डलिनी शक्ति को चलाने से योगी सभी रोगों से छूट जाता है।

येन सञ्चालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम्।
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया।।

हठ० प्र० 3/120

जो योगी शक्तिचालन मुद्रा से कुण्डलिनी को जगा लेता है उसे अणिमा आदि सिद्धियां मिल जाती हैं। ऐसा योगी बड़ी आसानी से मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है।

कुण्डलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः।
एवमभ्यसतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः।।

हठ० प्र० 3/122

शक्तिचालन मुद्रा करके योगी को भस्त्रा प्राणायाम करना चाहिये। यह अभ्यांस करने वाले योगी को मृत्यु का भय नहीं रहता।

इयं तु मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनाम्।
आसन प्राणसंयाम मुद्राभिः सरला भवेत्।।

हठ० प्र० 3/124

इडा और पिंगला के बीच में स्थित सुषुम्ना नाडी आसनों, मुद्राओं और प्राणायाम के बहुत समय तक लगातार अभ्यास करने से सीधी हो जाती है।

कुछ साधकों के अनुसार शक्तिचालन मुद्रा वज्रासन में बैठकर नहीं अपितु पद्मासन या सिद्धासन लगाकर करनी चाहिये। पद्मासन या सिद्धासन में बैठकर हाथों की दोनों हथेलियां जमीन पर जमा देनी चाहियें। फिर हथेलियों के सहारे सारा शरीर उठाकर दोनों नितम्बों को पृथ्वी पर मारना चाहिये। ऐसा 20–25 बार करके जो भी स्वर चल रहा हो उससे पूरक करके यथाशक्ति कुम्भक करना चाहिये। कुम्भक के समय मूलबन्ध, जालन्धर बन्ध और उड्डीयान बन्ध लगाने चाहियें। फिर रेचक करना चाहिये। इस प्रकार प्राणायाम का अभ्यास लगातार करना चाहिये।

घेरण्डसंहिता में शक्तिचालन मुद्रा करते समय एक बालिश्त लम्बा और चार अंगुलि चौड़ा पतला मुलायम और सफेद कपड़ा नाभि पर बांधने का विधान हैः –

वितस्तिप्रमितं दीर्घं विस्तारे चतुरङ्गुलम्।
मृदुलं धवलं सूक्ष्मं वेष्टनाम्बरलक्षणम्।।
एवमम्बरयुक्तं च कटिसूत्रेण योजयेत्।।

घेरण्ड 3/48

घेरण्ड संहिता के अनुसार सिद्धासन लगाकर कुम्भक करना चाहिये और कुम्भक में अश्विनी मुद्रा से गुदा को सिकोड़ना तथा खोलना चाहिये।

महामुद्रां नभोमुद्रां उड्डीयानं जलन्धरम्।
मूलबन्धञ्च यो वेत्ति स योगी मुक्तिभाजनः।। 56।।

जो योगी महामुद्रा, आकाशमुद्रा (खेचरीमुद्रा) तथा उड्डीयान, जलन्धर और मूलबन्ध इन तीन बन्धों को जानता है, और इनका अभ्यास करता है, वह मुक्ति पाने योग्य हो जाता है।

महामुद्रा, आकाश मुद्रा या खेचरीमुद्रा और उड्डीयान, जलन्धर तथा मूलबन्ध, इन पांचों का अभ्यास करने के बाद शक्तिचालन मुद्रा का अभ्यास करने से कुण्डलिनी शक्ति जगाने में सहायता मिलती है। जब प्राणवायु सुषुम्ना में चलने लगता है तब कमर में ऊपर-नीचे, दायें-बायें चींटी चलने जैसा अनुभव होने लगता है।

महामुद्रा

वक्षोन्यस्त हनुः प्रपीड्य सुचिरं योनिं च वामांघ्रिणा
हस्ताभ्यामनुधारयेत् प्रसरितं पादं तथा दक्षिणम्।
आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बद्ध्वा शनैः रेचयेदेषा-
व्याधिविनाशिनी सुमहती मुद्रा नृणां कथ्यते।। 57।।

ठोडी को कण्ठकूप में लगाकर जलन्धर बन्ध लगाना चाहिये। बायें पैर की एड़ी से योनिस्थान को जोर से दबाना चाहिये। दायां पैर आगे फैलाकर दोनों हाथों से पैर की अंगुलियां पकड़नी चाहियें। अब पूरक करके थोड़ी देर तक कुम्भक करना चाहिये। फिर रोका हुआ श्वास धीरे-धीरे निकाल देना चाहिये।

इस महामुद्रा का अभ्यास करने से शरीर के सारे रोग नष्ट हो जाते हैं।

चन्द्राङ्गेन समभ्यस्य सूर्याङ्गेनाभ्यसेत् पुनः।
यावत्तुल्या भवेत् संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत्।। 58।।

बायीं ओर से अर्थात् बायें पैर की एड़ी से योनिस्थान दबाकर महामुद्रा जितनी बार की जाय उतनी ही बार दायें पैर की एड़ी से योनिस्थान को दबाकर और बायां पैर फैलाकर प्राणायाम सहित महामुद्रा का अभ्यास करना चाहिये।

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते।। 59।।

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
रोगास्तस्य क्षयं यान्ति महामुद्रां च योऽभ्यसेत्।। 60।।

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम्।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित्।। 61।।

महामुद्रा का अभ्यास पक्का हो जाने पर योगी के लिये पथ्य (हितकर) और अपथ्य (शरीर को नुकसान पहुंचाने वाला भोजन) का कोई विचार नहीं रह जाता। कड़वे, मीठे, खट्टे, चरपरे सभी तरह के पदार्थ उसके पेट में पच जाते हैं। यदि कभी विष भी पेट में चला जाये तो वह भी अमृत की तरह पच जाता है। महामुद्रा का अभ्यास करने वाले के शरीर से कोढ़, तपेदिक, बवासीर आदि गुदा के रोग, पेट की गांठ, और अपचन आदि सारे रोग नष्ट हो जाते हैं। महामुद्रा मनुष्यों के लिये बहुत लाभदायक है किन्तु इस मुद्रा को किसी अनुचित, दुष्ट या अहंकारी व्यक्ति को नहीं बताना चाहिये, क्योंकि वह इसका अनुचित लाभ उठाने से नहीं हिचकेगा।

कुछ साधकों के अनुसार महामुद्रा की दूसरी विधि इस प्रकार है –

बायें पैर की एड़ी से योनिस्थान दबाना चाहिये। दायां पैर सामने फैलाकर दोनों हाथों से पैर का अंगूठा पकड़ना चाहिये और माथा दायें पैर के घुटने पर लगाना चाहिये। फिर यथाशक्ति कुम्भक करना चाहिये। थोड़ी देर बाद माथा ऊपर कर श्वास धीरे धीरे निकालना चाहिये। इसी तरह दायें पैर की एड़ी योनिस्थान पर लगाकर बायां पैर फैलाकर और घुटने पर माथा लगाकर कुम्भक करना चाहिये।

खेचरी मुद्रा

कपाल कुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी।। 62।।

काग या छोटी जीभ के पीछे जीभ ले जाकर जीभ को ऊपर खाली जगह में ले जा कर खेचरी मुद्रा की जाती है। अभ्यास करने से जीभ; भौहों के बीच तक पहुंच जाती है। खेचरी मुद्रा लगाते समय भौंहों के बीच में देखना चाहिये।

न रोगान्मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा।
न मूर्च्छा तु भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्।। 63।।

खेचरी मुद्रा का अभ्यास करने वाले की किसी बीमारी से मृत्यु नहीं होती। उसे भूख, प्यास और नींद नहीं सताती। न ही ऐसा व्यक्ति कभी बेहोश होता है।

पीड्यते न च शोकेन न च लिप्येत कर्मणा।
बाध्यते न स केनापि यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्।। 64।।

जो व्यक्ति खेचरी मुद्रा लगाना जानता है उसे कोई दुख और शोक नहीं सताता। वह कर्मफल के बन्धन में नहीं पड़ता। उसे मृत्यु आदि किसी बाधा का भी सामना नहीं करना पड़ता।

चित्तं चलति यस्माज्जिह्वा चरति खेचरी।
तेनेयं खेचरी सिद्धा सर्वसिद्धैर्नमस्कृता।। 65।।

खेचरी मुद्रा लगाने पर मन भौंहों के बीच खाली स्थान ख (आकाश) पर एकाग्र हो जाता है और जीभ भी इसी स्थान पर लगी रहती है। इसीलिये सिद्ध योगियों ने इस मुद्रा को खेचरी कहा है।

वीर्य का महत्त्व

बिन्दुमूलं शरीराणां शिरास्तत्र प्रतिष्ठिताः।
भावयन्ति शरीराणामापादतलमस्तकम्।। 66।।

सभी प्राणियों के शरीर का आधार बिन्दु अर्थात् वीर्य है। प्राणियों के शरीरों में सिर से लेकर पैर के तलुओं तक नस-नाड़ियों का जाल फैला हुआ है। हमारे शरीर की इन नस नाड़ियों में वीर्य व्याप्त है जिसके कारण शरीर की नस-नाड़ियां शक्ति पाकर शरीर को जीवित रख रही हैं।

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः।
न तस्य क्षरते बिन्दुः कामिन्यालिङ्गितस्य च।।67।।

जो योगी खेचरी मुद्रा से कोमल तालु (लम्बिका) के ऊपर छेद को जीभ से ढक लेता है उसका वीर्य स्त्री का आलिंगन करने पर भी नहीं गिरता है।

यावद् बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्यु भयं कुतः।
यावद् बद्धा नभोमुद्रा तावद् बिन्दुर्न गच्छति।।68।।

शरीर में जब तक वीर्य रहता है तब तक मृत्यु का भय नहीं होता। जबतक योगी खेचरी मुद्रा लगाये रहता है तबतक उसका वीर्य स्खलित नहीं होता या नहीं गिरता।

चलितोऽपि यदा बिन्दुः सम्प्राप्तश्च हुताशनम्।
व्रजत्यूर्ध्वं हृतः शक्त्या निरुद्धो योनिमुद्रया।।69।।

यदि वीर्य स्खलित होकर नाभि में स्थित अग्नि तक पहुंच भी जाता है तो भी वीर्य वज्रोली मुद्रा (योनिमुद्रा) की शक्ति से खिंचकर सुषुम्ना के द्वारा ऊपर ब्रह्मरन्ध्र में पहुंच जाता है। हठयोगप्रदीपिका का श्लोक 3/43 भी इसी श्लोक जैसा है। वहाँ 'हुताशनम्' के स्थान पर 'योनिमण्डलम्' शब्द है। जिसका अर्थ है कि स्त्री की योनि में वीर्य गिरने पर भी योगी वज्रोली मुद्रा से गिरे हुए वीर्य को फिर खींच लेता है।

यह अर्थ अधिक युक्तियुक्त है क्योंकि वज्रोली मुद्रा का मुख्य कार्य स्त्री-योनि में पहुंचे हुए वीर्य को फिर खींचना ही है। यहाँ पर 'हुताशन' का अर्थ कुछ टीकाकारों ने नाभि में स्थित सूर्यमण्डल किया है। यह अर्थ प्रसंग के अनुसार संगत नहीं लगता। अगले श्लोकों में रज और वीर्य का वर्णन है और कहा गया है कि रज, नाभि में रहता है। वज्रोली, सहजोली और अमरोली मुद्राओं का उद्देश्य स्त्री की योनि में मिले रज और वीर्य को खींचना ही है। इस प्रकार 'हुताशन' का अर्थ भी स्त्री की नाभि में स्थित रज को खींचना ही लगता

है, क्योंकि गर्भाशय में रज और डिम्ब होते हैं और गर्भाशय, नाभि के पास ही होता है।

स पुनर्द्विविधो बिन्दुः पाण्डुरो लोहितस्तथा।
पाण्डुरः शुक्रमित्याहुलोहिताख्यो महारजः।। 70।।

बिन्दु, सफेद और लाल दो रंगों का होता है। सफेद बिन्दु को वीर्य कहते हैं और लाल बिन्दु को रज।

सिन्दूर द्रव संकाशं नाभिस्थाने स्थितं रजः।
शशिस्थाने स्थितो बिन्दुस्तयोरैक्यं सुदुर्लभम्।। 71।।

सूर्य के स्थान नाभि में सिन्दूर के रंग जैसा लाल रज रहता है और चन्द्रमा के स्थान कण्ठ में वीर्य रहता है। रज और वीर्य का मिलना बहुत कठिन होता है।

बिन्दुः शिवो रजः शक्तिश्चन्द्रो बिन्दू रजो रविः।
अनयोः संगमादेव प्राप्यते परमं पदम्।। 72।।

बिन्दु अर्थात् वीर्य, शिव है और रज, शक्ति है। अथवा चन्द्र, बिन्दु है और रज, सूर्य। शिव और शक्ति के संयोग से परम पद प्राप्त होता है। अथवा प्राणवायु और अपानवायु या जीवात्मा-परमात्मा का ऐक्य होने पर योगी परमपद को प्राप्त कर लेता है। सृष्टि रचना में स्त्री-पुरुष के रज और वीर्य के संयोग से नया प्राणी जन्म लेता है शक्ति और शिव का यह संयोग संसार का कल्याण करता है।

वायुना शक्तिचारेण प्रेरितं तु यदा रजः।
याति बिन्दोः सहैकत्वं भवेद् दिव्यं वपुस्ततः।। 73।।

शक्तिचालन मुद्रा से प्रेरित प्राणवायु से जब रज और वीर्य मिल जाते हैं तब योगी का शरीर दिव्य बन जाता है।

शुक्रं चन्द्रेण संयुक्तं रजः सूर्येण संयुतम्।
तयोः समरसैकत्वं यो जानाति स योगवित्।। 74।।

शुक्र या वीर्य का सम्बन्ध चन्द्र से है और रज का सूर्य से। जो व्यक्ति रज और वीर्य को या इडा अर्थात् चन्द्रनाडी की और पिंगला अर्थात् सूर्यनाडी की प्राणवायु को मिलाना जानता है वही योगी है।

इस प्रकरण के प्रायः सभी श्लोक तान्त्रिक क्रियाओं से सम्बद्ध हैं और योग के वास्तविक उद्देश्य मन की एकाग्रता से दूर। इसीलिये साधक वज्रोली, सहजोली और अमरोली मुद्राओं के फेर में पड़कर योगभ्रष्ट हो जाता है और उसका शरीर रोगग्रस्त हो जाता है। खेचरी मुद्रा, मन एकाग्र करने में सहायक अवश्य है किन्तु इसका प्रयोग वीर्य स्खलित न होने देने में नहीं करना चाहिये। प्राणायाम और ध्यान का अभ्यास खेचरी मुद्रा सहित करना उपयोगी होता है।

महामुद्रा के लाभ

शोधनं नाडिजालस्य चालनं चन्द्रसूर्ययोः।
रसानां शोषणं चैव महामुद्राभिधीयते।। 75।।

महामुद्रा का अभ्यास करने से शरीर की नस-नाड़ियों की शुद्धि या सफाई हो जाती है और शरीर नीरोग हो जाता है। नाड़ी-शोधन हो जाने से चन्द्र और सूर्य स्वरों में अर्थात् इडा और पिंगला नाड़ियों में प्राण सरलता से चलने लगता है तथा प्राणायाम का अभ्यास आसानी से होने लगता है और कुम्भक की अवधि बढ़ने लगती है। महामुद्रा का अभ्यास करने से अजीर्ण और प्रमेह आदि रोग भी नष्ट हो जाते हैं और भूख बढ़ जाती है। इस प्रकार पाचन शक्ति बढ़ने से खाये-पीये भोजन का रस शरीर में व्याप्त होकर शरीर को भली भांति पुष्ट और स्वस्थ रखता है।

तीन बन्ध

उड्डीयान बन्ध

उड्यानं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगम्।
उड्डीयानं तदेव स्यान्मृत्युमातंगकेसरी।।76।।

उड्डीयान बन्ध लगाने का अभ्यास करने से प्राणवायु रूपी पक्षी बिना कहीं रुके सुषुम्ना नाड़ी में चला जाता है इसीलिये यह बन्ध उड्डीयान कहलाता

है। यह बन्ध मृत्युरूपी हाथी के लिये शेर जैसा है अर्थात् उड्डीयान बन्ध का अभ्यास मृत्यु को दूर रखता है।

उदरात्पश्चिमे भागे अधो नाभेर्निगद्यते।
उड्डीयानो ह्ययं बन्धस्तत्र बन्धो निगद्यते।। 77।।

उड्डीयान बन्ध में नाभि से नीचे का पेट पीछे अर्थात् पीठ से लगाया जाता है। उड्डीयान बन्ध पेट को पीछे ले जा कर या अन्दर खींचकर लगाया जाता है।

उड्डीयान बन्ध लगाने का अभ्यास शुरू करने के लिये सबसे पहिले पैर थोड़े खोलकर खड़े हो जाना चाहिये। फिर हाथों को घुटनों पर रखकर कुछ आगे झुक जाना चाहिये। अब श्वास को बाहर निकाल कर खाली पेट को पीठ की ओर खींचना चाहिये, ऐसा करने से पेट में गड्ढा सा दीखने लगता है। सांस जितनी देर तक रुक सके उतनी देर तक पेट को पीठ से सटाये रखने का प्रयत्न करना चाहिये। फिर श्वास भरकर पेट को सामान्य स्थिति में ले आना चाहिये। थोड़ी देर तक आराम करके उड्डीयान-बन्ध का अभ्यास फिर करना चाहिये। यह बन्ध खाली पेट ही लगाना चाहिये। कुछ खाने के बाद यह बन्ध नहीं लगाना चाहिये। उड्डीयान बन्ध लगाने से पेट की आतें और आमाशय आदि पेट के सभी अंग ठीक काम करने लगते हैं। इसलिये पेट के रोग दूर होते हैं। भूख बढ़ जाती है। फेफड़े भी शक्तिशाली हो जाते हैं तथा प्राण-वायु पर नियन्त्रण करने का अभ्यास भी बढ़ता है। यह बन्ध खोलते समय पेट पर या फेफड़ों पर झटका नहीं लगना चाहिये।

खड़े होकर देरतक उड्डीयान बन्ध लगाने का अभ्यास हो जाने पर यह बन्ध पद्मासन या सिद्धासन में बैठकर प्राणायाम का अभ्यास करते हुए लगाया जाता है।

जालन्धर बन्ध

बध्नाति हि शिराजालं नाधो याति नभोजलम्।
ततो जालंधरो बन्धो कण्ठदुःखौघनाशनः।। 78।।

जालन्धर बन्ध कण्ठ (गले) की सभी नाड़ियों को बांधे रखता है। यह बन्ध लगाने से ब्रह्मरन्ध्र की पीयूष ग्रन्थि से निकलने वाला अमृत-रस पेट की

अग्नि (जठराग्नि) में पड़कर नष्ट नहीं होता। जालन्धर बन्ध लगाने का अभ्यास करने से गले के सभी रोग नष्ट हो जाते हैं।

जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति।। 79।।

कण्ठकूप में ठोडी को सटाकर जालन्धर बन्ध लगाने से ब्रह्मरन्ध्र की पीयूष ग्रन्थि से निकलने वाला अमृत रस पेट की अग्नि में जाकर नष्ट नहीं हो जाता। जालन्धर बन्ध लगाने से शरीर में वायु विकार से होने वाले रोग नहीं रहते।

कण्ठ को सिकोड़कर ठोडी को कण्ठकूप में दबाकर लगाने से जालन्धर बन्ध लग जाता है। प्राणायाम में पूरक करने के बाद कुम्भक के समय जालन्धर बन्ध लगाया जाता है। कुम्भक का अभ्यास बढ़ने पर जालन्धर, उड्डीयान और मूल ये तीनों ही बन्ध एक साथ लगाने से प्राणायाम का लाभ अधिक होता है।

गले के नाड़ी जाल को दबाने (बांधने) के कारण इस बन्ध को जालन्धर बन्ध कहते हैं। कण्ठ पर दबाव पड़ने के कारण इडा और पिंगला नाड़ियां बन्द हो जाती हैं और प्राणवायु सुषुम्ना में प्रवेश करने लगता है। थायराइड ग्लैण्ड के रोगियों के लिये जालन्धर बन्ध का अभ्यास लाभप्रद है।

मूलबन्ध

पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम्।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धो विधीयते।। 80।।

पैर की एड़ी से योनिस्थान को दबाकर गुदा को सिकोड़ना चाहिये और अपान वायु को ऊपर उठाना चाहिये। ऐसा करने से मूलबन्ध लग जाता है।

अपानप्राणयोरैक्यात् क्षयो मूत्रपुरीषयोः।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात्।। 81।।

मूलबन्ध का निरन्तर अभ्यास करने से प्राण और अपान वायु आपस में मिल जाते हैं और इस कारण शरीर में मल-मूत्र की मात्रा घट जाती है। वृद्ध व्यक्ति भी मूलबन्ध लगाने का अभ्यास करके युवा हो जाता है।

मूलबन्ध के साथ उड्डीयान बन्ध लगाने से अपान वायु को प्राणवायु के साथ मिलाने में आसानी हो जाती है। सिद्धासन में बैठकर मूलबन्ध अच्छी प्रकार लगता है। मूलबन्ध लगाने से कब्ज दूर होता है, भूख खुलकर लगती है और वीर्य की रक्षा होती है। मूलबन्ध का अभ्यास रीढ़ की हड्डी को नीचे से ऊपर तक प्रभावित करता है। मूलबन्ध न केवल पेट के अंगों को अपितु हृदय को भी प्रभावित करता है। रीढ़ की हड्डी या सारे मेरुदण्ड को प्रभावित करने के कारण मूलबन्ध सभी चक्रों को भी प्रभावित करता है। मूलबन्ध लगाने का अभ्यास कभी भी किया जा सकता है।

प्रणव अभ्यास

पद्मासनं समारुह्य समकायशिरोधरः।
नासाग्रदृष्टिरेकान्ते जपेदोङ्कारमव्ययम्।। 82।।

एकान्त स्थान पर पद्मासन में बैठकर शरीर, सिर, और गर्दन सीधी रखनी चाहिये। नाक के अगले भाग पर दृष्टि जमा देनी चाहिये और अविनाशी परब्रह्म के नाम ओ३म् का जाप करना चाहिये।

भूर्भुवः स्वरिमे लोकाः सोमसूर्याग्निदेवताः।
यस्य मात्रासु तिष्ठन्ति तत्परं ज्योतिरोमिति।। 83।।

जिस प्रणव अर्थात् ओ३म् के अ, उ, और म् इन तीन वर्णों में भूः (पृथिवी), भुवः (अन्तरिक्ष) और स्वः (द्यु) लोक तथा चन्द्र, सूर्य, और अग्नि देवता रहते हैं। इस ओ३म् में संसार को बनाने वाली सर्वोत्कृष्ट शक्ति अर्थात् परमात्मशक्ति रहती है। भावार्थ यह है कि ओ३म् के अ, उ और म् इन तीन वर्णों से पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यु लोक और इन लोकों के देवता (शक्तियां) अग्नि, चन्द्र और सूर्य का स्मरण करने के साथ ही इन लोकों और शक्तियों को बनाने वाले सर्वशक्तिमान परमात्मा का भी स्मरण और ध्यान किया जाता है इसीलिये प्रणव जप सबसे श्रेष्ठ जप है।

त्रयः कालास्त्रयो वेदास्त्रयो लोकास्त्रयः स्वराः।
त्रयोः देवाः स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति।। 84।।

ओ३म् नाम की इस परम ज्योति में भूत, भविष्य और वर्तमान ये तीनों काल; ऋग्, यजुः और साम ये तीनों वेद, पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यु ये तीनों लोक और उदात्त, अनुदात्त, स्वरित ये तीनों स्वर, तथा इन लोकों के तीनों देवता रहते हैं। अभिप्राय यह है कि ओ३म् का उच्चारण या जप करने पर हम परमात्मा को स्मरण करके उनके बनाये हुए लोकों का, वेद के रूप में दिये गये ज्ञान का, वेदमंत्रों का ठीक तरह पाठ करने के लिये आवश्यक उदात्त, अनुदात्त और स्वरित इन तीन मुख्य स्वरों का तथा भूत, भविष्य, वर्तमान इन तीनों कालों का और अग्नि, चन्द्र, सूर्य, या ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन तीन देवताओं का भी स्मरण करते हैं। परमात्मा, इस सारे संसार को बनाते हैं। इस संसार के सभी प्राणियों और वृक्ष वनस्पतियों का पालन पोषण करते हैं और समय आने पर सारे संसार का नाश कर नयी सृष्टि का निर्माण करते हैं। उत्पत्ति, पालन और संहार, परमात्मा के इन तीन रूपों या शक्तियों के प्रतीक ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश हैं।

क्रिया इच्छा तथा ज्ञानं ब्राह्मी रौद्री च वैष्णवी।
त्रिधाः शक्ति स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति।। 85।।

इस प्रणव अर्थात् ओ३म् अक्षर में परमात्मशक्ति की क्रिया, इच्छा और ज्ञान की शक्तियां समायी हुई हैं और उत्पत्ति (ब्राह्मी), पालन (वैष्णवी) और संहार (रौद्री) ये तीन शक्तियां भी समायी हुई हैं। भावार्थ यह है कि सृष्टि बनाने से पहिले परमात्मा सृष्टि बनाने की इच्छा या कामना या संकल्प करते हैं। फिर सृष्टि का निर्माण (क्रिया) करते हैं और यह सृष्टि चलाने के लिये वेदों का ज्ञान मनुष्य को प्रदान करते हैं।

अकारश्च उकारश्च मकारो बिन्दुसंज्ञकः।
त्रिधा मात्रा यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति।। 86।।

इस परम ज्योति का नाम ओ३म् तीन मात्राओं या तीन वर्णों से मिलकर बनता है। ये तीन मात्राएं या वर्ण, अ, उ और म् हैं।

वचसा तज्जपेद्बीजं वपुषा तत्समभ्यसेत्।
मनसा तत्स्मरेन्नित्यं तत्परं ज्योतिरोमिति।। 87।।

हमें इस परम प्रकाशमान ज्योतिस्वरूप परमात्मा के ओ३म् नाम का अपनी वाणी से सदा जप करना चाहिये। प्राणायाम आदि योगाभ्यास और शरीर से संसार के काम करते हुए परमात्मा का ध्यान सदा करना चाहिये। परमात्मा का स्मरण करने के लिये मन ही मन ओ३म् जपते रहना चाहिये।

शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि योजयेत् प्रणवं सदा।
न स लिप्यति पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।। ८८।।

हमारा शरीर और मन, चाहे शुद्ध हो या अशुद्ध हमें प्रणव जप सदा करते रहना चाहिये। प्रणव जप करते रहने से हम पापों से उसी प्रकार छूट जायेंगे जैसे पानी में रहते हुए भी कमल का पत्ता पानी से अलग रहता है या पानी कमल के पत्ते पर ठहरने नहीं पाता है।

अभिप्राय यही है कि प्रणव जप का अभ्यास निरन्तर करते रहने से हमारे मन में सत्वगुण या सात्विक वृत्तियां स्वयं बढ़ने लगेंगी। सत्वगुण और सात्विक विचारों से हमारा जीवन स्वयमेव पवित्र और अन्तःकरण शुद्ध होने लगेगा और हम दुनिया के छल-कपट आदि व्यर्थ के प्रपंचों, झण्झटों और बुरी बातों से अपने को उसी प्रकार अलग रखने लगेंगे जैसे पानी में रहते हुए भी कमल का पत्ता पानी से अलग रहता है।

प्राणायाम

चले वाते चलो बिन्दुर्निश्चले निश्चलो भवेत्।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरुन्धयेत्।।89।।

हमारे श्वास लेने और श्वास छोड़ने से हमारा वीर्य भी अस्थिर रहता है। किन्तु प्राणायाम का अभ्यास करके प्राणवायु को वश में कर लेने पर हमारा वीर्य भी हमारे वश में हो जाता है। वीर्य रक्षा होने पर हमारी आयु बढ़ जाती है। प्राणायाम के अभ्यांस से प्राण वायु को वश में करके तथा वीर्यरक्षा से ऊर्ध्वरिता बनकर योगी में ईश्वरीय शक्ति या साधारण मनुष्यों से कहीं अधिक शक्ति आ जाती है। इसलिये हमें प्राणायाम का अभ्यास निर्यमित रूप से करना चाहिये।

यावद् वायुः स्थितो देहे तावज्जीवं न मुञ्चति।
मरणं तस्य निष्क्रान्तिस्ततो वायुं निरोधयेत्।। 90।।

जबतक प्राणवायु हमारे शरीर में रहता है तबतक जीव या आत्मा हमारे शरीर को नहीं छोड़ता है। जब जीवात्मा हमारा शरीर छोड़ देता है तो देह का नाश हो जाता है इसलिये जीवित रहने के लिये जरूरी है कि हम प्राणायाम का अभ्यास करें।

यावद् बद्धो मरुद्देहे यावच्चित्तं निरामयम्।
यावद् दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत् कालभयं कुतः।। 91।।

जबतक हमारे शरीर में प्राणवायु रहता है और जबतक हमारा मन विषय-वासनाओं में नहीं फंसा रहता तथा जबतक हम भौंहों के बीच में दृष्टि लगाकर परमात्मा का ध्यान करते रहते हैं तबतक हम मृत्यु के भय से दूर रहते हैं। प्राणायाम के निरन्तर अभ्यास से, विषय वासनाओं से दूर रहकर और परमात्म चिन्तन करके हम मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेते हैं।

अतः कालभयात् ब्रह्मा प्राणायामपरायणः।
योगिनो मुनयश्चैव ततो वायुं निरोधयेत्।। 92।।

मृत्यु के डर से ब्रह्मा आदि देवता, मुनि और योगी, प्राणायाम का अभ्यास करते हैं, इसलिये दीर्घ जीवन पाने के लिये हमें भी प्राणायामः करना चाहिये।

षट्त्रिंशदङ्गुलो हंसः प्रयाणं कुरुते बहिः।
वामे दक्षिण मार्गेण ततः प्राणोऽभिधीयते।। 93।।

हमारा प्राणवायु बायें और दायें सुरों से छत्तीस अंगुल की दूरी तक बाहर जाता है। प्राण के बाहर जाते और अन्दर आते हुए 'हंस' शब्द का उच्चारण होता रहता है। इसलिये प्राण को हंस कहा जाता है। मृत्यु होने पर प्राण शरीर को छोड़कर हंस पक्षी की तरह उड़कर चला जाता है। इसलिये भी प्राण को हंस कहते हैं। प्राण वायु शरीर से बाहर जाता है, (**बहिः प्रयाणं कुरुते इति प्राणः**) इसलिये बाहर जाने या प्रयाण करने के कारण श्वास-प्रश्वास को प्राण कहते हैं।

शुद्धिमेति यदा सर्वनाडीचक्रं मलाकुलम्।
तदेव जायते योगी प्राणसंग्रहणे क्षमः।। 94।।

शरीर की सभी नाड़ियों में वर्षों से गन्दगी जमा होती रहती है जब नस-नाड़ियों से गन्दगी निकल जाती है तभी योगी प्राण रोक सकता है।

नाडी शोधन प्राणायाम विधि

बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत्।
धारयित्वा यथाशक्ति भूयः सूर्येण रेचयेत्।। 95।।

पद्मासन में बैठकर योगी को चन्द्र स्वर या बायें स्वर से श्वास भरना चाहिये। भरे हुए श्वास को अपनी सामर्थ्य के अनुसार रोककर सूर्य स्वर यानी दायें स्वर से निकाल देना चाहिये। यह नाड़ी शोधन प्राणायाम करने की विधि है। यह चन्द्रांग या वामाङ्ग नाडी शोधन प्राणायाम है।

अमृतदधिसंकाशं गोक्षीरधवलोपमम्।
ध्यात्वा चन्द्रमसो बिम्बं प्राणायामी सुखी भवेत्।।96।।

बायें स्वर या चन्द्रस्वर से नाड़ी शोधन प्राणायाम करते समय साधक को गाय के दूध, दही जैसे सफेद अमृतमय चन्द्र बिम्ब का ध्यान करने से सुख मिलता है।

दक्षिणे श्वासमाकृष्य पूरयेदुत्तरं शनैः।
कुम्भयित्वा विधानेन पुनश्चन्द्रेण रेचयेत्।। 97।।

बायें स्वर से नाडीशोधन प्राणायाम करने के बाद योगी को दायें स्वर या सूर्य स्वर से धीरे-धीरे श्वास भरना (पूरक) चाहिये। कुछ देर तक श्वास अन्दर ही रोककर चन्द्र स्वर या बायें स्वर से श्वास निकाल देना चाहिये।

यह सूर्याङ्ग या दक्षिणाङ्ग नाडीशोधन प्राणायाम है।

प्राणायाम में पूरक, कुम्भक और रेचक के बीच समय का अनुपात 1:4:2 होता है। कुछ के अनुसार यह अनुपात 12:16:10 होना चाहिये। किन्तु आमतौर पर 1:4:2 का अनुपात स्वीकार किया जाता है।

प्रज्वलज्ज्वलनज्वाला पुञ्जमादित्यमण्डलम्।
ध्यात्वा नाभिस्थितं योगी प्राणायामी सुखी भवेत्।।98।।

सूर्यस्वर से नाडीशोधन प्राणायाम करते समय जाज्वल्यमान अग्नि पुंज सूर्यमण्डल का ध्यान करने से योगी को अच्छा लगता है। हमारे शरीर में सूर्य का स्थान नाभि है।

प्राणांश्चेदिडयापि चेत्परिमितं भूयोऽन्यथा रेचयेत् –
पीत्वा पिङ्गलया समीरणमथो बद्ध्वा त्यजेद् वामया।।
सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिना बिम्बद्वयंध्यायतां –
शुद्धा नाडिगणा भवन्ति यमिनां मासत्रयादूर्ध्वतः।।99।।

पहिले इडा नाडी से या बायें स्वर से श्वास भरकर, कुछ देर श्वास अन्दर रोककर पिंगला नाडी या दायें स्वर से श्वास निकाल देना चाहिये। यह एक प्राणायाम करने के बाद पिंगला नाडी से या दायें स्वर से श्वास भरकर और कुछ देर रोककर बायें स्वर से श्वास निकाल देना चाहिये। फिर बायें स्वर से श्वास भरकर दायें स्वर से निकालना चाहिये। नाक के दायें और बायें स्वरों से पूरक करते समय सूर्य और चन्द्र बिम्ब का ध्यान करना चाहिये। इस प्रकार चन्द्र नाडी और सूर्य नाडी से नाडीशोधन प्राणायाम का अभ्यास करते रहने से योगी के शरीर की सभी नस नाड़ियां तीन महीने बाद साफ हो जाती हैं।

यथेष्टं धारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम्।
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडीशोधने।। 100।।

नाडीशोधन प्राणायाम में काफी समय तक कुम्भक का अभ्यास हो जाने पर भूख बढ़ जती है, शरीर स्वस्थ हो जाता है और कानों में अनाहत नाद सुनाई देने लगता है।

इति गोरक्षयोगशास्त्रे प्रथमं शतकम्।

गोरक्षयोगशास्त्र का पूर्व शतक या पूर्वार्द्ध समाप्त

गोरक्षपद्धतिः

द्वितीयम् शतकम्

प्राणायाम

प्राणो देहे स्थितो वायुरपानस्य निरोधनात्।
एकश्वसनमात्रेणोद्घाटयेद् गगने गतिम्।। 1।।

शरीर की प्राण वायु और अपान वायु को रोकने का अभ्यास करने से अर्थात् प्राण वायु से अपान वायु को मिला देने वाले प्राणायाम से प्राण एक श्वास में ही सुषुम्ना नाड़ी का द्वार खोल कर ब्रह्मरन्ध्र की ओर ऊपर चलने लगता है।

रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकः प्रणवात्मकः।
प्राणायामो भवेत् त्रेधा मात्राद्वादशसंयुतः।। 2।।

रेचक, पूरक और कुम्भक के भेद से प्राणायाम तीन तरह का होता है। प्राणायाम करते हुए प्रणव अर्थात् ओ३म् का जप करना चाहिये। प्राणायाम बारह मात्राओं की अवधि के साथ किया जाता है।

प्राणायाम के अभ्यास में फेफड़ों की वायु को बाहर निकालना अर्थात् प्रश्वास या सांस छोड़ना **रेचक** कहलाता है। श्वास लेना या भरना **पूरक** कहलाता है। श्वास को फेफड़ों में ही कुछ देर तक रोकना **कुम्भक** कहलाता है।

प्रश्न है कि प्राणायाम में रेचक, पूरक और कुम्भक के बीच क्या अनुपात होना चाहिये? इस श्लोक में बारह मात्राओं का उल्लेख किया गया है। इससे यही प्रतीत होता है कि पूरक 12 मात्राओं से करना चाहिये अर्थात् श्वास भरते हुए बारह बार ओ३म् का जप करना चाहिये। अगले चौथे श्लोक में भी कहा

गया है कि पूरक में 12 बार, कुम्भक में 16 बार और रेचक में 10 बार ओ३म् का जप करना चाहिये। किन्तु घेरण्ड संहिता के पांचवें उपदेश के 38 और 39 श्लोकों में रेचक, पूरक और कुम्भक का अनुपात क्रमशः 1:4:2 दिया गया है। यही अनुपात उचित लगता है और प्रचलित भी है। इस अनुपात के अनुसार यदि पूरक एक मिनट में किया जाता है तो कुम्भक चार मिनट तक करना चाहिये और दो मिनट तक रेचक करना चाहिये। किन्तु प्रारम्भ में इतनी लम्बी अवधि का प्राणायाम नहीं किया जा सकता, इसलिये ओ३म् के जप का विधान किया गया है। यदि चार बार ओ३म् जप कर पूरक किया जाता है तो सोलह बार ओ३म् का जप कर के कुम्भक करना चाहिये और आठ बार ओ३म् जपते हुए श्वास धीरे-धीरे निकालना (रेचक) चाहिये। प्राणायाम की अवधि धीरे धीरे बढ़ानी चाहिये।

मात्राद्वादशसंयुक्तौ दिवाकरनिशाकरौ।
दोषजालमपध्नन्तौ ज्ञातव्यौ योगिभिः सदा।। 3।।

नाक के दायें और बायें स्वरों से या सूर्य और चन्द्र नाड़ियों से बारह मात्राओं के पूरक वाला नाड़ी शोधन प्राणायाम शरीर की नस-नाड़ियों के दोषों और मल को नष्ट कर देता है इसलिये योगियों को नाड़ीशोधन प्राणायाम का सदा अभ्यास करना चाहिये।

पूरके द्वादशी कुर्यात् कुम्भके षोडशी भवेत्।
रेचके दश ओ३म्काराः प्राणायामः स उच्यते।। 4।।

प्रथमे द्वादशी मात्रा मध्यमे द्विगुणी मता।
उत्तमे त्रिगुणा प्रोक्ता प्राणायामस्य निर्णयः।। 5।।

पूरक करते हुए बारह बार ओ३म् का जप करना चाहिये। कुम्भक में सोलह बार ओ३म् का जप करना चाहिये और दस बार ओ३म् बोलते हुए रेचक अर्थात् श्वास छोड़ना चाहिये। शुरू में बारह मात्राओं वाला अर्थात् 12बार ओ३म् का जप करते हुए पूरक वाला प्राणायाम करना चाहिये। इसका अभ्यास हो जाने पर पूरक की मात्रा दुगुनी कर देनी चाहिये। पूरक की मात्रा बढ़ाने पर कुम्भक और रेचक की अवधि भी उसी अनुपात में बढ़ानी चाहिये।

यदि 12 मात्रा वाले पूरक प्राणायाम में 16 मात्राओं से कुम्भक और दस मात्राओं से रेचक किया जाता है तो 24 मात्राओं वाले पूरक प्राणायाम में 32 मात्रा का कुम्भक और 20 मात्रा का रेचक होना चाहिये। यह प्राणायाम मध्यम श्रेणी का प्राणायाम कहलाता है। उत्तम श्रेणी के प्राणायाम में पूरक की मात्राएं 36, कुम्भक की मात्राएं 48 और रेचक की मात्राएं 30 होंगी। 12 मात्राओं वाला पूरक प्राणायाम अधम, 24 मात्राओं वाला पूरक प्राणायाम मध्यम और 36 मात्राओं वाला पूरक प्राणायाम उत्तम कहलाता है।

अधमे चोद्यते घर्मः कम्पो भवेत् मध्यमे।
उत्तिष्ठत्युत्तमे योगी ततो वायुं निरोधयेत्।। 6।।

अधम प्राणायाम के अभ्यास से शरीर में गर्मी अनुभव होने लगती है और पसीना आ जाता है। मध्यम प्राणायाम में शरीर कांपने लगता है और उत्तम प्राणायाम में शरीर भूमि से ऊपर उठने लगता है। इसलिये प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये।

बद्धपद्मासनो योगी नमस्कृत्य गुरुं शिवम्।
भ्रू मध्ये दृष्टिरेकाकी प्राणायामं समभ्यसेत्।। 7।।

ऊर्ध्वमाकृष्य चापानवायुं प्राणे नियोजयेत्।
ऊर्ध्वमानीयते शक्त्या सर्व पापैः प्रमुच्यते।। 8।।

योगी को पद्मासन में बैठकर अपने गुरु और शिव अर्थात् कल्याणस्वरूप परमात्मा को नमस्कार कर तथा भौंहों के बीच एकटक देखकर प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये। प्राणायाम में अपान वायु को ऊपर खींचकर प्राणवायु से मिलाना चाहिये। ऐसा करने से कुण्डलिनी शक्ति, सुषुम्ना नाडी में ऊपर ब्रह्मरन्ध्र की ओर चलने लगती है और योगी के सभी पाप नष्ट हो जाते हैं।

मूलबन्ध लगाकर गुदा को सिकोड़ने से अपान वायु ऊपर उठकर प्राणवायु से मिल जाता है।

द्वाराणां नवकं निरुद्ध्य मरुतं पीत्वा दृढं धारितं-
नीत्वाकाशमपानवह्निसहितं शक्त्या समुच्चालितम्।

आत्मस्थानयुतस्त्वनेन विधिवत् विन्यस्य मूर्ध्नि ध्रुवं-
यावत्तिष्ठति तावदेव महतां संघेन संस्तूयते।।9।।

षण्मुखी मुद्रा के द्वारा आंख, नाक, कान, मुख, उपस्थ और गुदा, शरीर के इन नौ द्वारों को बन्द करके, शक्तिचालन मुद्रा से अपान वायु सहित मूलाधार की कालाग्नि को पूरक से भरे प्राण वायु से मिलाकर, और मूलाधार में सोई हुई कुण्डलिनी शक्ति को सुषुम्ना के रास्ते ब्रह्मरन्ध्र में ले जाकर परमात्मा के ध्यान में मग्न होकर योगी जितनी देर तक बैठा रहता है उतनी देर तक वह मोक्ष जैसा आनन्द अनुभव करता है। ऐसे योगी का सभी योगी सम्मान करते हैं।

प्राणायामो भवत्येवं पातकेन्धनपावकः।
भवोदधिमहासेतुः प्रोच्यते योगिभिः सदा।। 10।।

इस प्रकार प्राणायाम का अभ्यास करने से साधक के सारे पाप जलकर नष्ट हो जाते हैं। योगी, प्राणायाम को संसार सागर पार करने का पुल कहते हैं।

आसनेन रुजो हन्ति प्राणायामेन पातकम्।
विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण मुञ्चति।। 11।।

आसनों का अभ्यास करने से शरीर के रोग नष्ट हो जाते हैं। प्राणायाम के अभ्यास से सारे पाप नष्ट हो जाते हैं और प्रत्याहार के अभ्यास से योगी के मन के सारे विकार या दोष नष्ट हो जाते हैं।

धारणाभिमतो धैर्यं ध्यानाच्चैतन्यमद्भुतम्।
समाधौ मोक्षमाप्नोति त्यक्त्वा कर्म शुभाशुभम्।। 12।।

धारणा का अभ्यास करने से मन में धैर्य बढ़ता है। ध्यान करने से शरीर में कभी अनुभव न की गई विचित्र प्रकार की चेतना अनुभव होती है और समाधि लगने पर योगी भले बुरे सभी सांसारिक काम छोड़ कर मोक्ष पा जाता है।

प्राणायाम द्विषट्केन प्रत्याहारः प्रकीर्तितः।
प्रत्याहार द्विषट्केन ज्ञायते धारणा शुभा।। 13।।

धारणाद्वादश प्रोक्ता ध्यानाद् ध्यानविशारदैः।
ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरित्यभिधीयते।। 14।।

बारह प्राणायाम करने से प्रत्याहार होने लगता है, अर्थात् मन और इन्द्रियां संसार के विषय भोगों से दूर होने लगती हैं। प्राणायाम का अभ्यास बढ़ाकर अर्थात् 12 बार प्रत्याहार का अभ्यास करके मन में धारणा की वृत्ति का उदय होने लगता है। धारणा की वृत्ति को दृढ़ या स्थायी करने के लिये प्राणायाम का अभ्यास और अधिक बढ़ाने पर अर्थात् धारणा लाने वाला प्राणायाम बारह बार करने से ध्यान लगने लगता है और ध्यान लगाने वाला प्राणायाम बारह बार करने से समाधि लगने लगती है।

13 और 14 श्लोकों का अभिप्राय यही है कि साधक, प्राणायाम का अभ्यास जितना अधिक बढ़ाता जाता है उतना ही अधिक उसका मन स्थिर या एकाग्र होने लगता है। मन एकाग्र करने के लिये प्राणायाम सर्वोत्तम साधन है। इन श्लोकों के अनुसार प्रतिदिन बारह प्राणायाम करने से मन विषयों से उदासीन होने लगता है अर्थात् मन और इन्द्रियों में प्रत्याहार की भावना बढ़ने लगती है। विषयों के प्रति या भोग विषयों की ओर जाने वाली इन्द्रियां और मन सांसारिक भोग विषयों से हटकर अन्तर्मुख होने लगता है। प्रत्याहार का अर्थ है पीछे हटना अर्थात् विषयों की ओर न जाकर उनसे दूर रहना। प्रत्याहार का अभ्यास बढ़ने पर इन्द्रियां संसार के या बाहर के विषय भोगों से हटकर अन्तर्मुख अर्थात् अपने हृदय या अन्तः करण में देखने लगती हैं। प्रत्याहार का अभ्यास बढ़ने पर धारणा होने लगती है अर्थात् मन एक ही स्थान पर ठहरने लगता है। धारणा के अभ्यास के समय मन कभी कभी भटक जाता है किन्तु ध्यान में मन की एकाग्रता बढ़ जाती है। धारणा में होने वाला ज्ञान पानी की बूंद के समान है किन्तु ध्यान में यह ज्ञान मधु या तेल की धारा की तरह एकतार या एकतान हो जाता है। समाधि में चित्त पूरी तरह स्थिर हो जाता है। समाधि में योगी अपने को भूले हुए की तरह इच्छित विषय पर मन को स्थिर रखता है। जैसे नमक पानी में घुल जाता है वैसे ही योगाभ्यास के द्वारा जब मन, आत्मा में लीन हो जाता है उस अवस्था को समाधि कहा जाता है।

योगाभ्यास से प्राणवायु क्षीण होकर मन के साथ समरस हो जाता है वह भी समाधि की अवस्था होती है। यही बात उपरोक्त श्लोकों में कही गई है।

इन श्लोकों का शब्दार्थ है कि प्रतिदिन बारह प्राणायाम करने से प्रत्याहार का अभ्यास होने लगता है। प्राणायाम का अभ्यास बढ़ाकर 144 प्राणायाम करने पर मन में कोई एक विषय धारण करने की शक्ति अर्थात् धारणा बढ़ने लगती है। बारह धारणा अर्थात् 12 × 144 = 1728 प्राणायाम करने पर ध्यान लगने लगता है और 12 × 1728 = 20736 प्राणायाम करने से समाधि लग जाती है।

यत्समाधौ परं ज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम्।
तस्मिन् दृष्टे क्रिया कर्म यातायातं न विद्यते।। 15।।

समाधि लगने पर सारे संसार को व्याप्त करने वाले अनन्त और उत्कृष्ट ज्योतिस्वरूप परमात्मतत्व का साक्षात्कार हो जाता है। परमात्मतत्व का साक्षात् हो जाने पर योगी सांसारिक कर्मों के बन्धन से छूट जाता है। वह जन्म–मरण के चक्र से भी छूटकर मुक्त हो जाता है।

षण्मुखी मुद्रा

सम्बद्धासन मेढ्रमंध्रियुगलं कर्णाक्षिनासापुटाद्
द्वाराण्यङ्गुलिभिर्नियम्य पवनं वक्त्रेण सम्पूरितम्।
ध्यात्वा वक्षसि वह्नयपानसहितं मूर्ध्निसंस्थितं धारये-
देवं याति विशेषतत्त्वसमतां योगीश्वरस्तन्मयः।। 16।।

उपस्थ अर्थात् लिंगमूल के ऊपर नीचे दोनों जांघ रखकर अर्थात् सिद्धासन में बैठकर हाथ के अंगूठों से कानों, तर्जनी अंगुलियों से आंखों, मध्यमा अंगुलियों से नाक के दोनों स्वरों और अनामिका तथा कनिष्ठिका अंगुलियों से मुख बन्द करके और मुख में श्वास भरकर अर्थात् षण्मुखी मुद्रा करके, मूलाधार की अग्नि और अपान वायु को प्राणवायु में मिलाकर और इसे सहस्त्रार चक्र में पहुंचाकर हृदय में परमात्मा का ध्यान करने का अभ्यास करके योगी परमात्मा के ध्यान में तन्मय होकर परमात्मतत्व के समान बन जाता है अर्थात् परमात्मतत्व से मिल जाता है।

अनाहत नाद

गगनं पवने प्राप्ते ध्वनिरुत्पद्यते महान्।
घण्टादीनां प्रवाद्यानां तदा सिद्धिरदूरतः।। 17।।

उपरोक्त श्लोक के अनुसार षण्मुखी मुद्रा में प्राणायाम का अभ्यास करने से जब प्राणवायु सहस्त्रार चक्र में पहुंच जाता है तब घण्टे, घड़ियाल आदि बाजों जैसा शब्द कानों में सुनाई देने लगता है। यह अनाहत नाद सुनाई पड़ने पर योगी को अपने लक्ष्य की सिद्धि जल्दी ही हो जाती है।

प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत्।
अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगस्य सम्भवः।। 18।।

उचित रीति से प्राणायाम का अभ्यास करने से शरीर के सारे रोग दूर हो जाते हैं किन्तु गलत ढंग से प्राणायाम करने से शरीर में तरह तरह के रोग आ जाते हैं।

हिक्का कासस्तथा श्वासः शिरः कर्णाक्षिवेदना।
भवन्ति विविधा रोगा पवनस्य व्यतिक्रमात्।। 19।।

गलत ढंग से प्राणायाम करने से शरीर में प्राणवायु प्रकुपित हो जाता है और हिचकी, खांसी, श्वास चलना तथा सिर, कान और आंखों में दर्द आदि अनेक प्रकार के रोग शरीर में पैदा हो जाते हैं।

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद् वश्यः शनैः शनैः।
अन्यथा हन्ति योक्तारं तथा वायुरसेवितः।। 20।।

जैसे शेर, हाथी और चीते आदि जंगली पशुओं को धीरे-धीरे वश में किया जाता है। जंगली पशुओं को उचित तरीके से वश में किये बिना ही उनके पास जाने पर वे सिखाने वाले को ही मार डालते हैं वैसे ही प्राण वायु को उचित विधि द्वारा वश में न करने से साधक का शरीर नष्ट हो जाता है।

युक्तं युक्तं त्यजेद् वायुं युक्तं युक्तं च पूरयेत्।
युक्तं युक्तं च बध्नीयादेवं सिद्धिरदूरतः।। 21।।

प्राणायाम करते समय श्वास धीरे–धीरे छोड़ना चाहिये और धीरे–धीरे ही भरना चाहिये तथा श्वास रोकने का समय भी धीरे–धीरे ही उचित रीति से बढ़ाना चाहिये। यहाँ युक्त से अभिप्राय पहिले कहे गये पूरक, कुम्भक, रेचक के बीच अनुपात से है जो क्रमशः 12:16:10 है।

प्रत्याहार

चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम्।
यत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते।। 22।।

हमारी आंख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा ये पांच ज्ञानेन्द्रियां देखने, सुनने, सूंघने, स्वाद लेने (रस) और छूने के काम करती हैं। इन ज्ञानेन्द्रियों को अपने अपने विषयों से अर्थात् देखने, सुनने, खाने आदि भोग्य पदार्थों से हटाने का अभ्यास प्रत्याहार कहलाता है।

यथा तृतीयकालस्थो रविः प्रत्याहरेत् प्रभाम्।
तृतीयाङ्गस्थितो योगी विकारं मानसं तथा।। 23।।

जैसे सूर्य सवेरे और दोपहर के बाद शाम होने पर अपनी चमक और गर्मी को वापस ले लेता है या कम कर देता है उसी प्रकार आसन और प्राणायाम का अभ्यास करने के बाद योगी तीसरे अंग प्रत्याहार के अभ्यास के द्वारा अपने मन के दोषों को दूर करने का प्रयत्न करता है।

अङ्गमध्ये यथाङ्गानि कूर्मः संकोचयेद् ध्रुवम्।
योगी प्रत्याहरेदेवमिन्द्रियाणि तथात्मनि।। 24।।

जैसे कछुआ अपने सिर और पैर आदि को अपने शरीर के अन्दर छिपा लेता है वैसे ही योगी को प्रत्याहार का अभ्यास करके अपनी ज्ञानेन्द्रियों को संसार की चमक–दमक से हटाकर अन्तर्मुख करना चाहिये और मन तथा हृदय में परमात्मा का ध्यान करना चाहिये।

यं यं शृणोति कर्णाभ्यामप्रियं प्रियमेव वा।
तं तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित्।। 25।।

अगन्धमथवा गन्धं यं यं जिघ्रति नासिका।
तं तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित्।। 26।।

अमेध्यमथवा मेध्यं यं यं पश्यति चक्षुषा।
तं तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित्।। 27।।

अस्पृश्यमथवा स्पृश्यं यं यं स्पृशति चर्मणा।
तं तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित्।। 28।।

लावण्यमलावण्यं वा यं यं रसति जिह्वया।
तं तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित्।। 29।।

योगी अपने कानों से मधुर या कठोर शब्द सुनता है और यह शब्द सुनकर उसका मन मधुर शब्द में लगता है तथा बुरे लगने वाले कठोर शब्द में नहीं लगता। किन्तु प्रत्याहार के अभ्यास से योगी को यही समझने का प्रयत्न करना चाहिये कि यह संसार परमात्मा में ही समाया हुआ है शब्द आदि का सुनाई देना हमारे मन का भ्रम ही है। वास्तव में परमात्मतत्व के अतिरिक्त शब्द आदि सारे भोग-विषय और हमारा शरीर भी असलियत में नहीं है इसलिये शब्द आदि विषय परमात्म तत्व ही हैं। यह बात समझकर योगी को संसार के भोग-विषयों से मन और अपनी इन्द्रियां फेरकर अर्थात् उन्हें बाहर के विषयों से हटाकर हृदय में विराजमान परमात्मा का चिन्तन करने के लिये अन्तर्मुख करना चाहिये। हमारी नाक सुगन्ध या दुर्गन्ध जो भी सूंघती है, हमारी आंखें भला या बुरा जो कुछ देखती हैं, हमारी त्वचा मुलायम या कठोर, गर्म या ठण्डा जो कुछ छूती है और हमारी जीभ नमकीन, या अलोना, कड़वा या मीठा जो कुछ चखती है वह सब वास्तव में आत्मतत्व का ही एक अंश है और कुछ नहीं यह समझकर योगी को प्रत्याहार का या अपनी इन्द्रियों को वश में करके उन्हें अन्तर्मुखी बनाने का अभ्यास और प्रयत्न करना चाहिये।

यम, नियम, आसन और प्राणायाम के प्रभाव से जब मन या चित्त संसार के बाहरी विषयों से विरक्त होकर स्थिर होने लगता है तब ज्ञानेन्द्रियां भी अन्तर्मुखी होकर चित्त की तरह आचरण करने लगती हैं। यही इन्द्रियों का

प्रत्याहार होता है। चित्त के स्थिर या निरुद्ध होने पर इन्द्रियों को वश में करने के लिये अन्य किसी उपाय की जरूरत नहीं रहती।

चन्द्रामृतमयीं धारां प्रत्याहरति भास्करः।
यत्प्रत्याहरणं तस्याः प्रत्याहारः स उच्यते।। 30।।

शरीर के सहस्रार चक्र में स्थित पीयूष ग्रन्थि से चन्द्रमा जैसी शीतल अमृत की धारा निकलती है। इस अमृत-रस को नाभि में सूर्य की गर्मी जला देती है। किन्तु योगी विपरीत करणी और खेचरी मुद्रा के अभ्यास से इस अमृतरस का पान कर जरा-मरण पर विजय प्राप्त कर लेता है। हठयोग में यही वास्तविक प्रत्याहार कहलाता है।

एका स्त्री भुज्यते द्वाभ्यामागता चन्द्रमण्डलात्।
तृतीयो यः पुनस्ताभ्यां स भवेदजरामरः।।31।।

चन्द्रमण्डल से आयी एक स्त्री का दो पुरुष उपभोग करते हैं अर्थात् सहस्रार चक्र से निकला अमृत रस दायें और बायें नाक से स्वरों की सूर्य और चन्द्र नाड़ियों में चला जाता है। या पेट में जाकर जठराग्नि में नष्ट हो जाता है। किन्तु तीसरा पुरुष अर्थात् योगी विपरीत करणी मुद्रा और खेचरी मुद्रा से उस अमृत रस को पीकर अजर-अमर बन जाता है।

नाभिदेशे वसत्येको भास्करो दहनात्मकः।
अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले तु चन्द्रमा।।32।।

जलाने वाला सूर्य नाभि में रहता है और तालु के मूल में अर्थात् विशुद्ध चक्र कण्ठ में अमृतमय चन्द्रमा रहता है।

विपरीतकरणी मुद्रा

वर्षत्यधोमुखश्चन्द्रो ग्रसत्यूर्ध्वमुखो रविः।
ज्ञातव्या करणी तत्र यथा पीयूषमाप्यते।। 33।।

चन्द्रमा विशुद्धचक्र से अमृतरस बरसाता है और पेट में बैठा सूर्य या जठराग्नि इस अमृतरस को नष्ट कर देती है। इसलिये अमृतरस का पान करने के लिये विपरीतकरणी मुद्रा का अभ्यास करना चाहिये।

ऊर्ध्वं नाभिरधस्तालुरूर्ध्वं भानुरधःशशी।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते।। 34।।

विपरीतकरणी मुद्रा में नाभि ऊपर उठ जाती है और तालु नीचे हो जाता है अर्थात् सूर्य ऊपर और चन्द्र नीचे हो जाता है। यह मुद्रा गुरु से सीखी जाती है।

घेरण्ड संहिता में विपरीत करणी मुद्रा और शीर्षासन में कोई भेद नहीं बताया गया है। इसके अनुसार शीर्षासन ही विपरीतकरणी मुद्रा है। इन दिनों अर्ध सर्वाङ्गासन को विपरीतकरणी मुद्रा कहा जा रहा है। अर्ध सर्वाङ्गासन में पैर इतनी ऊँचाई तक ही उठाये जाते हैं जिससे पेट और नाभि ऊपर उठ जायें और पीठ का शेष भाग जमीन से ही लगा रहे। सर्वाङ्गासन में हाथों के सहारे सारी पीठ और टांगें ऊपर उठाई जाती हैं और कन्धे तथा गर्दन ही जमीन को छूते रहते हैं।

त्रिधा बद्धो वृषो यत्र रोरवीति महास्वनः।
अनाहतं च तच्चक्रं हृदये योगिनो विदुः।। 35।।

तीन ओर से बंधा हुआ साण्ड जैसे चिल्लाता है वैसे ही योगी हृदय में अनाहत चक्र को जानते हैं। अनाहत चक्र में सत्व, रज और तम इन तीन गुणों वाला माया का स्वरूप तथा परा, पश्यन्ति और मध्यमा वाणियां प्रतिबिम्बित हो रही हैं। इस श्लोक में जीव की तुलना रस्सियों से तीन ओर से बंधे हुए और चिल्लाते हुए साण्ड से की गई है। हृदय में विराजमान जीवात्मा भी परा, पश्यन्ति और मध्यमा वाणियों के द्वारा नाद करता रहता है।

कोई भी शब्द बोलने की क्रिया सबसे पहिले मन में किसी वृत्ति या विचार के उठने पर प्रारम्भ होती है। शब्द की इस अवस्था को 'परावाणी' कहते हैं। जब यह विचार सूक्ष्म बन जाता है तब नेत्र इसे देखने लगते हैं। विचार से उत्पन्न शब्द की यह अवस्था 'पश्यन्ती वाणी' कहलाती है। जब पश्यन्ती वाणी के सूक्ष्म शब्द कण्ठ में अर्ध वाक् की स्थिति में आकर जिह्वा तक पहुंचते हैं तब वे मध्यमा वाणी कहलाते हैं। जिह्वा से स्पष्ट शब्दोच्चार को 'वैखरीवाणी' कहा जाता है। मस्तिष्क में स्थित सहस्त्रार के नीचे 16 पंखुड़ियों

का सोमचक्र है। इसके नीचे 12 दलों का मनश्चक्र है। इसी स्थान से विचार उत्पन्न होते हैं। हमारी ज्ञानेन्द्रियों के स्थान मस्तिष्क में स्थित सहस्रार चक्र में ही हैं। हमारी विचार तरंगें सहस्रार से ही निकलती हैं, इसलिये परा, पश्यन्ती वाणियों के स्थान मूलाधार चक्र और स्वाधिष्ठान चक्र नहीं अपितु सहस्रार चक्र के पास हैं।

अनाहत नाद

किसी भी पदार्थ की टक्कर या रगड़ (संघर्षण) के बिना उत्पन्न ध्वनि को अनाहत नाद कहते हैं। निःशब्द स्थान में चित्त स्थिर करने से तथा कुछ प्राणायाम करने से शरीर के अन्दर नाद (शब्द) सुनाई देते हैं। सबसे पहिले नाद प्रायः दायें कान में सुनाई देता है। अभ्यास होने पर हृदय, मस्तिष्क और सारे शरीर में नाद उत्पन्न होने लगता है। 'सोऽहम्' ध्वनि भी अनाहत नाद कही जाती है। यह ध्वनि पहिले अव्यक्त रूप से आज्ञाचक्र (भ्रूमध्य) में मन के अनुभव में आती है। इसके बाद अनाहत चक्र (हृदय चक्र) में जाकर कानों को सुनाई देती है। आज्ञा चक्र की 'सोऽहम्' ध्वनि में जो ओंकार है उससे स्वर और व्यञ्जन उत्पन्न हुए। इन्हीं को वर्ण या अक्षर कहते हैं। अक्षरों से पद बने, पदों से वाक्य, और वाक्यों के समूह से भाषा। शब्द अर्थात् अक्षर, अविनाशी हैं। शब्दोच्चार से पहिले वे थे, शब्दोच्चार के समय भी वे हैं और शब्दोच्चार हो चुकने पर भी वे रहेंगे। जैसे अंधेरे में रखा हुआ घड़ा, प्रकाश होने से पहिले भी है, प्रकाश होने पर भी है और प्रकाश हटने पर भी है।

शिवसार तन्त्र में कहा है कि अनाहत चक्र में उत्पन्न होने वाली अनाहत ध्वनि ही सदाशिव है और त्रिगुणमय ओंकार इसी स्थान में व्यक्त होता है -

शब्दं ब्रह्मेति तं प्राह साक्षाद्देवः सदाशिवः।
अनाहतेषु चक्रेषु स शब्दः परिकीर्त्यते।।

42, परिमलोल्लास

जिसको शब्द ब्रह्म कहते हैं, वही साक्षात् सदाशिव है। वही शब्द अनाहत चक्र में है। कहीं कहीं इस चक्र के पास आठ दलों का निम्न मनश्चक्र बतलाया

गया है। स्त्रियों तथा भक्तिभाव वालों को ध्यान करने के लिये अनाहत चक्र उपयुक्त और अच्छा स्थान है।

अनाहतमतिक्रम्य चाक्रम्य मणिपूरकम्।
प्राप्ते प्राणे महापद्मं योगी स्वयममृतायते।। 36।।

प्राणवायु, मणिपूर चक्र में अपानवायु से मिलकर जब अनाहतचक्र को पार करके ब्रह्मरन्ध्र में स्थित सहस्रार चक्र में पहुंच जाता है तब योगी का शरीर अमृतमय हो जाता है। सहस्रार की पीयूष ग्रन्थि से टपकने वाले अमृत रस को खेचरी मुद्रा के द्वारा जीभ से पीने पर योगी का शरीर अमृत से भर जाता है।

मूर्ध्नः षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठा-
दूर्ध्वास्यो रसनां निधाय विवरे शक्तिं परां चिन्तयन्।
उत्कल्लोलकलाजलं सुविमलं जिह्वाकुलं यः पिबेन्नि-
र्व्याधि स मृणाल कोमल वपुर्योगी चिरं जीवति।। 37।।

जीभ को उलटकर कपाल के छेद में लगाकर मुख ऊपर करके अर्थात् विपरीतकरणी मुद्रा लगाकर और परम शक्ति कुण्डलिनी का ध्यान करते हुए प्राणायाम के द्वारा प्राणवायु से और हठयोग के अन्य साधनों से सहस्रारचक्र से निकले हुए अमृत रस को कण्ठ में स्थित सोलह दलों वाले विशुद्ध चक्र में गिरने पर जो योगी अपनी जीभ से पीता है वह सभी रोगों से और मन तथा शरीर के सभी प्रकार के दोषों से छूट जाता है। ऐसे योगी का शरीर बिस (मृणाल) के समान कोमल बन जाता है और वह अनेक वर्षों तक जीवित रहता है। मस्तक में सहस्रार से निकला यह अमृतरस चन्द्रमा की कला के समान निर्मल होता है और ऊंची-ऊंची तरंगों में निकलता रहता है।

शीतली प्राणायाम

काकचञ्चुवदास्येन शीतलं सलिलं पिबेत्।
प्राणायाम विधानेन योगी भवति निर्जरः।। 38।।

मुख को कौए की चोंच जैसा बनाकर अर्थात् दोनों ओठों को गोल करके

और उनके बीच बने छोटे से छेद से वायु को मुंह में भरना चाहिये और प्राणवायु तथा अपानवायु को मिला देना चाहिये। इस प्रकार शीतली प्राणायाम करने से योगी के शरीर में बुढ़ापा नहीं आता।

रसना तालुमूलेन यः प्राणमनिलं पिबेत्।
अब्दार्धेन भवेत्तस्य सर्वरोगस्य संक्षयः।। 39।।

जो योगी जीभ को तालु के पीछे लगाकर पूरक करता है अर्थात् प्राणवायु को भरता है उसके शरीर के सारे रोग छह महीनों में दूर हो जाते हैं। यहाँ खेचरी मुद्रा में पूरक करने का विधान है।

विशुद्धे पञ्चमे चक्रे ध्यात्वासौ सकलामृतम्।
उन्मार्गेण हृतं याति वञ्चयित्वा मुखं रवेः।। 40।।

पांचवें चक्र विशुद्ध चक्र में ध्यान करता हुआ जो योगी खेचरी मुद्रा लगाकर अपनी जीभ से चन्द्रमा की कला जैसे अमृत को पीता है और इस अमृत को जठराग्नि में या नाभि में स्थित सूर्य में गिरकर नष्ट नहीं होने देता है उसका शरीर सभी रोगों से मुक्त हो जाता है।

विशब्देन स्मृतो हंसो नैर्मल्यं शुद्धिरुच्यते।
अतः कण्ठे विशुद्धाख्यं चक्रं चक्रविदो विदुः।। 41।।

'वि' शब्द से अभिप्राय 'हंस' का है। 'शुद्ध' का अर्थ निर्मलता या पवित्रता होता है इसलिये षट्चक्रों के जानकार कण्ठ में स्थित चक्र को विशुद्ध चक्र कहते हैं।

अमृतं कन्दरे कृत्वा नासान्तसुषिरे क्रमात्।
स्वयमुच्चालितं याति वर्जयित्वा मुखं रवेः।। 42।।

ब्रह्मरन्ध्र से टपकते हुए अमृत को जो योगी खेचरी मुद्रा के द्वारा जीभ को कपाल कुहर (छेद) के रास्ते नाक के अन्तिम छेद तक लाकर और प्राणायाम के द्वारा अपान वायु को उठाकर प्राणवायु से मिलाकर इस अमृत को पीता है वह योगी इस अमृत को नाभि में स्थित सूर्य या जठराग्नि में गिरकर नष्ट नहीं होने देता।

बद्धं सोमकलाजलं सुविमलं कण्ठस्थलादूर्ध्वतो-
नासान्ते सुषिरं नयेच्च गगनद्वारान्ततः सर्वतः।
ऊर्ध्वास्यो भुवि सन्निपत्य नितरामुत्तानपादः पिबे-
देवं यः कुरुते जितेन्द्रियगणो नैवास्ति तस्य क्षयः।। 43।।

कण्ठ से ऊपर अर्थात् सहस्त्रार में चन्द्रमा की कला जैसा अत्यन्त निर्मल जो अमृत रस है उसे खेचरी मुद्रा के द्वारा जीभ से कपाल कुहर के रास्ते ब्रह्मरन्ध्र से नाक के सिरे वाले छेद तक लाकर तथा पृथिवी पर चित्त लेटकर और पैर ऊपर कर अर्थात् विपरीत करणी मुद्रा में लेटकर मुख ऊपर करके इस अमृत रस को जो योगी पीता है और अपनी सभी इन्द्रियों को वश में रखता है। उसका शरीर नष्ट नहीं होता।

ऊर्ध्वंजिह्वां स्थिरीकृत्य सोमपानं करोति यः।
मासार्द्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित्।। 44।।

योग का जानने वाला जो योगी, अपनी जीभ को खेचरी मुद्रा के द्वारा भ्रूमध्य में ले जाकर अमृत को पीता है वह 15 दिन में ही मृत्यु पर निश्चित रूप से विजय प्राप्त कर लेता है।

बद्धं मूलबिलं येन तेन विघ्नो विदारितः।
अजरामरमाप्नोति यथा पञ्चमुखो हरः।। 45।।

जो योगी मूलबन्ध अच्छी तरह लगाने का अभ्यास कर लेता है वह जीवन और मृत्यु की बाधा को दूर कर देता है। वह पंचमुख शिव की भांति अजर-अमर हो जाता है।

सम्पीड्य रसनाग्रेण राजदन्तबिलं महत्।
ध्यात्वामृतमयीं देवीं षण्मासेन कविर्भवेत्।। 46।।

जो योगी जीभ के अगले भाग से अगले दांतों के अथवा दाढ़ों के ऊपर कपाल कुहर को दबाता है अर्थात् खेचरी मुद्रा करता है और अमृत स्वरूप सरस्वती देवी की आराधना करता है वह छह महीनों में कवि बन जाता है।

यहाँ पर 'राजदन्त बिलम्' शब्द का अर्थ अस्पष्ट है। किन्तु खेचरी मुद्रा

के प्रसंग के अनुसार राजदन्तबिलम् का अर्थ कपाल कुहर लगाना ही उचित जान पड़ता है।

सर्वाधाराणि बध्नाति तदूर्ध्वं धारितं महत्।
न मुञ्चत्यमृतं कोऽपि स पन्था पञ्च धारणा।। 47।।

योगी खेचरी मुद्रा के द्वारा जीभ को ऊपर कपाल कुहर में पहुंचा कर सभी नाड़ियों के आधारों को बन्द कर देता है और अमृतरस को पेट में गिरने नहीं देता। पंच धारणा का यह मार्ग है।

हठयोग प्रदीपिका के श्लोक 3/53 **सुषिरं ज्ञानजनकं पञ्च स्रोतः समन्वितम्।** के अनुसार कपालकुहर में इडा, पिंगला आदि पांच नाडियों के स्रोत या प्रवाह हैं। इसके अनुसार पन्था पञ्चधारणा का अर्थ इडा आदि पांच नाड़ियों का मार्ग युक्तियुक्त लगता है।

चुम्बन्ति यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वा रसस्यन्दिनी -
सक्षारं कटुकाम्लदुग्धसदृशं मध्वाज्यतुल्यं तथा।
व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शास्त्राङ्गमोद्गीरणम्-
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धाङ्गनाकर्षणम्।। 48।।

यदि जीभ का अगला भाग कपाल कुहर में रात-दिन लगा रहेगा तो ऐसे योगी की जीभ में नमकीन, कड़वे, खट्टे रसों का स्वाद अनुभव होगा और कभी-कभी दूध, शहद तथा घी जैसा स्वाद अनुभव होगा। निरन्तर खेचरी मुद्रा लगाये रखने वाला योगी नीरोग हो जाता है, उसका शरीर बूढ़ा नहीं होता। वह शास्त्रों के अर्थ समझने लगता है। उसका शरीर अमृत से परिपूर्ण हो जाता है। वह अणिमादि आठों सिद्धियां पा जाता है और सिद्ध योनि की स्त्रियां उसकी ओर आकृष्ट होने लगती हैं।

अमृतापूर्ण देहस्य योगिनो द्वित्रिवत्सरात्।
ऊर्ध्वं प्रवर्तते रेतोऽणिमादिगुणोदयः।। 49।।

खेचरी मुद्रा के निरन्तर अभ्यास से योगी का शरीर अमृत से परिपूर्ण हो जाता है। प्रत्याहार और खेचरी का अभ्यास करते रहने से योगी का वीर्य दो या

तीन वर्ष बाद ब्रह्मरन्ध्र में जाने लगता है। ऐसे ऊर्ध्वरेता योगी का शरीर अणिमा, गरिमा, महिमा आदि आठों सिद्धियों से युक्त हो जाता है।

इन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्त्ति च दीपकः।
तथा सोमकलापूर्णं देहं देही न मुञ्चति।। 50।।

जैसे आग, लकड़ियों को और दीपक तेल में भीगी बत्ती को नहीं छोड़ता उसी तरह जीवात्मा, चन्द्रकला जैसे अमृत से परिपूर्ण योगी के शरीर को नहीं छोड़ता। भावार्थ यह है कि अमृत से परिपूर्ण योगी का शरीर बना रहता है।

नित्यं सोमकलापूर्णशरीरं यस्य योगिनः।
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति।। 51।।

जिस योगी के शरीर में प्रतिदिन अमृत रसा भरता रहता है उसे यदि तक्षक जैसा भयंकर विषैला सांप भी काट ले तो योगी के शरीर पर इस विष का कोई असर नहीं होता।

धारणा

आसनेन समायुक्तः प्राणायामेन संयुतः।
प्रत्याहारेण सम्पन्नो धारणा च समभ्यसेत्।। 52।।

आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार योग के इन तीन बाह्य अंगों का अभ्यास करने के बाद धारणा का अभ्यास करना चाहिये।

महर्षि पतञ्जलि ने यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि योग के ये आठ अंग बताये हैं। किन्तु योगी गोरक्षनाथ ने गोरक्ष पद्धति में यम और नियम का समावेश नहीं किया है। अष्टांग योग के अनुसार यम, नियम, आसन, प्राणायाम, और प्रत्याहार ये पांच योग के बाह्य अंग या साधन हैं। बहिरंग योग के इन पांचों अंगों का अभ्यास करने के बाद अन्तरंग योग के धारणा, ध्यान और समाधि इन तीन अंगों का अभ्यास किया जाता है। किन्तु साधक अपनी साधना और जीवन में बहिरंग योग के पांचों

अंगों का अभ्यास प्रतिदिन करता रहता है और अपनी योग्यता के अनुसार धारणा, ध्यान, समाधि का भी अभ्यास प्रतिदिन करता है।

हृदये पञ्चभूतानां धारणा च पृथक् पृथक्।
मनसो निश्चलत्वेन धारणा साभिधीयते।। 53।।

योगी को अपने हृदय में पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पांच महाभूतों का ध्यान अलग-अलग करना चाहिये। किसी ध्येय वस्तु पर मन का स्थिर हो जाना या मन का लग जाना धारणा कहलाता है।

या पृथ्वी हरिताल हेम रुचिरा पीता लकारान्विता –
संयुक्ता कमलासनेन हि चतुष्कोणा हृदि स्थायिनी।
प्राणांस्तत्र विलीय पंचघटिकं चित्तान्वितान्धारये –
देषा स्तम्भकरी सदा क्षितिजयं कुर्याद् भुवो धारणा।। 54।।

जो पृथ्वी तत्त्व हरताल या सोने के रंग जैसा पीला है। जिसके अधिष्ठातृ देवता ब्रह्मा हैं। इसका आकार चतुष्कोण जैसा है और इस चतुष्कोण के मध्य में 'लं' बीज है। इस पृथ्वी तत्त्व का हृदय में ध्यान करना चाहिये। अपने प्राणों और मन को इस पृथ्वी तत्त्व में पांच घड़ी (दो घण्टे) तक लीन करके धारणा का अभ्यास करना चाहिये। यह अभ्यास करने से मन स्थिर हो जाता है और पृथ्वी तत्त्व पर योगी का वश हो जाता है।

अर्द्धेन्दुप्रतिभं चं कुन्दधवलं कण्ठेऽम्बुतत्त्वं स्थितं –
यत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्तं सदा विष्णुना।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकं चित्तान्वितं धारये-
देषा दुःसहकालकूट दहनी स्याद् वारुणी धारणा।। 55।।

जल तत्त्व आधे चन्द्रमा की कान्ति और कुन्द के फूल जैसा सफेद है। जल तत्त्व के अधिष्ठात् देवता विष्णु हैं और अमृतरूप 'वं' इसका बीज है। जल तत्त्व का कण्ठ में अर्थात् विशुद्ध चक्र में ध्यान करना चाहिये। अपने प्राणों और मन को इस जल तत्त्व में पांच घड़ी तक लीन करके धारणा का अभ्यास

करना चाहिये। इस वारुणी धारणा का अभ्यास करने से कालकूट विष भी भस्म हो जाता है।

यत्तालुस्थितमिन्द्रगोपसदृशं तत्त्वं त्रिकोणानलं-
तेजो रेफयुतं प्रवालरुचिरं रुद्रेण सत्सङ्गतम्।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकं चित्तान्वितं धारये-
देषा वह्निजयं सदा वितनुते वैश्वानरी धारणा।। 56।।

तेज तत्त्व का रंग वीरबहूटी के समान लाल है। इसका आकार त्रिकोण जैसा है और 'रं' इसका बीज हैं। तेज तत्त्व मूंगे जैसा मनोहर है।

इसके अधिष्ठातृ देव रुद्र हैं। तेज तत्त्व की भावना तालु में करनी चाहिये। अपने प्राणों और मन को पांच घड़ी तक तेज तत्त्व में लीन करके धारणा का अभ्यास करना चाहिये। इस वैश्वानरी धारणा का अभ्यास करने से योगी, अग्नि पर वश पर लेता है अर्थात् उसका शरीर अग्नि में नहीं जलता।

यद् भिन्नाञ्जनपुञ्जसन्निभमिदं स्यूतं भ्रुवोरन्तरे-
तत्त्वं वायुमयं यकारसहितं तत्रेश्वरो देवता।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकं चिन्तान्वितं धारये-
देषा खे गमनं करोति यमिनः स्याद् वायवी धारणा।। 57।।

वायु तत्त्व का रंग काजल के ढेर जैसा अत्यन्त नीला है। इसके अधिष्ठातृ देवता ईश्वर हैं। बीजाक्षर 'यं' है। वायु तत्त्व का ध्यान भ्रूमध्य में किया जाता है। अपने प्राणों और मन को पांच घड़ी तक वायु तत्त्व में लीन करके धारणा का अभ्यास करना चाहिये। वायवी धारणा का अभ्यास करने से योगी आकाश में जा सकता है।

आकाशं सुविशुद्धवारिसदृशं यद् ब्रह्मरन्ध्रस्थितं-
तन्नादेन सदाशिवेन सहितं तत्त्वं हकारान्वितम्।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकं चित्तान्वितं धारये-
देषा मोक्षकपाटपाटनपटुः प्रोक्ता नभो धारणा।। 58।।

आकाश तत्त्व का रंग अत्यन्त शुद्ध जल के समान हैं। इसके अधिष्ठातृ देवता सदाशिव है। बीजाक्षर 'हं' है। आकाश तत्त्व की धारणा ब्रह्मरन्ध्र में की

जाती है। ब्रह्मरन्ध्र के अनाहत नाद में अपने प्राणों और मन को पांच घड़ी तक लीन करके धारणा का अभ्यास करना चाहिये। नभोधारणा का अभ्यास करने से योगी के लिये मोक्ष कर द्वार खुल जाता है क्योंकि 'नभोधारणा' मोक्षद्वार खोलने की कुञ्जी है।

स्तम्भिनी द्राविणी चैव दाहनी भ्रामिणी तथा।
शोषिणी च भवत्येषा भूतानां पञ्च धारणा।। 59।।

पृथ्वी धारणा का अभ्यास हो जाने पर योगी जल और वायु आदि को स्तम्भित कर सकता है। वारुणी धारणा के अभ्यास से योगी सभी पदार्थों को जल जैसा बना सकता है। आग्नेयी धारणा से योगी किसी भी पदार्थ को अग्नि के बिना ही जला सकता है। वायु धारणा से योगी किसी भी वस्तु को घुमा सकता है और नभो धारणा से वह किसी भी पदार्थ को सुखा सकता है।

कर्मणा मनसा वाचा धारणा पञ्चदुर्लभाः।
विज्ञाय सततं योगी सर्वदुःखैः प्रमुच्यते।। 60।।

जो योगी इन पांच महाभूतों की धारणाओं का अभ्यास मन, वचन, और कर्म से करता है वह सभी दुःखों से छुटकारा पा जाता है। इन धारणाओं पर वश पाना बड़ा कठिन है।

ध्यान

स्मृत्येव सर्वचिन्तायां धातुरेकः प्रपद्यते।
यच्चित्ते निर्मला चिन्ता तद्धि ध्यानं प्रचक्षते।। 61।।

सभी तरह के संस्कारों को याद करने या स्मरण करने में 'स्मृ' धातु से बने शब्द स्मृति का ही प्रयोग किया जाता है किन्तु मन या चित्त में किसी निर्मल या पवित्र और शुद्ध वस्तु को स्मरण करते रहना ध्यान कहलाता है।

द्विविधं भवति ध्यानं सकलं निष्कलं तथा।
चर्याभेदेन सकलं निष्कलं निर्गुणं भवेत्।। 62।।

ध्यान दो तरह का होता है सकल और निष्कल। सगुण और निर्गुण के भेद से ध्यान सकल और निष्कल होता है। सगुण ध्यान में अपने इष्टदेवता की

मूर्ति पर ध्यान लगाया जाता है। निर्गुण ध्यान में निराकार परमात्मा के रक्षक आदि किसी गुण, स्वरूप या शक्ति पर ध्यान लगाया जाता है।

अन्तश्चेतो बहिश्चक्षुरधः स्थाप्य सुखासनः।
कुण्डलिन्या समायुक्तं ध्यात्वा मुच्येत किल्विषात्।।63।।

मन को अन्तःकरण में लगा कर और नाक के अगले भाग पर दृष्टि लगाकर तथा जिस आसन में सुविधा के साथ बैठा जा सके उस आसन में बैठकर कुण्डलिनी सहित मन एकाग्र कर ध्यान करने से साधक के सारे पाप नष्ट हो जाते हैं।

आधारं प्रथमं चक्रं स्वर्णाभं च चतुर्दलम्।
कुण्डलिन्या समायुक्तं ध्यात्वा मुच्येत किल्विषैः।।64।।

ध्यान करने के लिये पहिला चक्र मूलाधार चक्र है। इस चक्र में सुवर्ण के रंग जैसा चतुर्दल कमल है। यहाँ पर कुण्डलिनी शक्ति सोई पड़ी रहती है।

इस कुण्डलिनी शक्ति पर ध्यान लगाने से साधक सारे पापों से छुटकारा पा जाता है।

स्वाधिष्ठाने च षट्पत्रे सन्माणिक्यसमप्रभे।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा योगी सुखी भवेत्।।65।।

शरीर के दूसरे चक्र स्वाधिष्ठान में छह दलों का कमल है जिसका प्रकाश बहुमूल्य रत्न की भांति है। इस कमल की कर्णिका में आत्मा का ध्यान करने से योगी को आनन्द की अनुभूति होती है। ध्यान करते हुए दृष्टि नासाग्र पर लगी रहनी चाहिये।

तरुणादित्यसंकाशे चक्रे च मणिपूरके।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा संक्षोभयेज्जगत्।।66।।

शरीर के तीसरे चक्र मणिपूर चक्र में प्रातः काल के सूर्य की प्रभा वाला दस दलों का कमल है। इसकी कर्णिका में आत्म तत्त्व का ध्यान करने से योगी संसार में हलचल और उथल-पुथल मचा सकता है। ध्यान करते समय दृष्टि नासाग्र पर लगाये रखनी चाहिये।

हृदाकाशे स्थितं शम्भुं प्रचण्ड रवि तेजसम्।
नासाग्रे दृष्टिमाधाय ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत्।।67।।

शरीर का चौथा चक्र अनाहत चक्र हृदय रूपी आकाश में है। इस चक्र में बारह दलों का कमल है। इस स्थान पर नासाग्र दृष्टि बांधकर शिव का ध्यान करने से योगी ब्रह्ममय हो जाता है। शिव की प्रभा तपते हुए सूर्य जैसी है।

विद्युत्प्रभे च हृत्पद्मे प्राणायामविभेदतः।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत्।।68।।

बिजली की चमक वाले हृदय कमल में नासाग्र पर दृष्टि बांधकर और प्राणायाम पूर्वक आत्मतत्त्व का ध्यान करने से योगी ब्रह्ममय हो जाता है।

सततं घण्टिकामध्ये विशुद्धे दीपकप्रभे।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वानन्दमयो भवेत्।। 69।।

छोटी जीभ के बीच कण्ठ स्थान में दीपक की ज्योति के समान विशुद्ध चक्र में नासाग्रदृष्टि बांधकर आत्मा का ध्यान करने से योगी आनन्द से परिपूर्ण हो जाता है।

भ्रुवोरन्तर्गतं देवं सन्माणिक्य शिखोपमम्।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वानन्दमयो भवेत्।। 70।।

भौंहों के बीच आज्ञाचक्र शुद्ध रत्न की प्रभा के समान है। नासाग्रदृष्टि से यहाँ पर आत्म तत्त्व का ध्यान करने से योगी आनन्द से परिपूर्ण हो जाता है।

ध्यायेन्नीलनिभं नित्यं भ्रूमध्ये परमेश्वरम्।
आत्मानं विजितप्राणो योगी योगमवाप्नुयात्।।71।।

भौहों के बीच आज्ञाचक्र में नीले रंग के शिवस्वरूप परमात्मा का सदा ध्यान करना चाहिये। योगी प्राणायाम के अभ्यास से अपने प्राणों को वश में करके परमात्मा के साथ मिल जाता है।

निर्गुणं च शिवं शान्तं गगने विश्वतोमुखम्।
नासाग्रदृष्टिरेकाकी ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत्।।72।।

निर्गुण, कल्याणमय, शान्त और विश्वव्यापी परमात्मा का एकान्त स्थान में बैठकर नासाग्रदृष्टि बांधकर आज्ञाचक्र में ध्यान करने से योगी ब्रह्ममय हो जाता है।

आकाशं यत्र शब्दः स्यात्तदाज्ञाचक्रमुच्यते।
तत्रात्मानं शिवं ध्यात्वा योगी मुक्तिमवाप्नुयात्।। 73।।

भौहों के बीच खाली स्थान (ख) अर्थात् आकाश में नाद उत्पन्न होता है। यह स्थान आज्ञाचक्र कहलाता है। यहाँ पर कल्याणस्वरूप आत्मतत्त्व का ध्यान करने से योगी मोक्ष पा लेता है।

अनाहत नाद या 'सोऽहम्' ध्वनि पहिले अव्यक्त रूप से आज्ञाचक्र (भ्रूमध्य) में मन के अनुभव में आती है। इसके बाद यह ध्वनि अनाहत चक्र (हृदयचक्र) में जाकर कानों को सुनाई देती है।

निर्मलं गगनाकारं मरीचि जलसन्निभम्।
आत्मानं सर्वगं ध्यात्वा योगी मुक्तिमवाप्नुयात्।। 74।।

निर्मल अर्थात् पाप आदि किसी दोष से या सत्त्व, रज, तम, इन तीन गुणों से रहित, आकाश की भांति सर्वव्यापक, मृगमरीचिका के जल की भांति प्रभाशाली, सर्वत्र गतिमान परम तत्त्व का ध्यान करके योगी मोक्ष पा जाता है।

गुदं मेढ्रं च नाभिश्च हृत्पद्मं च तदूर्ध्वतः।
घण्टिका लम्बिका स्थान भ्रूमध्ये च नभोबिलम्।। 75।।

गुदा (मूलाधार), लिंगमूल (स्वाधिष्ठान), नाभि (मणिपूर), हृदय (अनाहत), हृदय से ऊपर कण्ठ (विशुद्ध), भ्रूमध्य (आज्ञा) ये छह चक्र और काग, जीभ और भौंहों के बीच का आकाश या खाली स्थान इन नौ स्थानों पर योगी को ध्यान लगाना चाहिये।

कथितानि नवैतानि ध्यानस्थानानि योगिभिः।
उपाधितत्त्व युक्तानि कुर्वन्त्यष्टगुणोदयम्।। 76।।

योगियों ने शरीर में ध्यान लगने के ये नौ स्थान बताये हैं। इन स्थानों पर उपाधि अर्थात् ओंकार और तत्त्व अर्थात् आत्मा सहित ध्यान करने से अणिमादि आठों सिद्धियां प्राप्त हो जाती हैं।

एषु ब्रह्मात्मकं तेजः शिवज्योतिरनुत्तमम्।
ध्यात्वा ज्ञात्वा विमुक्तः स्यादिति गोरक्षभाषितम्।। 77।।

योगी गोरक्षनाथ ने बताया है कि इन नौ स्थानों पर ब्रह्म से परिपूर्ण तेज और कल्याणमयी तथा सर्वोत्कृष्ट ज्योति को जानकर और उसका ध्यान कर के योगी मुक्ति पा जाता है।

नाभौ संयम्य पवनगतिमधो रोधयेत्संप्रयत्नादा-
कुञ्च्यापानमूलं हुतवहसदृशं तन्तुवत् सूक्ष्मरूपम्।।
तद् बद्ध्वा हृत्सरोजे तदनु दलणके तालके ब्रह्मरन्ध्रे-
भित्वा ते यान्ति शून्यं प्रविशति गगने यत्र देवो महेशः।। 78।।

चित्त को नाभि या मणिपूर चक्र में लगाकर, अपान वायु के स्थान गुदा को प्रयत्न पूर्वक सिकोड़कर अर्थात् मूलबन्ध लगाकर अपान को नीचे जाने से रोककर प्राण वायु के साथ मिलाना चाहिये। तन्तु के समान सूक्ष्म और अग्नि जैसे प्रकाशमान ज्योति स्वरूप परमात्मा का हृदयकमल में ध्यान करके और प्राणों को मणिपूर चक्र से अनाहत चक्र में तथा अनाहत चक्र से विशुद्ध और आज्ञा चक्रों को भेदते हुए ब्रह्मरन्ध्र में पहुंचाकर तथा देह त्याग के समय ब्रह्मरन्ध्र को भेदकर प्राणों को शरीर से निकाल कर योगी शून्याकाश में अपने प्राण ले जाता है। शून्याकाश में महान् शक्तिमान परमात्मदेव विराजमान हैं।

नाभौ शुभ्रारविन्दं तदुपरि विमलं मण्डलं चण्डरश्मेः-
संसारस्यैकरूपां त्रिभुवनजननीं धर्मदात्रीं नराणाम्।
तस्मिन् मध्ये त्रिमार्गे त्रितयतनुधरां छिन्नमस्तां प्रशस्तां-
तां वन्दे ज्ञानरूपां मरणभयहरां योगिनीं ज्ञानमुद्राम्।। 79।।

नाभि में अर्थात् मणिपूरचक्र में सफेद रंग का कमल है। जिसके ऊपर सूर्यमण्डल है। इस सूर्यमण्डल के बीच में सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों से युक्त अथवा इडा, पिंगला और सुषुम्ना इन तीन नाड़ियों से युक्त कुण्डलिनी शक्ति है जो त्रिमार्ग में अर्थात् भ्रूमध्य में, जहाँ इडा, पिंगला और सुषुम्ना नाडियां मिलती हैं, होती हुई ब्रह्मरन्ध्र तक जाती है। यह कुण्डलिनी शक्ति, संसार को बनाने वाली, तीनों लोकों की माता, मनुष्यों को धर्म का ज्ञान देने

वाली, ज्ञान की मूर्ति और मृत्यु का भय दूर करने वाली, त्रिगुणरूप योगिनी छिन्नमस्ताा का प्रतीक है। इस शक्ति को और कुण्डलिनी शक्ति को मैं प्रणाम करता हूँ।

अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च।
एकस्य ध्यानयोगस्य तुलां नार्हन्ति षोडशीम्।। 80।।

हजारों अश्वमेघ यज्ञों और सैंकड़ों वाजपेय यज्ञों का अनुष्ठान ध्यान योग के एक भाग के बराबर भी नहीं है।

समाधि

उपाधिश्च तथा तत्त्वं द्वयमेतदुदाहृतम्।
उपाधिः प्रोच्यते वर्णस्तत्त्वमात्माभिधीयते।। 81।।

उपाधि और तत्त्व इन दो शब्दों का उल्लेख किया गया है। उपाधि का अभिप्राय ओंकार है और तत्त्व का आत्मा।

उपाधेरन्यथा ज्ञानतत्वसंस्थितिरन्यथा।
समस्तोपाधिविध्वंसी सदाभ्यासेन जायते।। 82।।

हमारे शरीर में आत्मा निर्विकार है किन्तु इन्द्रियों और विषयों के सम्पर्क में आने पर आत्मा अपने को सुखी या दुःखी मानने लगता है। जैसे स्फटिक के सामने लाल, नीला, पदार्थ रखने पर स्फटिक भी लाल, नीला, पीला दीखने लगता है किन्तु वास्तव में स्फटिक सफेद ही होता है। यही बात निर्विकार आत्मा और विषयों के संसर्ग से प्रभावित आत्मा के सम्बन्ध में है। उपाधि अर्थात् विषयों का ज्ञान भिन्न है। और आत्मा का स्वरूप भिन्न है। धारणा, ध्यान और समाधि के अभ्यास से बुद्धि निर्मल और शुद्ध हो जाने पर इन्द्रियों के सुख-दुःख आदि विषयों का और आत्मस्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। तब योगी सभी प्रकार के विषयों को नष्ट कर देता है। अर्थात् उसके लिये सांसारिक भोग-विषयों में कोई आकर्षण नहीं रह जाता और वह आत्मा-परमात्मा के चिन्तन में लगा रहता है।

शब्दादीनां च तन्मात्रं यावत्कर्णादिषु स्थितम्।
तावदेवं स्मृतं ध्यानं समाधिः स्यादतः परम्।।83।।

ध्यान में बैठे हुए साधक को जबतक शब्द आदि का थोड़ा सा ज्ञान भी कान आदि में होता रहता है तबतक ध्यान की अवस्था रहती है। जब शब्द, स्पर्श, आदि का तनिक भी ज्ञान नहीं होता अर्थात् हमारी पांचों ज्ञानेन्द्रियां आत्मा में लीन हो जाती हैं तब समाधि की अवस्था प्रारम्भ हो जाती है। समाधि की अवस्था में साधक को अर्थमात्र का भान होता है।

धारणा पञ्चनाडीभिर्ध्यानं च षष्टिनाडीभिः।
दिनद्वाशकेन स्यात् समाधिः प्राणसंयमात्।। 84।।

पांच घड़ी तक प्राणायाम का अभ्यास करने से मन में धारणा उत्पन्न होने लगती है। साठ घड़ी के प्राणायाम के बाद ध्यान लगने लगता है। बारह दिन तक प्राणों पर संयम करने से समाधि लगने लगती है। इस श्लोक में 'प्राणसंयम' का अर्थ यदि प्राणों को रोकना माना जाय तो कोई भी साधक पांच घड़ी, साठ घड़ी या 12 दिन तक अपने प्राण नहीं रोक सकता। प्राणायाम का निरन्तर अभ्यास करने से प्राण सूक्ष्म हो जाते हैं इसलिये धारणा, ध्यान और समाधि में साधक को लम्बा और गहरा श्वास-प्रश्वास करने की आवश्यकता नहीं रहती। प्राण सूक्ष्म होने की अवस्था में योगी का श्वास-प्रश्वास धारणा, ध्यान, समाधि में स्वयमेव बहुत कम हो जाता है।

यत्सर्वं द्वन्द्वयोरैक्यं जीवात्मपरमात्मनोः।
समस्तनष्टसंकल्पः समाधिः साभिधीयते।। 85।।

जब योगी भूख-प्यास, गर्मी-सर्दी और सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से ऊपर उठ जाता है, और मन के सारे संकल्प-विकल्प समाप्त हो जाते हैं। तब समाधि लग जाती है और जीवात्मा का परमात्मा से ऐक्य स्थापित हो जाता है।

अम्बुसैन्धवयोरैक्यं यथा भवति योगतः।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिः सोऽभिधीयते।। 86।।

जैसे पानी में नमक घुल जाता है वैसे ही योगाभ्यास से जब मन की वृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है और मन तथा आत्मा के बीच एकत्व स्थापित हो जाता है तब समाधि लग जाती है। समाधि के निरन्तर अभ्यास से आत्मा-परमात्मा के बीच ऐक्य स्थापित हो जाता है।

यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते।
यदा समरसत्वं च समाधिः सोऽभिधीयते।। 87।।

जब प्राण सूक्ष्म होकर मन के साथ आत्मा में ही लीन हो जाता है तथा नमक और पानी की तरह जीवात्मा और परमात्मा के बीच ऐक्य या अभिन्नता या समरसता स्थापित हो जाती है तब समाधि की अवस्था होती है।

न गन्धं न रसं रूपं न च स्पर्शं न निःस्वनम्।
नात्मानं न परस्वं च योगी युक्तः समाधिना।। 88।।

समाधि में मग्न योगी को गन्ध, रूप, रस, शब्द और स्पर्श इन पांचों विषयों में से किसी का भी भान नहीं होता। न ही उसे अपने या पराये का भान होता है। समाधि की अवस्था में योगी की सारी इन्द्रियां मन में लीन हो जाती हैं इसलिये उसे शब्द, स्पर्श आदि की अनुभूति नहीं होती।

अभेद्यः सर्वशस्त्राणामवध्यः सर्वदेहिनाम्।
अग्राह्यो मन्त्रयन्त्राणां योगी युक्तः समाधिना।। 89।।

समाधि में बैठे योगी को कोई भी हथियार नुकसान नहीं पहुंचा सकता। उसे कोई भी प्राणी नहीं मार सकता। उस पर किसी मन्त्र या यन्त्र का प्रभाव नहीं पड़ता। वह मन्त्रों का यन्त्रों के वश में आकर पकड़ा नहीं जा सकता।

बाध्यते न स कालेन लिप्यते न स कर्मणा।
साध्यते न च केनापि योगीः समाधिना।। 90।।

समाधि के प्रभाव से योगी काल या मृत्यु के वश में नहीं पड़ता। वह कर्मों में नहीं फंसता या उस पर कर्मों का प्रभाव नहीं पड़ता और वह कर्मफल से अलग रहता है। ऐसे योगी को कोई भी अपने वश में नहीं रख सकता। अभिप्राय यही है कि समाधि की अवस्था दृढ़ हो जाने पर योगी बुढ़ापे और मृत्यु को लांघकर अजर-अमर हो जाता है और पाप-पुण्य, कर्मों के बन्धन तथा विषय वासनाएं भी उससे दूर हो जाती हैं।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।। 91।।

सन्तुलित और परिमित आहार–विहार करने वाले, अपने कामकाज में अति न करने वाले और समय पर सोने–जागने वाले व्यक्ति के दुःख योगाभ्यास से नष्ट हो जाते हैं।

निराद्यन्तं निरालम्बं निष्प्रपञ्चं निरामयम्।
निराश्रयं निराकारं तत्त्वं जानाति योगवित्।। 92।।

समाधि में मग्न योगी, आदि और अन्त से रहित, किसी विषय या वस्तु की आवश्यकता या कामना से रहित, संसार और संसार के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि विषयों से दूर, शरीर और मन के रोगों से रहित, किसी भी प्रकार के सहारे से रहित और निराकार परमतत्त्व परमात्मा का साक्षात् करता है।

निर्मलं निश्चलं नित्यं निष्क्रियं निर्गुणं महत्।
व्योमविज्ञानमानन्दं ब्रह्म ब्रह्मविदो विदुः।। 93।।

ब्रह्म या परमात्म तत्त्व का साक्षात् करने वाले जानते हैं कि ब्रह्म, शुद्ध–पवित्र या कर्मफल की वासना से रहित, चेष्टाहीन, नित्य, किसी भी काम या व्यापार से अलग, सत्त्व, रज, तम आदि गुणों से रहित, चिदाकाश स्वरूप, विज्ञान या बोधस्वरूप और अद्वैतानन्दस्वरूप है।

हेतुदृष्टान्तनिर्मुक्तं मनोबुद्ध्योरगोचरम्।
व्योम विज्ञानमानन्दं तत्त्वं तत्वविदो विदुः।। 94।।

ब्रह्मज्ञानी योगी जानते हैं कि ब्रह्म के साक्षात्कार के लिये या उसे जानने के लिये किसी प्रकार का कारण या उदाहरण नहीं बताया जा सकता। परम तत्त्व को मन और बुद्धि से भी नहीं जाना जा सकता। ब्रह्म; चिदाकाशस्वरूप, विज्ञानमय और आनन्दमय है।

निरातङ्के निरालम्बे निराधारे निरामये।
योगी योगविधानेन परे ब्रह्मणि लीयते।। 95।।

योगी समाधि सहित योग के सभी अंगों का अनुष्ठान करके परब्रह्म में ही लीन हो जाता है। परब्रह्म; जन्ममरण आदि दुःखों से रहित है। अपनी सत्ता के लिये वह किसी पर निर्भर नहीं रहता। उसे किसी सहारे की भी जरूरत नहीं पड़ती। वह शारीरिक और मानसिक कष्टों और रोगों से भी परे हैं।

यथा घृते घृतं क्षिप्तं घृतमेव हि जायते।
क्षीरं क्षीरं तथा योगी तत्त्वमेत्र हि जायते।। 96।।

जैसे घी में घी डालने पर घी ही रहता है और दूध में दूध मिलाने पर दूध ही रहता है उसी तरह योगी समाधि में लीन होकर पर ब्रह्म परमात्मा में ही लीन हो जाता है।

दुग्धे क्षीरं घृते सर्पिरग्नौ वह्निरिवार्पितः।
तन्मयत्वं व्रजत्येवं योगी लीनः परे पदे।। 97।।

जैसे दूध में दूध, घी में घी और आग में आग मिलकर एक हो जाते हैं वैसे ही परम पद में लीन योगी ब्रह्ममय हो जाता है।

भवभयहरं नृणां मुक्तिसोपान संज्ञकम्।
गुह्याद् गुह्यतरं गुह्यं गोरक्षेण प्रकाशितम्।। 98।।

संसार के दुःखों को और जन्म-मरण के डर को दूर कर देने वाले, मनुष्यों को मोक्ष का मार्ग बताने वाले अत्यन्त गोपनीय योग शास्त्र को योगी गोरक्षनाथ ने प्रकट कर दिया है।

गोरक्षसंहितामेतां योगभूतां जनः पठेत्।
सर्वपापविनिर्मुक्तो योगसिद्धिं लभेद् ध्रुवम्।।99।।

जो व्यक्ति योग के इस ग्रन्थ गोरक्षसंहिता को पढ़ेगा वह सभी पापों से छूटकर निश्चय ही योग की सिद्धि को या योगमार्ग के लक्ष्य को प्राप्त कर लेगा।

योगशास्त्रं पठेन्नित्यं किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
यत्स्वयं चादिनाथस्य निर्गतं वदनाम्बुजात्।। 100।।

मनुष्य को सदा योगशास्त्र पढ़ना चाहिये। तब उसे और किन्हीं शास्त्रों को पढ़ने की जरूरत नहीं रहती क्योंकि इस योगशास्त्र का उपदेश स्वयं शिव ने दिया है।

स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिलं दत्ता द्विजेभ्यो धरा-
यज्ञानां च हुतं सहस्त्रमयुतं देवाश्च सम्पूजिताः।

स्वाद्वन्नेन सुतर्पिताश्च पितरः स्वर्गं च नीताः पुनः-
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि प्राप्नोति धैर्यं मनः।। 101।।

जो व्यक्ति थोड़ी देर के लिये भी परमात्म तत्त्व का ध्यान करता है वह मानो सारे तीर्थों के जलों में स्नान कर लेता है। वह ब्राह्मणों को भूमि का दान कर देता है। वह हजारों और लाखों यज्ञों का पुण्य पा जाता है। वह सभी देवताओं की पूजा कर लेता है। वह स्वादिष्ट भोजन से अपने पितरों का तर्पण कर उन्हें फिर स्वर्ग में पहुंचा देता है।

इति श्रीगोरक्षयोगशास्त्रे मुक्तिसोपानसंज्ञके
उत्तरशतकं सम्पूर्णम्।।

श्री गोरक्ष योगशास्त्र में मुक्तिसोपान नाम का
उत्तरशतक सम्पूर्ण हुआ।

।। इति।।

2

घेरण्डसंहिता

प्रथम उपदेश

षट्कर्मसाधनम्

एकदा चण्डकापालिर्गत्वा घेरण्डकुट्टिमम्।
प्रणम्य विनयात् भक्त्या घेरण्डं परिपृच्छति।। 1।।

एक दिन राजा चण्डकापालि ने घेरण्ड की कुटिया में जाकर उन्हें भक्तिपूर्वक प्रणाम किया और कहा।

घटस्थयोगं योगेश तत्त्वज्ञानस्य कारणम्।
इदानीं श्रोतुमिच्छामि योगीश्वर वद प्रभो।। 2।।

हे योगीश्वर घेरण्ड! तत्त्वज्ञान का कारण शरीर द्वारा योगसाधना है। मैं यह योग आप से सुनना चाहता हूं। हे प्रभु! आप कृपाकर मुझे योग के बारे में बताइये।

घेरण्ड उवाच

साधु साधु महाबाहो यस्मात् त्वं परिपृच्छसि।
कथयामि ह ते वत्स सावधानाऽवधारय।। 3।।

घेरण्ड ऋषि बोले हे शक्तिशाली! तुमने मुझ से योग के बारे में पूछकर बहुत अच्छा किया। हे प्रिय! मैं तुम्हें योग के बारे में बताता हूं। मेरी बात मन लगाकर सुनो।

नास्ति मायासमं पापं नास्ति योगात्परं बलम्।
नास्ति ज्ञानात्परो बन्धुर्नाहङ्कारात्परो रिपुः।। 4।।

माया अर्थात् झूठ और छल-फरेब के बराबर कोई पाप नहीं है। योग से

बढ़कर कोई शक्ति नहीं है। ज्ञान से बढ़कर कोई भाई-बन्धु नहीं है और अहंकार या घमण्ड से बढ़कर हमारा कोई शत्रु नहीं है।

अभ्यासात् कादिवर्णानि यथा शास्त्राणि बोधयेत्।
तथा योगं समासाद्य तत्वज्ञानं च लभ्यते।।5।।

जैसे अभ्यास करते-करते क, ख, ग, आदि अक्षरों का ज्ञान हो जाने पर मनुष्य शास्त्रों को पढ़ने लगता है, वैसे ही योगाभ्यास करके साधक को तत्त्वज्ञान हो जाता है।

सुकृतैर्दुष्कृतैः कार्यैर्जायते प्राणिनां घटः।
घटादुत्पद्यते कर्म घटीयन्त्रं यथा भ्रमेत्।। 6।।

ऊर्ध्वाधौ भ्रमते यद्वत् घटीयन्त्रं गवां वशात्।
तद्वत् कर्मवशाज्जीवो भ्रमते जन्ममृत्युभिः।। 7।।

अच्छे और बुरे काम करने से प्राणियों को शरीर मिलते हैं। शरीर पाकर इन्द्रियों के वश में पड़ा मनुष्य काम करता हुआ उसी तरह भागता रहता है जैसे घड़ी की सुइयां पुर्जों के सहारे ऊपर-नीचे आती जाती रहती हैं। अपने पाप-पुण्य के कर्मों के कारण जीव भी जन्म और मृत्यु के चक्र में पड़ा रहता है।

आमं कुम्भमिवाम्भस्थो जीर्यमाणः सदा घटः।
योगानलेन संदह्य घटशुद्धिं समाचरेत्।।8।।

आग में बिना पकाया हुआ कच्चा घड़ा जैसे पानी में फूट जाता है वैसे ही हमारा शरीर भी हर समय नष्ट होता रहता है। इसलिये शरीर को योग की अग्नि में तपाकर मजबूत और मलों से रहित बनाना चाहिये।

शरीर शुद्धि के सात साधन

शोधनं दृढता चैव स्थैर्यं धैर्यं च लाघवम्।
प्रत्यक्षं च निर्लिप्तिं च घटस्थ सप्तसाधनम्।। 9।।

योगाभ्यास करने वालों को अपनी देह की सफाई करनी चाहिये। शरीर को मजबूत और स्थिर बनाना चाहिये। साधक को धैर्य रखना चाहिये अर्थात् उसे कभी घबराना नहीं चाहिये। उसे शरीर में हल्कापन अनुभव होना चाहिये।

उसकी आंख, कान, नाक, आदि इन्द्रियों को देखने, सुनने, और सूंघने आदि का काम ठीक तरह से करते रहना चाहिये। साधक को संसार की चमक दमक और झण्झटें तथा विषय भोगों से अलग रह कर परमात्म तत्त्व का प्रत्यक्ष करना चाहिये। इस प्रकार योगी घेरण्ड के अनुसार योगाभ्यासी को इन सात बातों का सदा ध्यान रखना चाहिये – शरीर शुद्धि, शरीर की दृढ़ता, स्थिरता, धैर्य, हल्कापन, और स्वस्थ ज्ञानेन्द्रियां, वैराग्य तथा परमात्म तत्त्व का प्रत्यक्ष ज्ञान।

षट्कर्मणा शोधनं च आसनेन भवेद् दृढम्।
मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता।। 10।।

प्राणायामाल्लाघवं च ध्यानात्प्रत्यक्षमात्मनि।
समाधिना निर्लिप्तं च मुक्तिरेव न संशयः।। 11।।

हठयोग के षट्कर्मों से शरीर के मल निकल जाते हैं और शरीर शुद्ध या साफ हो जाता है। आसनों का अभ्यास करने से शरीर मजबूत हो जाता है। मुद्राओं के अभ्यास से शरीर का हिलना-डुलना रुक जाता है। प्रत्याहार का अभ्यास करने से मन में धैर्य उत्पन्न होता है। प्राणायाम करने से शरीर में हल्कापन आता है और ध्यान लगाने से परमात्मा का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। तथा समाधि से वैराग्य की भावना बढ़ती है और निस्संदेह मोक्ष मिलता है।

षट्कर्म

धौतिर्वस्तिस्तथा नेतिर्लौलिकी त्राटकं तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि समाचरेत्।। 12।।

शरीर की सफाई के लिये साधक को निम्नलिखित षट्कर्म अर्थात् छह उपाय करने चाहियें-

धौति, वस्ति, नेति, लौलिकी, त्राटक और कपाल भाति।

धौति

अन्तर्धौतिर्दन्तधौतिर्हृद्धौति मूलशोधनम्।
धौति चतुर्विधां कृत्वा घटं कुर्वन्ति निर्मलम्।। 13।।

योगी चार तरह की धौति करके अपना शरीर साफ करते हैं। पहली

अन्तर्धौति अर्थात् शरीर के अन्दर की सफाई। दूसरी दन्तधौति अर्थात् दातुन आदि से दांतों की सफाई। तीसरी हृद्धौति अर्थात् हृदय की सफाई और चौथी धौति - मूलशोधन अर्थात् गुदा की सफाई।

अन्तर्धौति

वातसारं वारिसारं वह्निसारं बहिष्कृतिम्।
घटस्य निर्मलार्थाय अन्तर्धौतिश्चतुर्विधो।। 14।।

शरीर की शुद्धि के लिये वातसार, वारिसार, वह्निसार और बहिष्कृत ये चार प्रकार की अन्तर्धौति की क्रियाएं हैं।

वातसार

काकचञ्चुवदास्येन पिबेद् वायुं शनैः शनैः।
चालयेदुदरं पश्चाद् वर्त्मना रेचयेच्छनैः।। 15।।

ओठों को कौए की चोंच की तरह सिकोड़ कर धीरे-धीरे वायु पीनी चाहिये। फिर पेट को घुमाना चाहिये और बाद में मुंह से धीरे धीरे वायु निकाल देनी चाहिये।

वातसारफलम्

वातसारं परं गोप्यं देहनिर्मल कारणम्।
सर्वरोगक्षयकरं देहानल विवर्द्धनम्।। 16।।

वातसार क्रिया को बहुत गुप्त रखना चाहिये इससे शरीर की सफाई होती है, सारे रोग नष्ट हो जाते हैं और शरीर की अग्नि या जठराग्नि (भूख) बढ़ती है।

वारिसार

आकण्ठं पूरयेद् वारि वक्त्रेण च पिबेच्छनैः।
चालयेदुदरेणैव चोदराद्रेचयेदधः।। 17।।

मुंह से धीरे-धीरे इतना पानी पीना चाहिये कि पानी गले तक भरा लगने लगे। फिर पेट के कुछ आसन करने चाहियें। इन आसनों के करने से पेट में भरा पानी आंतों में जल्दी चला जाता है और शौच जाने पर मल सहित पानी निकल जाता है।

वारिसारफलम्

वारिसारं परं गोप्यं देहनिर्मलकारकम्।
साधयेत्तं प्रयत्नेन देवदेहं प्रपद्यते।। 18।।

वारिसार क्रिया से शरीर साफ हो जाता है। इसे गुप्त रखना चाहिये। इसका अभ्यास करने से शरीर देवताओं के शरीरों जैसा दिव्य बन जाता है।

वह्निसार

नाभिग्रन्थिं मेरुपृष्ठे शतवारं च कारयेत्।
अग्निसारमियं धौतिर्योगिनां योगसिद्धिदा।। 19।।

उदरामयजं त्यक्त्वा जठराग्निं विवर्द्धयेत्।
एषा धौतिः परा गोप्या देवानामपि दुर्ल्लभा।। 20।।

केवलं धौतिमात्रेण देवदेह भवेद् ध्रुवम्।।

नाभि को एक सौ बार कमर में रीढ की हड्डी से लगाना चाहिये। यह क्रिया श्वास निकालकर पेट को जल्दी-जल्दी पीठ से सटाकर और फिर आगे लाकर की जाती है।

शौच जाने से पहिले पानी पीकर अग्निसार करने से पेट साफ हो जाता है। अग्निसार धौति प्रतिदिन करने से पेट की बीमारियां दूर हो जाती हैं और जठराग्नि बढ़ने से भूख लगने लगती है। योगियों के लिये यह धौति बहुत उपयोगी है। इसका अभ्यास करने से सारा शरीर कान्तिमान होकर देवताओं के शरीरों जैसा हो जाता है। इसे गुप्त रखना चाहिये ताकि गलत लोग इसका दुरुपयोग न करने पायें।

बहिष्कृत धौति

काकीमुद्रां शोधयित्वा पूरयेदुदरं महत्।। 21।।

धारयेदर्द्धयामं तु चालयेदधो वर्त्मना।
एषा धौतिः परा गोप्या न प्रकाश्या कदाचन।। 22।।

ओठों को कौए की चोंच जैसा बनाकर पेट में ज्यादा से ज्यादा वायु भर लेनी चाहिये। फिर इस वायु को आधे याम अर्थात् डेढ़ घण्टे बाद गुदा के रास्ते नीचे से निकाल देना चाहिये। यह धौति भी गुप्त रखनी चाहिये।

प्रक्षालनम्

नाभिमग्नो जले स्थित्वा शक्तिनाडीं विसर्जयेत्।
कराभ्यां क्षालयेन्नाडीं यावत् मलविसर्जनम्।। 23।।

तावत् प्रक्षाल्य नाडीं च उदरे वेशयेत् पुनः।
इदं प्रक्षालनं गोप्यं देवानामपि दुर्ल्लभम्।
केवलं धौतिमात्रेण देवदेहो भवेद् ध्रुवम्।। 24।।

नदी में इतने पानी में खड़े होना चाहिये कि नाभि पानी में डूब जाये। फिर पेट से शक्ति नाडी को निकाल कर इस नाड़ी को हाथों से पानी में अच्छी तरह धोकर फिर पेट में डाल लेना चाहिये।

शक्ति नाडी धोने की यह क्रिया देवता भी नहीं जानते। केवल इस प्रक्षालन धौति को करने से शरीर देवताओं के शरीर जैसा बन जाता है।

प्रक्षालन धौति का अभ्यास योगी करते हैं ऐसा सुना जाता है पर किसी ने इसे देखा हो यह पता नहीं चलता। शक्तिनाड़ी से अभिप्राय सम्भवतः बड़ी आंत से है।

यामार्द्धं धारणं शक्तिं यावन् न धारयेन्नरः।
बहिष्कृत महद् धौतिस्तावच्चैव न जायते।। 25।।

साधक को जबतक आधे पहर तक श्वास रोकने का अभ्यास नहीं हो जाता तबतक प्रक्षालन धौति नहीं की जा सकती।

दन्तधौति

दन्तमूलं जिह्वामूलं रन्ध्रं च कर्णयुग्मयोः।
कपालरन्ध्रं पञ्चैते दन्तधौतिं विधीयते।। 26।।

दांतों की जड़ों, जीभ के पिछले भाग, दोनों कानों के छेदों और कपाल विवर इन पांच स्थानों की सफाई करने से दन्तधौति पांच तरह की होती है।

दन्तमूलधौति

खादिरेण रसेनाथ मृत्तिकया च शुष्कया।
मार्जयेद् दन्तमूलं च यावत् किल्विषमाहरेत्।। 27।।

खैर के रस से या सूखी मिट्टी से दांतों की जड़ों को अच्छी तरह साफ करना दन्तधौति कहलाता है।

दन्तमूलधौतिफलम्

दन्तमूलं परा धौतिर्योगिनां योगसाधने।
नित्यं कुर्यात् प्रभाते च दन्तरक्षाय योगवित्।
दन्तमूलं धारणादि कार्येषु योगिनां मतम्।। 28।।

योगसाधना में दांतों की जड़ों की सफाई बहुत आवश्यक है इसलिये सवेरे प्रतिदिन दांत साफ कर दांतों की रक्षा करनी चाहिये। धारणा-ध्यान आदि के लिये चित्त ठहराने या मन एकाग्र करने के जो स्थान शरीर में बताये गये हैं उनमें दन्तमूल भी हैं।

जिह्वाशोधन

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि जिह्वशोधनकारणम्।
जरामरणरोगादीन् नाशयेद् दीर्घलम्बिका।। 29।।

अब मैं जीभ साफ करने का उपाय बताता हूं। जीभ साफ करने से जीभ लम्बी हो जाती है और लम्बी जीभ से बुढ़ापा, मृत्यु और रोग मिट जाते हैं।

तर्जनीमध्यमाऽनामा अङ्गुलित्रययोगतः।
वेशयेद् गलमध्ये तु मार्जयेल् लम्बिकाजडम्।
शनैः शनैर्मार्जयित्वा कफदोषं निवारयेत्।। 30।।

तर्जनी, मध्यमा और अनामिका हाथ की इन तीन बड़ी अंगुलियों को मिलाकर इन्हें गले में डालना चाहिये और इन तीनों अंगुलियों से रगड़ कर जीभ की जड़ साफ करनी चाहिये। जीभ को इस तरह धीरे धीरे साफ करने से गले में और इससे नीचे जमा कफ बाहर निकल जाता है और गला साफ हो जाता है।

मार्जयेन्नवनीतेन दोहयेच्च पुनः पुनः।
तदग्रं लोहयन्त्रेण कर्षयित्वा शनैः शनैः।। 31।।

साफ की हुई जीभ पर मक्खन लगाकर हाथों की अंगुलियों से जीभ को बार बार खींचना चाहिये। लोहे के चिमटे से भी जीभ पकड़कर धीरे धीरे खींचनी चाहिये।

नित्यं कुर्यात् प्रयत्नेन रवेरुदयके ऽस्तके।
एवं कृते च नित्ये च लम्बिका दीर्घतां व्रजेत्।। 32।।

सूर्योदय और सूर्यास्त के समय जीभ खींचने का अभ्यास प्रतिदिन करना चाहिये। जीभ खींचने का या दुहने का अभ्यास करने से जीभ लम्बी हो जाती है।

कर्णधौति

तर्जन्यनामिका योगान्मार्जयेत् कर्णरन्ध्रयोः।
नित्यमभ्यासयोगेन नादान्तरं प्रकाशयेत्।। 33।।

तर्जनी (अंगूठे के पास वाली अंगुली) और अनामिका (छोटी अंगुली के पास की अंगुली) इन दो अंगुलियों से कानों के छेद प्रतिदिन साफ करने से विशेष तरह का नाद (अनाहत नाद) सुनाई देने लगता है।

कपालरन्ध्रशोधनम्

बद्धाङ्गुष्ठेन दक्षेण मार्जयेत् भालरन्ध्रकम्।
एवमभ्यासयोगेन कफदोषं निवारयेत्।। 34।।

नाडी निर्मलतां याति दिव्यदृष्टिः प्रजायते।
निद्रान्ते भोजनान्ते च दिवान्ते च दिने दिने।। 35।।

सोकर उठने के बाद, भोजन करने के बाद और शाम के समय हाथ के दायें अंगूठे से काग या छोटी जीभ के पीछे तालु के छेद को प्रतिदिन साफ करने से जमा हुआ कफ निकल जाता है। इस क्रिया से नाड़ियां साफ हो जाती हैं और आंखें ठीक रहती हैं।

हृद्धौति

हृद्धौतिं त्रिविधं कुर्याद् दण्ड वमन वाससा।

हृदय के आसपास के फेफड़े आदि अंगों की सफाई के लिये हृद्धौति डण्डे, वमन और कपड़े की सहायता से की जाती है।

दण्डधौति

रम्भादण्डं हरिद्रायां वेत्रदण्डं तथैव च।। 36।।

हृन्मध्ये चालयित्वा तु पुनः प्रत्याहरेच्छनैः।।

केले के तने के बीच का भाग या हल्दी की अथवा बेंत की चिकनी और मुलायम टहनी गले में कुछ नीचे तक डालकर निकाल ली जाती है। ऐसा करने से गले के नीचे भोजन की नली में जमा कफ और पित्त निकल जाता है।

कफपित्त तथा क्लेदं रेचयेदूर्ध्व वर्त्मना।। 37।।

दण्डधौतिविधानेन हृद्रोगं नाशयेद् ध्रुवम्।।

दण्डधौति करने से कफ, पित्त और दूसरे मल भी मुंह के रास्ते निकल जाते हैं। दण्डधौति से हृदय रोग भी मिट जाते हैं।

वमनधौति

भोजनान्ते पिबेद् वारि चाकण्ठं पूर्णितं सुधीः।। 38।।

ऊर्ध्वदृष्टिं क्षणं कृत्वा तज्जलं वमयेत् पुनः।
नित्यमभ्यासयोगेन कफपित्तं निवारयेत्।। 39।।

खाना खाने के बाद गले तक खूब पानी पीकर और थोड़ी सी देर तक ऊपर देखकर पिया हुआ सारा पानी मुंह से निकाल देना चाहिये। वमन धौति का नियमित अभ्यास करने से कफ और पित्त बनना बन्द हो जाता है।

वासधौति

चतुरङ्गुलिविस्तारं सूक्ष्मवस्त्रं शनैर्गिलेत्।
पुनः प्रत्यारहेदेतत् प्रोच्यते धौति कर्मकम्।। 40।।

चार अंगुलि चौड़ी तथा 15 हाथ लम्बी पतली मलमल की पट्टी उबाल

कर और धोकर धीरे निगली जाती है। सारी पट्टी पेट में चली जाने पर न्यौली घुमाई जाती है। इसके बाद पट्टी मुंह के रास्ते निकाल दी जाती है।

वासधौतिफलम्

गुल्मज्वरप्लीहकुष्ठं कफपित्तं विनश्यति।
आरोग्यं बलपुष्टिश्च भवेत् तस्य दिने दिने।। 41।।

वस्त्र धौति करने से पेट की गांठ, बुखार, तिल्ली की खराबी और कोढ़ तथा कफ और पित्त के विकार नष्ट हो जाते हैं। वस्त्र धौति से शरीर नीरोग और बलवान होता जाता है।

मूलशोधन

अपानक्रूरता तावद्यावन्मूलं न शोधयेत्।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन मूलशोधनमाचरेत्।। 42।।

गुदा के ऊपर का भाग जबतक साफ नहीं होता तबतक अपान वायु गुदा से नहीं निकल पाता है। इसलिये गुदा का मुख या द्वार साफ करना चाहिये।

पीतमूलस्य दण्डेन मध्यमाङ्गुलिनापि वा।
यत्नेन क्षालयेत् गुह्यं वारिणा च पुनः पुनः।। 43।।

कच्ची हल्दी की टहनी या बायें हाथ की बीच वाली अंगुलि गुदा में डालकर अन्दर का मल निकाल देना चाहिये और गुदा को पानी से अच्छी तरह धोना चाहिये।

वारयेत् कोष्ठकाठिन्यमामाजीर्णं निवारयेत्।
कारणं कान्तिपुष्ट्योश्च दीपनं वह्निमण्डलम्।। 44।।

मूलशोधन से कड़ा मल निकल जाता है। कब्ज, आंव और बदहजमी दूर हो जाती है। भूख खुलकर लगने लगती है और शरीर में बल तथा कान्ति बढ़ती है। मूलशोधन को गणेश क्रिया भी कहते हैं।

वस्तिप्रकरणम्

जलवस्तिः शुष्कवस्तिर्वस्ति स्याद् द्विविधा स्मृता।
जलवस्तिं जले कुर्यात् शुष्क वस्तिं सदा क्षितौ।। 45।।

जलवस्ति और शुष्क वस्ति के भेद से वस्ति दो तरह की होती है। जलवस्ति, पानी में और शुष्कवस्ति, पृथ्वी पर करनी चाहिये।

नाभिमग्ने जले पायुं न्यस्तवानुत्कटासनम्।
आकुञ्चन प्रसारं च जलवस्तिं समाचरेत्।। 46।।

नाभि तक गहरे पानी में उत्कटासन से बैठकर गुदा को खोलकर और सिकोड़कर पानी पेट में भरकर और निकालकर जल वस्ति की जाती है। जलवस्ति का अभ्यास करने के लिये शुरू में छह अंगुल लम्बी और एक अंगुल छेद वाली नलकी गुदा में घुसाकर और न्यौली घुमाकर पेट में पानी भरकर निकाला जाता है। गुदा खोलने का अभ्यास हो जाने पर नलकी की आवश्यकता नहीं रहती।

जलवस्तिफलम्

प्रमेहं च उदावर्तं क्रूरवायुं निवारयेत्।
भवेत् स्वच्छन्ददेहश्च कामदेवसमो भवेत्।। 47।।

जलवस्ति करने से प्रमेह, उदावर्त (कब्ज) और पेट में अपान वायु के विकार नष्ट हो जाते हैं। शरीर अपने अधीन हो जाता है और कामदेव जैसा सुन्दर बन जाता है।

स्थलवस्ति

वस्ति पश्चिमोत्तानेन चालयित्वा शनैरधः।
अश्विनीमुद्रया पायुमाकुञ्चयेत्प्रसारयेत्।। 48।।

पीठ के बल, चित्त लेटकर अश्विनी मुद्रा से गुदा को खोलने और सिकोड़ने का अभ्यास करने से स्थलवस्ति हो जाती है।

स्थलवस्तिफलम्

एवमभ्यासयोगेन कोष्ठदोषं न विद्यते।
विवर्धयेज्जाठराग्निमामवातं विनाशयेत्।। 49।।

स्थलवस्ति का अभ्यास करते रहने से कब्ज दूर हो जाता है। जठराग्नि बढ़ जाती है और पेट में आंव तथा अपान वायु नहीं रहती।

नेतिविधि

वितस्तिमानं सूक्ष्मसूत्रं नासानाले प्रवेशयेत्।
मुखात् वमयेत् पश्यात् प्रोच्यते नेतिकर्मकम्।। 50।।

एक बालिश्त लम्बा पतला डोरा नाक के छेद में डालकर और मुंह से निकालकर नेति (सूत्रनेति) की जाती है।

नेतिफलम्

साधनान्नेति कर्माणि खेचरीं सिद्धिमाप्नुयात्।
कफदोषं विनश्यन्ति दिव्यदृष्टिः प्रजायते।। 51।।

प्रतिदिन सूत्रनेति करने से खेचरी मुद्रा लगाने में सहायता मिलती है। कफ से होने वाले रोग दूर हो जाते हैं और आंखों की ज्योति बढ़ जाती है।

लौलिकीविधि

अमन्दवेगेन तुन्दं च भ्रामयेदुभयपार्श्वयोः।
सर्वरोगान्निहन्तीह देहानलविवर्द्धनम्।। 52।।

पेट को दांयी और बांयी ओर तेजी से घुमाकर लौलिकी या न्यौली क्रिया की जाती है। प्रतिदिन सवेरे न्यौली घुमाने से पेट के सारे रोग नष्ट हो जाते हैं और जठराग्नि बढ़ जाती है। न्यौली करने के लिये पहिले अग्निसार क्रिया से पेट को अन्दर बाहर करने का अभ्यास करना चाहिये। इसके बाद पेट अन्दर खींचकर आतों को इकट्ठा करके इन्हें दायें और बायें घुमाया जाता है।

त्रोटकविधि

निमेषोन्मेषकं त्यक्त्वा सूक्ष्मलक्ष्यं निरीक्षयेत्।
पतन्ति यावदश्रूणि त्रोटकं प्रोच्यते बुधैः।। 53।।

कुछ दूरी पर रखे छोटे से लक्ष्य को पलक झपकाये बिना तबतक देखते रहना चाहिये जबतक आंखों से आंसू न गिरने लगें। त्राटक या त्रोटक करने के लिये लगभग आठ फीट की दूरी पर दीपक या काला बिन्दु रखा जाता है और दीपक की लौ अथवा काले बिन्दु को एकटक देखा जाता है। यह लक्ष्य आंखों के बराबर ऊँचा रखना चाहिये।

त्रोटकफलम्

एवमभ्यासयोगेन शाम्भवी जायते ध्रुवम्।
नेत्ररोगा विनश्यन्ति दिव्यदृष्टिः प्रजायते।। 54।।

त्राटक का अभ्यास करने से शाम्भवी मुद्रा सिद्ध हो जाती है और आंखों के रोग नष्ट होकर आंखों की ज्योति बढ़ जाती है। त्राटक के अभ्यास से नासाग्र या भ्रूमध्य में देखते रहने का अर्थात् शाम्भवी मुद्रा का अभ्यास हो जाता है।

कपालभाति विधि

वातक्रमेण व्युत्क्रमेण शीत्क्रमेण विशेषतः।
भालभातिं त्रिधा कुर्यात् कफदोषं निवारयेत्।। 55।।

वातक्रम, व्युत्क्रम, और शीत्क्रम इन तीन प्रकार से कपाल भाति की जाती है। इससे कफ से पैदा होने वाले रोग नष्ट हो जाते हैं।

वातक्रमकपालभाति

इडया पूरयेद् वायुं रेचयेत् पिङ्गलया पुनः।
पूरयेद् वा पिङ्गलया पुनश्चन्द्रेण रेचयेत्।। 56।।

इडा अर्थात् चन्द्र नाडी या बायें स्वर से श्वास भरकर पिंगला अर्थात् सूर्य नाड़ी या दायें स्वर से श्वास निकालना चाहिये। इसी तरह दांये स्वर से श्वास भकर बायें स्वर से श्वास निकालना या रेचक करना चाहिये।

पूरकं रेचकं कृत्वा वेगेन न तु चालयेत्।
एवमभ्यासयोगेन कफदोषं निवारयेत्।। 57।।

कपालभाति करते समय पूरक और रेचक जल्दी-जल्दी नहीं करना चाहिये अर्थात् गहरा और लम्बा श्वास धीरे धीरे भरना (पूरक) चाहिये और इसी प्रकार धीरे धीरे श्वास निकालना (रेचक) चाहिये। कपालभाति का अभ्यास करने से कफ से उत्पन्न रोग दूर हो जाते हैं।

व्युत्क्रमकपालभाति

नासाभ्यां जलमाकृष्य पुनर्वक्त्रेण रेचयेत्।
पायं पायं व्युत्क्रमेण श्लेष्मदोषं निवारयेत्।। 58।।

नाक के स्वरों से पानी खींचकर यह पानी मुंह से निकाल देना चाहिये।

फिर मुंह से पानी पीकर इसे नाक से निकालना चाहिये। व्युत्क्रम कपाल भाति के अभ्यास से कफ रोग नष्ट हो जाते हैं।

शीत्क्रमकपालभाति

शीत्कृत्य पीत्वा वक्त्रेण नासानालैर्विरेचयेत्।
एवमभ्यास योगेन कामदेवसमो भवेत्।। 59।।

न जायते च वार्द्धक्यं जरा नैव प्रजायते।
भवेत् स्वच्छन्ददेहश्च कफदोषं निवारयेत्।। 60।।

मुंह से सीत्कार अर्थात् सी सी शब्द करते हुए पानी पीकर यह पानी नाक के स्वरों से निकाल देना चाहिये। शीत्क्रम कपालभाति करने से शरीर की कान्ति बढ़ जाती है। शरीर अपने नियन्त्रण में रहता है। शरीर में बुढ़ापा नहीं आता और कफ रोग दूर हो जाते हैं।

उपरोक्त षट्कर्म, योगाभ्यास प्रारम्भ करने से पहिले करने चाहियें ताकि शरीर के सारे मल निकल जायें और शरीर में हल्कापन तथा आरोग्य आ जाय। ये सभी षट्कर्म किसी अनुभवी व्यक्ति से सीखने चाहियें क्योंकि इन्हें गलत ढंग से करने पर लाभ के स्थान पर हानि हो सकती है। जैसे कोई भी विद्या या हुनर सीखने के लिये अनुभवी गुरु की आवश्यकता होती है उसी प्रकार योगमार्ग बताने के लिये किसी गुरु की आवश्यकता होती है। गुरु के निरन्तर निरीक्षण में रहकर ही साधक योग में उन्नति कर अपने लक्ष्य पर पहुंच सकता है। योग का मार्ग कांटें से भरा है। इसमें कदम कदम पर प्रलोभन और कठिनाइयां दोनों ही आती हैं। इसलिये सच्चे गुरु की उपस्थिति अत्यन्त अनिवार्य है।

वस्त्र धौति, वारिसार या कुंजल, वस्ति, दण्डधौति, सूत्र नेति और जलनेति, त्राटक और न्यौली ये षट्कर्म ऐसे हैं जिन्हें प्रत्येक व्यक्ति की शारीरिक स्थिति और क्षमता के अनुसार ही अनुभवी व्यक्ति करा सकता है। इन सभी के अभ्यास में रुकावटें भी आती हैं। जिन्हें अनुभव सिद्ध गुरु ही दूर कर सकता है। यह बात निश्चय के साथ कही जा सकती है कि षट्कर्मों का नियमित अभ्यास शरीर को नीरोग और योगमार्ग को सरल बना देता है।

इति श्रीघेरण्डसंहितायां महर्षिघेरण्ड नृपचण्डकापालि सम्वादे षट्कर्मसाधनं नाम प्रथमोपदेशः।

घेरण्ड संहिता में महर्षि घेरण्ड और राजा चण्डकापालि के वार्त्तालाप में षट्कर्मसाधन नाम का पहिला उपदेश समाप्त।

द्वितीय उपदेश

आसन

आसनानि समस्तानि यावन्तौ जीवजन्तवः।
चतुरशीतिलक्षाणि शिवेन कथितं पुरा।। 1।।

तेषां मध्ये विशिष्टानि षोडशोनं शतं कृतम्।
तेषां मध्ये मर्त्यलोके द्वात्रिंशदासनं शुभम्।। 2।।

इस संसार में जितने भी जीव-जन्तु हैं उतने ही आसन हैं। शिवजी ने सबसे पहिले चौरासी लाख आसनों का उपदेश दिया था क्योंकि संसार में चौरासी लाख योनियां हैं। इन चौरासी लाख आसनों में से चौरासी आसन मुख्य हैं और मनुष्य लोक के लिये इन चौरासी आसनों में से बत्तीस आसन अच्छे और पर्याप्त हैं।

सिद्धं पद्मं तथा भद्रं मुक्तं वज्रं च स्वस्तिकम्।
सिंहं च गोमुखं वीरं धनुरासनमेव च।। 3।।

मृतं गुप्तं तथा मत्स्यं मत्स्येन्द्रासनमेव च।
गोरक्षं पश्चिमोत्तानं उत्कटं संकटं तथा। 4।।

मयूरं कुक्कुटं कूर्मं तथा चोत्तानकूर्मकम्।
उत्तानमण्डूकं वृक्षं मण्डूकं गरुडं वृषम्।। 5।।

शलभं मकरं उष्ट्रं भुजङ्गं च योगासनम्।
द्वात्रिंशदासनानि तु मर्त्यलोके च सिद्धिदम्।। 6।।

सिद्धासन, पद्मासन, भद्रासन, मुक्तासन, वज्रासन, स्वस्तिकासन, सिंहासन, गोमुखासन, वीरासन, धनुरासन, मृतासन (शवासन), गुप्तासन, मत्स्यासन,

मत्स्येन्द्रासन, गोरक्षासन, पश्चिमोत्तानासन, उत्कटासन, संकटासन, मयूरासन, कुक्कुटासन, कूर्मासन, उत्तानकूर्मासन, उत्तानमण्डूकासन, वृक्षासन, मण्डूकासन, गरुडासन, वृषभासन, शलभासन, मकरासन, भुजंगासन, उष्ट्रासन और योगासन, ये बत्तीस आसन मनुष्य लोक में सफलता दिलाने वाले हैं।

सिद्धासन

योनिस्थानकमंध्रिमूलघटितं सम्पीड्य गुल्फेतरम्।
मेढ्रे सम्प्रणिधाय तं तु चिबुकं कृत्वा हृदिस्थायिनम्।
स्थाणुः संयमितेन्द्रियोऽचलदृशा पश्यन् भ्रुवोरन्तरम्।
मोक्षं चैव विधीयते फलकरं सिद्धासनं प्रोच्यते।। 7।।

जितेन्द्रिय साधक को पैर की एक एड़ी योनिस्थान पर अर्थात् अण्डकोष के नीचे लगानी चाहिये और दूसरी एड़ी को लिंग मूल के ऊपर रखना चाहिये। ठोडी को कण्ठकूप में सटा देना चाहिये अर्थात् जालन्धर बन्ध लगाना चाहिये। शरीर को स्थिर रखकर भौंहों के बीच में एकटक देखते रहना चाहिये। इस तरह सिद्धासन लगाने से साधक के लिये मोक्ष मार्ग खुल जाता है।

पद्मासन

वामोरूपरि दक्षिणं हि चरणं संस्थाप्य वामं तथा -
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम्।
अङ्गुष्ठे हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकयेत् -
एतद्व्याधि विनाशकारणपरं पद्मासनं प्रोच्यते।। 8।।

हाथों से दायें पैर को उठाकर बांयी जांघ पर रखना चाहिये और बायें पैर को दायीं जांघ पर। पीठ के पीछे दोनों हाथ ले जाकर पैरों के अंगूठे कस कर पकड़ लेने चाहियें और ठोडी को कण्ठकूप में लगाकर नाक के अगले भाग पर एकटक देखते रहना चाहिये। इस तरह बद्ध पद्मासन लगाने से शरीर के सारे रोग नष्ट हो जाते हैं।

भद्रासन

गुल्फौ च वृषणस्याधो व्युत्क्रमेण समाहितः।
पदाङ्गुष्ठे कराभ्यां च धृत्वा पृष्ठदेशतः।। 9।।

जालन्धरं समासाद्य नासाग्रमवलोकयेत्।
भद्रासनं भवेदेतत् सर्वव्याधि विनाशनम्।। 10।।

पैर की दोनों एड़ियां उलट कर अण्डकोषों के नीचे लगानी चाहियें और दोनों हाथों को पीठ के पीछे ले जाकर पैरों के अंगूठे पकड़ लेने चाहियें। जालन्धर बन्ध लगाना चाहिये और नासाग्र पर एकटक देखते रहना चाहिये। इस प्रकार भद्रासन लगाने का अभ्यास करने से शरीर के सारे रोग नष्ट हो जाते हैं।

मुक्तासन

पायुमूले वामगुल्फं दक्षगुल्फं तथोपरि।
शिरोग्रीवा समं कार्यं मुक्तासनं तु सिद्धिदम्।। 11।।

गुदा के नीचे बायीं एड़ी रखकर इसके ऊपर दायीं एड़ी रखनी चाहिये और सिर तथा गर्दन सीधी रखनी चाहिये। यह मुक्तासन साधक को हर तरह की सफलता देता है।

वज्रासन

जङ्घाभ्यां वज्रवत् कृत्वा गुदपार्श्वे पदावुभौ।
वज्रासनं भवेदेतत् योगिनां सिद्धिदायकम्।। 12।।

दोनों जांघों को वज्र की तरह सीधी रखकर और दोनों पैरों को मोड़कर गुदा के नीचे रखकर सीधा बैठने से वज्रासन होता है। यह आसन योगियों को सफलता प्रदान करता है।

स्वस्तिकासन

जानूर्वोरन्तरं कृत्वा योगी पादतले उभे।
ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते।। 13।।

दोनों जांघों और पिण्डलियों के बीच कुछ दूरी रखकर दोनों पैरों के पंजे दायीं और बायीं जांघों और पिण्डलियों के बीच फंसाकर सीधे बैठना स्वस्तिकासन कहलाता है। सामान्य भाषा में इस आसन को पलोथी या पलथी मारकर बैठना कहते हैं।

सिंहासन

> गुल्फौ च वृषणस्याधो व्युत्क्रमेणोर्ध्वतां गतः।
> चितिमूलो भूमिसंस्थः कृत्वा च जानुनोपरि।। 14।।
> व्यक्ताव्यक्तौ जलन्धरं च नासाग्रमवलोकयेत्।
> सिंहासनं भवेदेतत् सर्वव्याधिविनाशनम्।। 15।।

दायें और बायें पैरों की एड़ियां अण्डकोशों के नीचे इस तरह रखनी चाहियें कि दांयी एड़ी; बांयी जांघ और नितम्ब के नीचे आ जाय और बायीं एड़ी, दायीं जांघ और नितम्ब के नीचे। जाघें भूमि पर लगी रहें और हथेलियां घुटनों पर रखकर मुंह खोलकर जीभ को ठोडी पर लगायें तथा जालन्धर बन्ध के साथ नाक के अगले भाग पर देखें।

सिंहासन के अभ्यास से सभी रोग नष्ट हो जाते हैं। हाथ, पैर, कमर, गर्दन और सीवनी शक्तिशाली होती है। हकलाना बन्द हो जाता है।

गोमुखासन

> पादौ च भूमौ संस्थाप्य पृष्ठपार्श्वे निवेशयेत्।
> स्थिरकायं समासाद्य गोमुखं गोमुखाकृतिः।। 16।।

पैरों को जमीन पर रखकर पीठ की ओर करना चाहिये और बिना हिले जुले बैठे रहना चाहिये।

इस श्लोक में गोमुखासन की पूरी विधि नहीं बताई गई है। गोमुखासन करने के लिये दायें पैर को बायीं जांघ के ऊपर रखना चाहिये। बायां पैर मोड़कर पीछे कर लेना चाहिये। कमर सीधी रखकर दायां हाथ पीठ की ओर ले जाकर बायें कन्धे की ओर उठाना चाहिये और बायां हाथ मोड़कर बायें कन्धे के पीछे ले जाकर दोनों हाथों की अंगुलियां आपस में फंसा लेनी चाहियें। गर्दन उठाकर बायीं कोहनी का सिरा देखते रहना चाहिये। इसी तरह बायां हाथ पीछे ले जाकर दायें हाथ की अंगुलियां पकड़नी चाहियें। गर्दन उठाकर दायीं कोहनी का सिरा देखते रहना चाहिये। यह आसन नियमित करने से कन्धों और गर्दन का दर्द तथा कन्धों का अकड़ जाना नहीं होता। फेफड़े खुलने से श्वास-प्रश्वास गहरा होने लगता है। यह आसन कुर्सी पर बैठकर किसी भी समय किया जा सकता है। सिर झुकाकर

लिखने-पढ़ने का काम करने वालों तथा कम्प्यूटर पर देर तक काम करने वालों को इस आसन से बहुत लाभ होता है। गर्दन, कन्धे, कमर और अंगुलियों की ऐंठन, तथा दर्द दूर हो जाता है।

वीरासन

एक पादमथैकस्मिन् विन्यसेदूरुसंस्थितम्।
इतरस्मिंस्तथा पश्चाद्वीरासनमितीरितम्।। 17।।

एक पैर को जांघ के ऊपर रखकर और दूसरे पैर को नीचे ही रखकर अर्थात् अर्ध पद्मासन लगाकर बैठना वीरासन कहलाता है।

धनुरासन

प्रसार्य पादौ भुविदण्डरूपौ करौ च पृष्ठे धृतपादयुग्मम्।
कृत्वा धनुस्तुल्य परिवर्तिताङ्गं निधाय योगी धनुरासनं तत्।। 18।।

पेट के बल लेटकर पैरों को उठाकर दोनों हाथों से पैरों के पंजे पकड़ लेने चाहियें। ऐसा करने से छाती और जांघें उठ जायेंगी और पेट जमीन पर लगा रहेगा। हाथों से पंजे पकड़कर कमर को धनुष की तरह मोड़ने से धनुषासन हो जाता है।

मृतासन या शवासन

उत्तानशववद् भूमौ तु शयानं शवासनम्।
शवासनं श्रमहरं चित्तविश्रान्तिकारणम्।। 19।।

कमर के बल शव की तरह जमीन पर लेटने से शवासन हो जाता है। शवासन करते हुए शरीर के सभी अंग ढीले छोड़ देने चाहियें। योगाभ्यास और विशेष रूप से आसन करने के बाद शवासन किया जाता है।

गुप्तासन

जानुनोरन्तरे पादौ कृत्वा पादौ च गोपयेत्।
पादोपरि च संस्थाप्य गुदं गुप्तासनं विदुः।। 20।।

स्वस्तिक आसन की तरह जांघों के बीच में पंजे रखकर और एड़ियां गुदा के नीचे लगाकर बैठने से गुप्तासन होता है।

मत्स्यासन

मुक्तपद्मासनं कृत्वा उत्तानशयनं चरेत्।
कूर्पराभ्यां शिरो वेष्ट्य मत्स्यासनं तु रोगहा।। 21।।

साधारण पद्मासन में बैठकर चित्त लेट जाना चाहिये। लेटे लेटे ही दोनों घुटने सिर से लगाने चाहियें।

मत्स्यासन, पद्मासन में लेटकर दोनों कुहनियां जमीन पर टिकाकर तथा सिर को पीछे मोड़कर छाती और कमर ऊपर उठाकर भी किया जाता है। यही विधि प्रचलित भी है। मत्स्यासन से शरीर के रोग दूर हो जाते हैं।

पश्चिमोत्तानासन

प्रसार्य पादौ भुवि दण्डरूपौ सन्यस्तभालश्चितियुग्ममध्ये।
यत्नेन पादौ च धृतौ कराभ्यां योगीन्द्रपीठं पश्चिमोत्तानमाहुः।। 22।।

दोनों पैर जमीन पर सीधे फैलाकर सिर को दोनों घुटनों के बीच में लगाना चाहिये और हाथों से पैरों के अंगूठे पकड़ने चाहियें। पश्चिमोत्तानासन, पेट, पीठ, रीढ़ की हड्डी आदि सारे शरीर के लिये लाभदायक है।

मत्स्येन्द्रासन

उदरं पश्चिमाभासं कृत्वा तिष्ठन्ति यत्नतः।
नम्राङ्गवामपादं हि दक्षजानूपरि न्यसेत्।। 23।।

तत्र याम्यं कूर्परं च याम्यं करे वक्त्रकम्।
भ्रुवोर्मध्ये गतां दृष्टिं पीठं मात्स्येन्द्रमुच्यते।। 24।।

पेट को पीछे की ओर घुमाकर बायां पैर दाहिने पैर के घुटने के ऊपर रखें। बायां हाथ पीठ के पीछे से लाकर बायें पैर का अंगूठा पकड़ लें। मुंह बायें कन्धे की ओर घुमायें और भौहों के बीच में देखें। दायें हाथ को बायें घुटने के ऊपर लाकर दायें पैर का अंगूठा पकड़ें।

यह विधि अर्ध मत्स्येन्द्रासन की है।

गोरक्षासन

जानूर्वोरन्तरे पादौ उत्तानाव्यक्तसंस्थितौ।
गुल्फौ चाच्छाद्य हस्ताभ्यामुत्तानाभ्यां प्रयत्नतः।।25।।

कण्ठ संकोचनं कृत्वा नासाग्रमवलोकयेत्।
गोरक्षासनमित्याह योगिनां सिद्धिकारणम्।।26।।

दोनों पैरों के तलुए जांघों और घुटनों के बीच में रखकर दोनों हाथों से एड़िया पकड़नी चाहिएं। जालन्धर बन्ध लगाकर नाक के अगले भाग पर देखते रहें। गोरक्षासन में बैठे रहने से योगी को सफलता मिलती है।

उत्कटासन

अङ्गुष्ठाभ्यामवष्टभ्य धरां गुल्फे च खे गतौ।
तत्रोपरि गुदं न्यस्य विज्ञेयमुत्कटासनम्।। 27।।

पैरों के अंगूठे जमीन से सटाकर एड़ियां उठायें। एड़ियों पर गुदा सटाकर बैठे रहें।

संकटासन

वामपादं चितेर्मूलं सन्यस्य धरणीतले।
पाददण्डेन याम्येन वेष्टयेद् वामपादकम्।
जानुयुग्मे करौ युग्ममेतत्तु संकटासनम्।। 28।।

ज़मीन पर बैठकर बांया पैर जांघ के जोड़ पर लगाना चाहिये। दांये पैर को बांये पैर पर रखना चाहिये और दोनों हाथ दोनों जांघों पर रहने चाहियें।

मयूरासन

धरामवष्टभ्य करयोस्तलाभ्यां तत्कूर्परे स्थापित नाभिपार्श्वम्।
उच्चासनो दण्डवदुत्थितः खे मयूरमेतत्प्रवदन्ति पीठम्।।29।।

दोनों हाथों की हथेलियां जमीन पर टिकाकर और कोहनियों पर नाभि

सटाकर पैर सीधे करके हथेलियों के सहारे आकाश में सारा शरीर सन्तुलित रखने से मयूरासन होता है।

कुक्कुट्टासन

पद्मासनं समासाद्य जानूर्वोन्तरे करौ।
कूर्पराभ्यां समासीनो मञ्चस्थःकुक्कुटासनम्।। 30।।

पद्मासन लगाकर और जांघों तथा पिण्डलियों के बीच में दोनों हाथ कोहनियों तक डालकर हथेलियों के सहारे सारा शरीर उठाकर कुक्कुटासन किया जाता है।

कूर्मासन

गुल्फौ च वृषणस्याधो व्युत्क्रमेणसमाहितौ।
ऋजुकायशिरोग्रीवं कूर्मासनमितीरितम्।। 31।।

दोनों एड़ियों को अण्डकोशों के नीचे लगाकर धड़, गर्दन और सिर सीधा रखकर बैठने से कूर्मासन होता है।

कूर्मासन की दूसरी विधि यह है कि कि कुक्कुटासन की तरह पद्मासन लगाकर दोनों हाथों को कोहनियों तक जांघों और पिण्डलियों के बीच में डालकर हथेलियां और अंगुलियां गर्दन के पीछे ले जाकर अंगुलियां आपस में मिलायी जाती हैं। कूर्मासन में कुक्कुटासन की तरह जमीन से शरीर नहीं उठाया जाता अपितु पद्मासन में बैठकर हाथों से गर्दन पकड़ी जाती है।

उत्तानकूर्मासन

कुक्कुटासनबन्धस्थं कराभ्यां धृतकन्धरम्।
पीठं कूर्मवदुत्तानमेतदुत्तानकूर्मकम्।। 32।।

कुक्कुटासन लगाकर हाथों से कन्धे या गदर्न का पिछला भाग पकड़ने से उत्तान कूर्मासन होता है। उत्तानकूर्मासन पिछले श्लोक में बतायी कूर्मासन की दूसरी विधि ही है।

उत्तानमण्डूकासन

मण्डूकासनमध्यस्थं कूर्पराभ्यां धृतं शिरः।
एतद् भेकवदुत्तानमण्डूकम्।। 33।।

मण्डूकासन में बैठकर हाथों से सिर पकड़ कर झुकने से शरीर मेंढक की तरह उठ जाता है।

वृक्षासन

वामोरुमूलदेशे च याम्ये पादौ निधाय तु।
तिष्ठेत्तु वृक्षवद् भूमौ वृक्षासनमिदं विदुः।। 34।।

बायीं जांघ के सिरे या जड़ में दायां पैर लगाकर पेड़ की तरह सीधा खड़े रहने से वृक्षासन होता है।

मण्डूकासन

पृष्ठदेशे पादतलौ अङ्गुष्ठे द्वे च संस्पृशेत्।
जानुयुग्मं पुरस्कृत्य साधयेन्मण्डूकासनम्।। 35।।

दोनों पैर पीठ की ओर पीछे मोड़कर दोनों अंगूठे मिलाने चाहियें और जांघें सामने सीधी रहनी चाहियें।

गरुडासन

जंघोरुभ्यां धरां पीड्य स्थिरकायो द्विजानुनी।
जानूपरि करं युग्मं गरुडासनमुच्यते।। 36।।

जांघों और पिण्डुलियों को जमीन से सटाकर और जांघों पर दोनों हाथ रखकर बैठने से गरुडासन होता है। इन दिनों गरुडासन की प्रचलित विधि यह है कि सीधे खड़े होकर एक पैर से दूसरा पैर लपेटें, फिर दोनों हाथों को भी इसी तरह आपस में लपेट कर हथेलियां मिलाकर हथेलियां नाक के पास ले जायें।

वृषासन

याम्यगुल्फे पायुमूलं वामभागे पदेतरम्।
विपरीतं स्पृशेद् भूमिं वृषासनमिदं भवेत्।। 37।।

दायीं एड़ी को गुदा पर रखकर और बायां पैर उलट कर गुदा के बायीं ओर रखकर आगे झुककर जमीन छूने से वृषासन होता है।

शलभासन

अधास्य शेते करयुग्मवक्ष भूमिमवष्टभ्यकरयोस्तलाभ्याम्।
पादौ च शून्ये च वितस्ति चोर्ध्वं वदन्ति पीठं शलभं मुनीन्द्राः ।। 38 ।।

मुंह नीचे करके अर्थात् पेट के बल लेटकर दोनों हाथ, छाती और हथेलियां जमीन से लगा कर दोनों पैर एक बालिश्त उठाकर शलभासन किया जाता है।

मकरासन

अधास्यशते हृदयं निधाय भूमौ च पादौ प्रसार्यमाणौ।
शिरे च धृत्वा करदण्डयुग्मे देहाग्निकारं मकरासनं तत् ।। 39 ।।

शलभासन की तरह पेट के बल लेटकर मुंह नीचा रखकर और छाती जमीन से सटाकर दोनों पैर फैलाकर और दोनों हाथ सिर पर रखकर मकरासन किया जाता है। इससे शरीर में गर्मी बढ़ती है।

उष्ट्रासन

अधास्य शेते पदयुग्मव्यस्तं पृष्ठे निधायापि धृतं कराभ्याम्।
आकुञ्चयेत् सम्यगुदरास्यगाढं उष्ट्रं च पीठं योगिनो वदन्ति ।। 40 ।।

पेट के बल लेटकर दोनों पैर उठाकर इन्हें दोनों हाथों से पकड़कर और पेट तथा मुंह अच्छी तरह सिकोड़कर उष्ट्रासन किया जाता है। इन दिनों उष्ट्रासन की प्रचलित विधि यह है कि वज्रासन में बैठकर हाथों से एड़ियां पकड़ी जाती हैं। फिर सारा शरीर हाथों के सहारे उठाया जाता है और सिर पीछे झुकाया जाता है और छाती उठाई जाती है। ऐसा करने से पीठ मुड़ जाती है।

भुजङ्गासन

अङ्गुष्ठनाभिपर्यन्तमधोभूमौ विनिस्येत्।
करतलाभ्यां धरां धृत्वा ऊर्ध्वं शीर्षं फणीव हि।। 41 ।।

पैर के अंगूठे से लेकर नाभि तक सारा शरीर भूमि से लगाकर हथेलियों के सहारे छाती और सिर उठाना चाहिये। ऐसा करने से शरीर सांप जैसा लगता है।

देहाग्निर्वर्द्धते नित्यं सर्वरोग विनाशनम्।
जागर्ति भुजगी देवी साधनाद् भुजगासनम्।। 42।।

सर्पासन का नियमित अभ्यास करने से शरीर की गर्मी और कान्ति बढ़ती है। सारे रोग नष्ट हो जाते हैं और कुण्डलिनी शक्ति जाग जाती है।

योगासन

उत्तानौ चरणौ कृत्वा संस्थाप्य जानुनोपरि।
आसनोपरि संस्थाप्य उत्तानं कर युग्मकम्।। 43।।

पूरकैर्वायुमाकृष्य नासाग्रमवलोकयेत्।
योगासनं भवेदेतत् योगिनां योगसाधने।। 44।।

दोनों पैर दोनों जांघों के ऊपर रखकर और दोनों हाथों की हथेलियां ऊपर नीचे रखकर पूरक प्राणायाम से श्वास भरकर नाक के अगले सिरे को देखते हुए बैठने से योगासन होता है। योगाभ्यास में योगी इसी आसन में बैठते हैं।

इति श्री घेरण्डसंहितायां महर्षिघेरण्ड नृप चण्डकापालि सम्वादे द्वात्रिंशदासनवर्णनं नाम द्वितीयोपदेशः।।

श्री घेरण्डसंहिता में महर्षि घेरण्ड और राजा चण्डकापालि के वार्त्तालाप में बत्तीस आसनों के वर्णन वाला दूसरा उपदेश समाप्त हुआ।

।। इति।।

तृतीय उपदेश

मुद्रा कथन प्रकरणम्

मुद्राएं

महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम्।
मूलबन्धो महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।। 1।।

विपरीतकरी योनिर्वज्राणी शक्तिधारिणी।
ताडागी माण्डवी मुद्रा शाम्भवी पञ्चधारिणी।। 2।।

अश्विनी पाशिनी काकी मातङ्गी च भुजङ्गिनी।
पञ्चविंशति मुद्राणि सिद्धिदानीह योगिनाम्।। 3।।

महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयान, जलन्धर, मूलबन्ध, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, विपरीतकरणी, योनि, वज्राणी, शक्तिधारिणी, ताडागी, माण्डवी, शाम्भवी, धारणी, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातंगी और भुजंगिनी ये मुद्राएं योगियों को सफलता दिलाती हैं। इनमें धारणा मुद्रा पांच तरह की होती है। इन पांचों के नाम हैं - पार्थिवी धारणा, आम्भसी धारणा, वैश्वानरी धारणा, वायवी धारणा और नभो धारणा। इस प्रकार पच्चीस मुद्राएं हैं।

मुद्राणां पटलं देवि कथितं तव सन्निधौ।
येन विज्ञातमात्रेण सर्वसिद्धिः प्रजायते।। 4।।

गोपनीयं प्रयत्नेन न देयं यस्य कस्यचित्।
प्रीतिदं योगिनां चैव दुर्लभं मरुतामपि।। 5।।

शिवजी ने पार्वती से कहा देवि! मैंने तुम्हें सभी मुद्राओं के नाम बता दिये हैं। इनके नाम जान लेने से ही सभी सिद्धियां मिल जाती हैं। इन्हें गुप्त

रखना चाहिये और किसी भी जाने अनजाने व्यक्ति को नहीं देना चाहिये। ये मुद्राएं योगियों को आनन्द देती हैं। देवताओं को भी ये मुद्राएं मिलनी कठिन हैं।

महामुद्रा

पायुमूलं वामगुल्फे सम्पीड्य दृढ यत्नतः।
याम्यपादं प्रसार्याथ करे धृतपदाङ्गुलः।। 6।।

कण्ठसंकोचनं कृत्वा भ्रुवोर्मध्ये निरीक्षयेत्।
महामुद्राभिधा मुद्रा कथ्यते चैव सूरिभिः।। 7।।

बाईं एड़ी से गुदामूल को खूब जोर से दबाकर दायां पैर आगे सीधा फैलाकर हाथों से इसी पैर की अंगुलियां पकड़कर जलन्धर बन्ध लगाकर और भौहों के बीच में देखते रहने से महामुद्रा लगती है। दांयी एड़ी को गुदा पर लगाकर और बायां पैर फैलाकर भी महामुद्रा का अभ्यास करना चाहिये।

महामुद्राफलम्

क्षयकास गुदावर्तं प्लीहा जीर्णज्वरं तथा।
नाशयेत् सर्वरोगांश्च महामुद्रातिसेवनात्।। 8।।

इस महामुद्रा को लम्बी अवधि तक लगाये रखने से तपेदिक की खांसी, गुदा का फोड़ा, तिल्ली का बुखार और पुराना बुखार तथा शरीर के सभी रोग नष्ट हो जाते हैं।

नभोमुद्रा

यत्र यत्र स्थितो योगी सर्वकार्येषु सर्वदा।
ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा धारयेत् पवनं सदा।
नभोमुद्रा भवेदेषा योगिनां रोगनाशिनी।। 9।।

योगी जब भी कोई काम करे तब उसे जीभ को तालु में लगाकर कुम्भक करके और हिले डुले बिना रहना चाहिये। यह मुद्रा रोगों को नष्ट करती है।

उड्डीयान बन्ध

उदरे पश्चिमं तानं नाभिरूर्ध्वं तु कारयेत्।

उड्डीयानं कुरुते यत् तद् विश्रान्तं महाखगः।
उड्डीयानं त्वसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी।। 10।।

श्वास निकालकर पेट को पीछे पीठ से सटाकर उड्डीयान बन्ध किया जाता है। इस बन्ध के अभ्यास से प्राणवायु (महाखग) सुषुम्ना में चलने लगता है। उड्डीयान बन्ध लगाने से नाभि के पास के मणिपूर और स्वाधिष्ठान तथा मूलाधार आदि चक्रों पर दबाव पड़ता है। यह बन्ध लगाने से मृत्यु का भय नहीं रहता। इस बन्ध से प्राण, पक्षी की तरह उड़कर सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाता है। इसीलिये इस बन्ध को उड्डीयान कहा जाता है।

उड्डीयान बन्धफलम्

समग्राद् बन्धनादेतत् उड्डीयानं विशिष्यते।
उड्डीयाने समभ्यस्ते मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत्।। 11।।

उड्डीयान बन्ध अन्य सभी बन्धों से श्रेष्ठ है। इसका अच्छी तरह अभ्यास करने से मोक्ष स्वयं मिल जाता है।

जालन्धर बन्ध

कण्ठसंकोचनं कृत्वा चिबुकं हृदये न्यसेत्।
जालन्धरकृते बन्धे षोडशाधार बन्धनम्।
जालन्धरं महामुद्रा मृत्योश्च क्षयकारिणी।। 12।।

गला सिकोड़ कर ठोडी को कण्ठकूप में लगाना चाहिये। यह बन्ध लगाने से शरीर के उन सोलह स्थानों पर दबाव पड़ता है जहाँ पर मन लगाया जाता है। जालंधर बन्ध से मृत्यु दूर रहती है।

जालन्धरबन्ध फलम्

सिद्धं जालन्धरं बन्धं योगिनां सिद्धिदायकम्।
षण्मासमभ्यसेत् यो हि स सिद्धो नात्र संशयः।। 13।।

जालन्धर बन्ध; योगियों को सिद्धियां प्रदान करता है। जो योगी छह मास तक इस बन्ध का अभ्यास करता है वह निश्चय ही सिद्ध बन जाता है।

इस बन्ध के अभ्यास से सभी नाड़ियों का जाल बंध जाता है।

बध्नाति हि शिरा जालमधोगामि नभो जलम्। हठ० प्र० 3/71

जालन्धर बन्ध शिराओं अर्थात् नाड़ियों के जाल या समूह को बांधता है और ब्रह्मरन्ध्र से टपकने वाले अमृत रस को पेट में जाकर नष्ट होने से बचाता है। इसलिये इसे जालन्धर बन्ध कहते हैं। इस बन्ध के अभ्यास से गले के रोग नष्ट होते हैं। प्राणायाम के अभ्यास में मूलबन्ध और उड्डीयान बन्ध के साथ जालन्धर बन्ध भी लगाया जाता है। ध्यानावस्था में जालन्धर बन्ध लगाने की बहुत कम आवश्यकता होती है।

मूलबन्ध

पार्ष्णिना वामपादस्य योनिमाकुञ्चयेत् ततः।
नाभिग्रन्थिं मेरुदण्डं सम्पीड्य यत्नतः सुधीः।। 14।।

मेढ्रं दक्षिणगुल्फे तु दृढबन्धं समाचरेत्।
जराविनाशिनी मुद्रा मूलबन्धो निगद्यते।। 15।।

बायें पैर की एड़ी से योनिस्थान को दबाकर, नाभि को रीढ़ की हड्डी से सटाकर और दायें पैर की एड़ी से लिंगमूल को दबाकर मूलबन्ध लगाया जाता है। मूलबन्ध लगाने से बुढ़ापा दूर रहता है।

सिद्धासन के साथ मूलबन्ध अच्छी तरह लगता है। दूसरे आसनों के साथ एड़ी को सीवनी (योनिस्थान) पर लगाये बिना भी मूलबन्ध लगाया जा सकता है।

मूलबन्ध फलम्

संसारसागरं तर्तुमभिलषति यः पुमान्।
विरलेषु गुप्तो भूत्वा मुद्रामेनां समभ्यसेत्।। 16।।

अभ्यासाद् बन्धनस्यास्य मरुत् सिद्धिर्भवेत् ध्रुवम्।
साधयेद्यत्नतस्तर्हि मौनी तु विजितालसः।। 17।।

जो व्यक्ति संसार सागर से पार होना चाहता है उसे एकान्त स्थान में इस

बन्ध को लगाने का अभ्यास करना चाहिये। इस बन्ध के अभ्यास से प्राणवायु पर निश्चय ही नियन्त्रण हो जाता है इसलिये साधक को आलस्य छोड़कर चुपचाप इसका अभ्यास करना चाहिये।

मूलबन्ध के अभ्यास से अपान वायु उठकर प्राणवायु के साथ मिल जाती है। कुण्डलिनी शक्ति सीधी होकर ऊपर चढ़ने लगती है। कब्ज दूर करने, जठराग्नि को प्रदीप्त करने और वीर्य को ऊर्ध्वरेतस करने में यह बन्ध अत्यन्त उत्तम है। साधकों को हर समय मूलबन्ध लगाये रखना चाहिये।

महाबन्ध

महाबन्धः परो बन्धो जरामरणनाशनः।
प्रसादादस्य बन्धस्य साधयेत् सर्व वाञ्छितम्।। 18।।

महाबन्ध बहुत उत्तम बन्ध है। इसके अभ्यास से बुढ़ापा और मृत्यु दूर रहती है। इस बन्ध से सारी इच्छाएं पूरी होती हैं।

महामुद्रा की ही तरह बायें पैर की एड़ी योनिस्थान में लगाकर दायां पैर, बायें पैर की जांघ पर रखा जाता है। फिर पूरक प्राणायाम द्वारा श्वास भरकर जालन्धर बन्ध और मूलबन्ध लगाकर थोड़ी देर तक श्वास रोका जाता है। इसके बाद श्वास धीरे धीरे निकाला जाता है और दोनों बन्ध खोले जाते हैं। दायें पैर की एड़ी योनिस्थान में लगाकर यही प्रक्रिया दुहरानी होती है।

महावेध

रूपयौवनलावण्यं नारीणां पुरुषं विना।
मूलबन्ध महाबन्धौ महावेधं विना तथा।। 19।।

महाबन्धस्थितो योगी उड्डानकुम्भकं चरेत्।
महावेधः समाख्यातो योगिनां सिद्धिदायकः।। 20।।

जैसे रूप, यौवन और लावण्य से सम्पन्न स्त्री का जीवन पुरुष के बिना अधूरा ही रहता है वैसे ही मूलबन्ध और महाबन्ध, महावेध के अभ्यास के बिना व्यर्थ होते हैं। महावेध मुद्रा करने के लिये महाबन्ध लगाकर योगी

उड्डीयान बन्ध के साथ कुम्भक का अभ्यास करे। महावेध का अभ्यास योगियों के लिये बहुत लाभदायक है।

हठयोगप्रदीपिका के अनुसार महावेध के लिये महाबन्ध मुद्रा में श्वास रोककर, हाथों के तलुए जमीन पर लगाकर और शरीर उठाकर नितम्बों को भूमि पर मारना होता है। फिर श्वास धीरे-धीरे छोड़ा जाता है।

महावेधफलम्

महाबन्धमूलबन्धौ महावेधसमन्वितौ।
प्रत्यहं कुरुते यस्तु स योगी योगवित्तमः।। 21।।

न मृत्युतो भयं तस्य न जरा तस्य विद्यते।
गोपनीयः प्रयत्नेन वेधोऽयं योगिपुङ्गवैः।। 22।।

जो योगी महावेध के साथ महाबन्ध और मूलबन्ध का अभ्यास प्रतिदिन करता है वह श्रेष्ठ योगी कहलाता है। ऐसे योगी को मृत्यु का भय नहीं रहता और उसके शरीर में बुढ़ापा नहीं आता। महावेध की विधि गुप्त रखनी चाहिये।

खेचरीमुद्रा

जिह्वाधो नाडीं संछिन्ना रसनां चालयेत् सदा।
दोहयेन्नवनीतेन लोहयन्त्रेण कर्षयेत्।। 23।।

एवं नित्यं समभ्यासाल्लम्बिका दीर्घतां व्रजेत्।
यावद् गच्छेद् भ्रुवोर्मध्ये तथा गच्छति खेचरी।। 24।।

रसना तालुमध्ये तु शनैः शनैः प्रवेशयेत्।
कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोर्मध्ये गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी।। 25।।

जीभ के नीचे जड़ में जो नस है उसे काट कर प्रतिदिन जीभ में मक्खन लगाकर जीभ को दुहे और लोहे के चिमटे से खींचे। प्रतिदिन ऐसा करने से जीभ इतनी लम्बी हो जाती है कि वह भौंहों के बीच तक जाने लगती है। जीभ

को उलट कर तालु के बीच में धीरे-धीरे घुसाना चाहिये। इस तरह उल्टी हुई जीभ कपाल कुहर में पहुंच जाती है। यह अभ्यास खेचरी मुद्रा कहलाता है। खेचरी मुद्रा करते समय दृष्टि भौंहों के बीच में लगी रहनी चाहिये।

खेचरीमुद्राफलम्

न च मूर्च्छा क्षुधा तृष्णा नैवालस्यं प्रजायते।
न च रोगो जरा मृत्युर्देवदेहः स जायते।। 26।।

खेचरी मुद्रा करने वाले को बेहोशी, भूख और प्यास परेशान नहीं करती। उसे आलस्य नहीं आता। उसके शरीर में कोई रोग और बुढ़ापा नहीं रहता और शरीर देवताओं जैसा कान्तियुक्त हो जाता है।

नाग्निना दह्यते गात्रं न शोषयति मारुतः।
न देहं क्लेदयन्त्यापो दंशयेन्न भुजङ्गमः।। 27।।

ऐसे योगी का शरीर अग्नि से नहीं जलता, हवा से नहीं सूखता और न पानी से गलता है। उसके शरीर पर सांप के काटने का भी कोई असर नहीं होता।

प्राणायाम और ध्यान-समाधि के समय खेचरी मुद्रा लगाने से मन एकाग्र होने में सहायता मिलती है। तान्त्रिक ग्रन्थों में खेचरी मुद्रा के अलौकिक लाभों का वर्णन मिलता है।

विपरीतकरी मुद्रा

नाभिमूले वसेत् सूर्यस्तालु मूले च चन्द्रमा।
अमृतं ग्रसते सूर्यस्ततो मृत्युवशो नरः।। 28।।

ऊर्ध्वं च गमयेत् सूर्यं चन्द्रं च अध आनयेत्।
विपरीतकरीमुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता।। 29।।

भूमौ शिरश्च संस्थाप्य करयुग्मे समाहितः।
ऊर्ध्वपादः शिरो भूत्वा विपरीतकरी मता।। 30।।

नाभि में जठराग्नि के रूप में सूर्य रहता है और तालु के मूल में चन्द्रमा। ब्रह्मरन्ध्र से रिसने वाला अमृतरस पेट की अग्नि (सूर्य) में जाकर नष्ट हो जाता

है इसलिये मनुष्य मृत्यु के वश में पड़ा रहता है। इसलिये सूर्य को ऊपर ले जाने और चन्द्रमा को नीचे लाने के लिये विपरीतकरी मुद्रा की जाती है।

सभी शास्त्रों में कहा गया है कि विपरीतकरी मुद्रा गुप्त रखनी चाहिये। भूमि पर रखे दोनों हाथों में सिर रखकर और पैर आकाश में उठाकर विपरीतकरी या विपरीतकरणी मुद्रा की जाती है। विपरीतकरी मुद्रा और शीर्षासन के बीच कोई भेद नहीं है। इन दोनों की विधि समान है।

विपरीतकरी मुद्रा फलम्

मुद्रेयं साधयेन्नित्यं जरां मृत्युं च नाशयेत्।
स सिद्धः सर्व लोकेषु प्रलयेऽपि न सीदति।। 31।।

प्रतिदिन विपरीतकरी मुद्रा करने वाले को बुढ़ापा और मृत्यु नहीं सता सकती। ऐसा योगी सभी लोकों में सिद्ध बन जाता है और वह प्रलय होने पर भी परेशान नहीं होता।

विपरीतकारी मुद्रा से वीर्य रक्षा होती है। मस्तिष्क, नेत्र, हृदय तथा जठराग्नि पुष्ट होती है। प्राण की गति स्थिर और शान्त हो जाती है। कब्ज, जुकाम, सिरदर्द आदि दूर हो जाता है। खून साफ हो जाता है। और कफ विकार मिट जाते हैं।

योनिमुद्रा

सिद्धासनं समासाद्य कर्ण चक्षुर्नसो मुखम्।
अङ्गुष्ठतर्जनीमध्यानामादिभिश्च साधयेत्।। 32।।

काकीभिः प्राणसंकृष्य अयाने योजयेत्ततः।
षट्चक्राणि क्रमाद् ध्यात्वा हुं हंस मनुना सुधीः।। 33।।

चैतन्यमानयेद्देवीं निद्रिता या भुजङ्गिनी।
जीवेन संहितां शक्तिं समुत्थाप्य कराम्बुजे।। 34।।

शक्तिमयः स्वयं भूत्वा परं शिवेन संगमम्।
नानासुखं विहारं च चिन्तयेत् परमं सुखम्।। 35।।

शिवशक्तिसमायोगादेकान्तं भुवि भावयेत्।
आनन्दं च स्वयं भूत्वा अहं ब्रह्मेति सम्भवेत्।। 36।।

योनि मुद्रा परा गोप्या देवानामपि दुर्लभा।
सकृत्तु लाभसंसिद्धिः समाधिस्थः स एव हि।। 37।।

सिद्धासन में बैठकर शरीर बिल्कुल सीधा रखकर षण्मुखी मुद्रा लगाकर अर्थात् दोनों अंगूठों से दोनों कानों को, दोनों तर्जनियों से दोनों आंखों को, दोनों मध्यमाओं से नाक के दोनों छिद्रों को बन्द करके और अनामिका तथा कनिष्ठिकाओं को दोनों ओठों के ऊपर नीचे रखकर, काकी मुद्रा द्वारा अर्थात् जीभ और ओठों को कौए की चोंच जैसा बनाकर मुंह से प्राण वायु को खींच कर नीचे की अपान वायु के साथ मिला दे। इसके बाद छहों चक्रों का क्रमशः ध्यान कर हुं और हंस इन दो मन्त्रों का जाप करते हुए सोई हुई कुण्डलिनी शक्ति को जगाने का प्रयत्न करे। भावार्थ यही है कि हुं और हंस इन मन्त्रों का या ओ३म् का जप करते हुए ऐसी भावना करनी चाहिये कि इन मन्त्रों के जप की ध्वनि के साथ मिली हुई प्राण और अपान वायु कुण्डलिनी को जगा कर षट्चक्रों को भेदती हुई सहस्त्रदल कमल में जा रही है। इस समय यह भी सोचना चाहिये कि कुण्डलिनी शक्ति का जीव के या आत्मा के साथ संयोग हो गया है और मैं स्वयं शक्तिमय होकर शिव के साथ मिल गया हूँ। शिव और शक्ति के इस संयोग के कारण मैं परम आनन्दमय होकर स्वयं ब्रह्ममय ही बन गया हूँ। तात्पर्य यही है कि इस प्रकार की भावना करने से अन्तर्ज्योति का साक्षात्कार हो जाता है। यह योनिमुद्रा अत्यन्त गोपनीय है। देवता भी इसे सरलता से नहीं जान पाते। योनिमुद्रा को एक बार भी साधने से बहुत जल्दी ही समाधि लगने लगती है।

योनिमुद्राफलम्

ब्रह्महा भ्रूणहा चैव सुरापी गुरुतल्पगः।
एतैः पापैर्न लिप्यन्ते योनिमुद्रानिबन्धनात्।। 38।।

यानि पापानि घोराणि उपपापानि यानि च।
तानि सर्वाणि नश्यन्ति योनिमुद्रा निबन्धनात्।
तस्मादभ्यसनं कुर्याद्यदि मुक्तिं समिच्छति।। 39।।

ब्राह्मण की हत्या, भ्रूण हत्या और गुरुपत्नी से समागम जैसे पाप भी

योनिमुद्रा का अभ्यास करने से नष्ट हो जाते हैं। इन पापों के अतिरिक्त जो भी और कोई छोटे-मोटे पाप हैं वे सब योनिमुद्रा के अभ्यास से कट जाते हैं। इसलिये मुक्ति चाहने वाले को योनिमुद्रा का अभ्यास नियम पूर्वक करना चाहिये।

वज्रोलिमुद्रा

धरामवष्टभ्य करयोस्तलाभ्याम्
उर्ध्वे क्षिपेत् पादयुगं शिरः खे।
शक्तिप्रबोधाय चिरजीवनाय
वज्रोलिमुद्रा मुनयो वदन्ति।। 40।।

दोनों हाथों को जमीन पर रखकर और हथेलियों में सिर रखकर दोनों पैर आकाश में सीधे उठा लेने चाहियें। इस मुद्रा के अभ्यास से कुण्डलिनी शक्ति जाग जाती है और योगी की आयु बढ़ जाती है। मुनि इसे ही वज्रोलि मुद्रा कहते हैं।

हठयोग प्रदीपिका में वज्रोलि मुद्रा का जैसा वर्णन है उससे यह वर्णन नहीं मिलता यह मुद्रा तो शीर्षासन जैसी ही है। इसी उपदेश के 28, 29, 30 श्लोकों में विपरीतकरी मुद्रा का जैसा वर्णन किया गया है उसमें और वज्रोलि मुद्रा के इस वर्णन में विशेष अन्तर नहीं है। वज्रोलि मुद्रा का जो वर्णन और विधि हठयोग प्रदीपिका के तीसरे उपदेश के श्लोकों में बताई गई है योगी उसी का अभ्यास करते हैं।

वज्रोलिमुद्राफलम्

अयं योगे योगश्रेष्ठो योगिनां मुक्तिकारणम्।
अयं हितप्रदो योगो योगिनां सिद्धिदायकः।। 41।।

एतत् योगप्रसादेन बिन्दुसिद्धिर्भवेत् ध्रुवम्।
सिद्धे बिन्दौ महायत्ने किं न सिद्ध्यति भूतले।। 42।।

भोगेन महता युक्ते यदि मुद्रां समाचरेत्।
तथापि सकला सिद्धि र्भवति तस्य निश्चितम्।। 43।।

वज्रोलिमुद्रा का अभ्यास योग का श्रेष्ठ अंग है। इससे योगियों को मुक्ति

मिलती है। इस मुद्रा के अभ्यास से वीर्यपात नहीं होता। जब शरीर में वीर्य जमा रहता है तब मनुष्य इस पृथ्वी पर कौन सा काम नहीं कर सकता। यदि भोगों में आसक्त व्यक्ति भी इस मुद्रा का अभ्यास करेगा तो उसे भी सारी सिद्धियां निश्चय ही मिल जायेंगी।

शक्तिचालिनी मुद्रा

मूलाधारे आत्मशक्तिः कुण्डली परदेवता।
शयिता भुजगाकारा सार्द्धत्रिवलयान्विता।। 44।।

यावत् सा निद्रिता देहे तावज्जीवं पशुर्यथा।
ज्ञानं न जायते तावत् कोटियोगं समभ्यसेत्।। 45।।

मूलाधार चक्र में सर्वोत्कृष्ट देवी कुण्डलिनी सांप की तरह साढ़े तीन लपेटे मारकर सोई हुई है। यह कुण्डलिनी आत्मा की शक्ति है। जबतक हमारे शरीर में कुण्डलिनी सोई रहती है तब तक जीव, पशु की तरह अज्ञानी बना रहता है। कुण्डलिनी को जगाये बिना चाहे कितना भी योगाभ्यास क्यों न किया जाय साधक को तत्व ज्ञान नहीं हो पाता।

उद्घाटयेत् कपाटं च यथा कुञ्चिकया हठात्।
कुण्डलिन्याः प्रबोधेन ब्रह्मद्वारं प्रबोधयेत्।। 46।।

जैसे चाबी लगाते ही दरवाजा एकदम खुल जाता है वैसे ही योगी कुण्डलिनी शक्ति को जगाकर ब्रह्मद्वार को खोल देता है।

नाभिं सम्वेष्ट्य वस्त्रेण न च नग्नो बहिः स्थितः।
गोपनीये गृहे स्थित्वा शक्तिचालनमभ्यसेत्।। 47।।

नाभि पर कपड़ा लपेटकर किसी गुप्त घर में बैठकर शक्तिचालन मुद्रा का अभ्यास करना चाहिये। बाहर नंगे बैठकर इस मुद्रा का अभ्यास नहीं करना चाहिये।

वितस्तिप्रमितं दीर्घं विस्तारे चतुरङ्गुलम्।
मृदुलं धवलं सूक्ष्मं वेष्टनाम्बरलक्षणम्।।
एवमम्बर युक्तं च कटिसूत्रेण योजयेत्।। 48।।

एक बालिश्त लम्बा और चार अंगुल चौड़ा सफेद, मुलायम और पतला वस्त्र तगड़ी से बांधना चाहिये।

भस्मना गात्रसंलिप्तं सिद्धासनं समाचरेत्।
नासाभ्यां प्राणमाकृष्य अपाने योजयेत् बलात्।। 49।।

तावदाकुञ्चयेद् गुह्यं शनैरश्विनी मुद्रया।
यावद् गच्छेत् सुषुम्नायां वायुः प्रकाशयेत् हठात्।। 50।।

शरीर पर भस्म मलकर सिद्धासन लगाकर नाक के दोनों सुरों से प्राण वायु भरकर प्राण वायु को बलपूर्वक अपान वायु से मिला देना चाहिये। अश्विनी मुद्रा से गुदा को तब तक सिकोड़े रखना चाहिये जबतक प्राण और अपान वायु सुषुम्ना नाड़ी में न चली जाय।

तदा वायु प्रबन्धेन कुम्भिका च भुजङ्गिनी।
बद्धश्वासस्ततो भूत्वा ऊर्ध्वमार्गं प्रपद्यते।। 51।।

कुम्भक प्राणायाम करने से सर्पाकार कुण्डलिनी शक्ति रुके हुए प्राण और अपान वायु के प्रभाव से जागकर सहस्त्रार की ओर उठने लगती है।

विना शक्तिचालनेन योनिमुद्रा न सिद्ध्यति।
आदौ चालनमस्यास्तु योनिमुद्रां समभ्यसेत्।। 52।।

शक्तिचालन मुद्रा का अभ्यास किये बिना योनिमुद्रा की सिद्धि नहीं होती इसलिये शक्ति चालन मुद्रा का अभ्यास करने के बाद योनिमुद्रा का अभ्यास करना चाहिये।

इति ते कथितं चण्डकापाले शक्तिचालनम्।
गोपनीयं प्रयत्नेन दिने दिने समभ्यसेत्।। 53।।

हे चण्डकापालि! मैंने तुम्हें शक्तिचालन मुद्रा की विधि बता दी। प्रतिदिन इसका अभ्यास करना चाहिये और इसे गुप्त रखना चाहिये।

शक्तिचालनीमुद्राफलम्

मुद्रेयं परमा गोप्या जरामरणनाशिनी।
तस्मादभ्यसनं कुर्याद्योगिभिः सिद्धिकांक्षिभिः।। 54।।

अत्यन्त गोपनीय यह शक्तिचालिनी मुद्रा, बुढ़ापे और मृत्यु को नष्ट कर देती है इसलिये सिद्धि चाहने वाले योगियों को इस मुद्रा का अभ्यास करना चाहिये।

नित्यं योऽभ्यसते योगी सिद्धिस्तस्य करे स्थिता।
तस्य विग्रहसिद्धिः स्याद् रोगाणां संक्षयो भवेत्।। 55।।

जो योगी इस मुद्रा का प्रतिदिन अभ्यास करता है उसके हाथ में सिद्धि जल्दी आ जाती है। ऐसे योगी की विग्रहसिद्धि हो जाती है अर्थात् उसका कोई काम रुकता नहीं है और उसके सारे रोग नष्ट हो जाते हैं।

ताडागी मुद्रा

उदरं पश्चिमोत्तानं कृत्वा च तडागाकृतिः।
ताडागी सा परा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी।। 56।।

पीठ के बल लेटकर पेट में तालाब की तरह गहरा गड्ढा बनाना चाहिये। पेट को रीढ़ की हड्डी की ओर खींचने से पेट पिचक जाता है। पूरक प्राणायाम करके पेट को ऊपर नीचे उसी तरह हिलाना चाहिये जैसे तालाब में भरा पानी हवा के कारण ऊपर नीचे होता रहता है। ताडागी मुद्रा का अभ्यास करने से बुढ़ापा और मृत्यु दूर भागती है। यह श्रेष्ठ मुद्रा है। कुम्भक के बाद श्वास धीरे-धीरे निकालना चाहिये। ताडागी मुद्रा का अभ्यास प्रतिदिन करने से पेट के सारे रोग दूर हो जाते हैं।

माण्डूकीमुद्रा

मुखं सम्मुद्रितं कृत्वा जिह्वामूलं प्रचालयेत्।
शनैर्ग्रसेदमृतं तां माण्डूकी मुद्रिकां विदुः।। 57।।

मुंह बन्द करके जीभ की जड़ को तालु की ओर उठाना चाहिये और सहस्त्रार से झरने वाले अमृतरस का पान धीरे-धीरे करना चाहिये। जिन्हें खेचरी मुद्रा का अभ्यास नहीं होता वे इस मुद्रा से खेचरी मुद्रा जैसा लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

माण्डूकीमुद्राफलम्

वलितं पलितं नैव जायते नित्ययौवनम्।
न केशे जायते पाको यः कुर्यान्नित्यमाण्डुकीम्।। 58।।

प्रतिदिन माण्डूकी मुद्रा करने वाले के शरीर में झुर्रियां नहीं पड़तीं, उसके बाल सफेद नहीं होते। उसके शरीर में युवावस्था बनी रहती है।

शाम्भवीमुद्रा

नेत्राञ्जनं समालोक्य आत्मारामं निरीक्षयेत्।
सा भवेच्छाम्भवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता।। 59।।

आंख में पड़े सुरमे को देखते हुए अर्थात् भौंहों के बीच में देखते हुए परमात्म चिन्तन करना शाम्भवी मुद्रा कहलाता है। शाम्भवी मुद्रा, सिद्धासन या पद्मासन लगाकर मूलबन्ध और उड्डीयान बन्ध के साथ की जाती है। इस मुद्रा में नेत्र थोड़े खुले रहते हैं। आंखें पूरी खुली रखने से चित्त में विक्षेप होता है और आंखें बन्द कर लेने से आलस्य आने लगता है। शाम्भवी मुद्रा में पलकें नहीं झपकनी चाहियें।

शाम्भवीमुद्राफलम्

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्य गणिका इव।
इयं तु शाम्भवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव।। 60।।

वेद, शास्त्र और पुराण आदि ग्रन्थों का ज्ञान तो सभी लोगों को वैसे ही हो जाता है जैसे साधारण वेश्या के बारे में जानकारी हो जाती है। किन्तु शाम्भवी मुद्रा को भले घर की कुलीन बहू की तरह गुप्त रखना चाहिये।

स एव आदिनाथश्च स च नारायणः स्वयम्।
स च ब्रह्मा सृष्टिकारी यो मुद्रां वेत्ति शाम्भवीम्।। 61।।

जो योगी शाम्भवी मुद्रा को अच्छी तरह जानता है अर्थात् इस मुद्रा का नियमित अभ्यास करता है वह शिव, विष्णु और सृष्टि रचने वाले ब्रह्मा के समान ही हो जाता है।

सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यमुक्तं महेश्वरः।
शाम्भवीं यो विजानीयात् स च ब्रह्मा न चान्यथा।। 62।।

शिव जी ने यह बात बार बार सत्य बताई है कि जो योगी शाम्भवी मुद्रा को जानता है वह ब्रह्मा के समान बन जाता है।

पञ्चधारणमुद्रा

कथिता शाम्भवी मुद्रा शृणुष्व पञ्चधारणम्।
धारणानि समासाद्य किं न सिद्ध्यति भूतले।। 63।।

शाम्भवी मुद्रा की विधि जानने के बाद अब पञ्चधारणा के बारे में सुनो। इन धारणाओं को जानकर संसार में सब कुछ मिल जाता है।

अनेन नरदेहेन स्वर्गेषु गमनागमम्।
मनोगतिर्भवेत्तस्य खेचरत्वं न चान्यथा।। 64।।

पंच धारणाएं सिद्ध होने पर योगी इसी मनुष्य शरीर से स्वर्ग में आ-जा सकता है। उसकी गति मन के समान तीव्र हो जाती है और वह आकाश में चल फिर सकता है।

पार्थिवीधारणामुद्रा

यत् तत्त्वं हरितालवेशरचितं भौमं लकारान्वितं-
वेदास्त्रंकमलासनेन सहितं कृत्वा हृदिस्थायिनम्।
प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिकां चित्तान्वितान्धारये-
देषास्तम्भकरी भवेत् क्षितिजयं कुर्यादधोधारणा।। 65।।

पृथ्वी तत्त्व, हरताल के रंग जैसा पीला है। इस पृथ्वी तत्व का बीज 'लं' है। इसका आकार चतुष्कोण है। इस तत्व के अधिष्ठाता देव ब्रह्मा हैं। इस पृथ्वी तत्व का हृदय में ध्यान करना चाहिये। पृथ्वी तत्व का चित्त में पांच घड़ी या दो घण्टे तक ध्यान करते समय प्राणवायु को रोकना चाहिये। इस पार्थिवीधारणा या अधोधारणा पर चित्त एकाग्र करने से प्राण वायु वश में हो जाता है और योगी के लिये पृथ्वी पर किसी भी प्रकार की रुकावट नहीं रहती।

पार्थिवीमुद्राधारणाफलम्

पार्थिवीधारणामुद्रां यः करोति तु नित्यशः।
मृत्युञ्जयः स्वयं सोऽपि स सिद्धो विचरेद् भुवि।। 66।।

जो योगी प्रतिदिन पार्थिवी धारणा मुद्रा का अभ्यास करता है वह मृत्यु को वश में करके और सिद्ध बनकर पृथ्वी पर घूमता है।

आम्भसीधारणा मुद्रा

शंखेन्दुप्रतिमं न कुन्दधवलं तत्त्वं कीलालं शुभम्
तत् पीयूषवकार बीजसहितं युक्तं सदा विष्णुना।
प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिकां चित्तान्वितो धारये-
देषा दुःसहतापपापहरिणी स्यादाम्भसी धारणा।। 67।।

शंख, चन्द्रमा और कुन्द के फूल जैसा सफेद जल तत्त्व कल्याणकारी है। यह तत्त्व अमृत ही है। इस तत्त्व का बीज या बीजाक्षर 'वं' है। इस तत्त्व के अधिष्ठातृ देव विष्णु हैं। इस जल तत्त्व या आम्भसी तत्त्व में पांच घड़ी तक ध्यान करना चाहिये। वारुणी या आम्भसीधारणा मुद्रा, घोर दुःखों और पापों को नष्ट कर देती है।

आम्भसी मुद्राफलम्

आम्भसीं परमां मुद्रां यो जानाति स योगवित्।
जले च घोरे गम्भीरे मरणं तस्य नो भवेत्।। 68।।

जो योगी आम्भसी मुद्रा का अभ्यास करना जानता है उसकी गहरे और भयंकर जल में भी मृत्यु नहीं होती।

इयं तु परमा मुद्रा गोपनीया प्रयत्नतः।
प्रकाशात् सिद्धिहानिः स्यात् सत्यं वच्मि च तत्त्वतः।। 69।।

यह आम्भसी मुद्रा अत्यन्त श्रेष्ठ है। इसे गुप्त रखना चाहिये अर्थात् योगी को यह नहीं बताना चाहिये कि उसे आम्भसी मुद्रा सिद्ध है। यदि योगी इस मुद्रा

की सिद्धि की बात बता देता है तो उसकी यह सिद्धि नष्ट हो जाती है। यह बात सत्य है।

योग मार्ग के पथिक को अपनी सिद्धियां प्रकट न करने का आदेश सभी शास्त्रों में दिया गया है और यह भी कहा गया है कि सिद्धियां योगी को अपने लक्ष्य से भ्रष्ट कर देती हैं और वह छोटी-मोटी सिद्धियां पाकर घमण्डी बन जाता है। वह अपने मोक्ष का ध्येय भुला देता है।

आग्नेयीमुद्रा धारणा

यन्नाभिस्थितमिन्द्रगोपसदृशं बीजं त्रिकोणान्वितं -
तत्त्वं तेजमयं प्रदीप्तमरुणं रुद्रेण यत् सिद्धिदम्।
प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिकां चित्तान्वितं धारये-
देषा कालगभीरभीतिहरिणी वैश्वानरी धारणा।। 70।।

अग्नि तत्त्व नाभि में है। इसका वर्ण वीरबहूटी के समान लाल है। अग्नि तत्त्व तेजयुक्त और अत्यन्त चमकीला है। यह तत्त्व त्रिकोणाकार है। इसका बीजाक्षर 'रं' है। रुद्र इसके अधिष्ठातृ देव हैं। इस तत्त्व में पांच घड़ी तक प्राणायाम सहित मन एकाग्र करना चाहिये। आग्नेयी या वैश्वानरी मुद्रा धारणा मृत्युसंकट को दूर कर देती है।

आग्नेयीमुद्राधारणाफलम्

प्रदीप्ते ज्वलिते वह्नौ पतितो यदि साधकः।
एतन्मुद्राप्रसादेन स जीवति न मृत्युभाक्।। 71।।

यदि आग्नेयी मुद्रा का साधक भयंकर अग्निकाण्ड में घिर जाता है तो वह इस मुद्रा की सिद्धि के कारण अग्नि से बच जाता है और उसकी मृत्यु नहीं होती।

वायवीधारणामुद्रा

यद् भिन्नाञ्जनपुञ्जसन्निभमिदं धूम्रावभासं परं-
तत्त्वं सत्त्वमयं यकारसहितं यत्रेश्वरो देवता।

प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिकां चित्तान्वितान्धारये-
देषा खे गमनं करोति यमिनां स्याद् वायवी धारणा।। 72।।

वायुतत्त्व का रंग सुरमे और धुएं जैसा है। इस सत्त्वमय वायुतत्त्व का बीजमन्त्र 'यं' है और ईश्वर इसके देवता हैं। वायुतत्त्व में प्राणायाम सहित पांच घड़ी तक मन एकाग्र करने का अभ्यास करने से संयमी साधक आकाश में आ जा सकता है।

वायवीधारणामुद्राफलम्

इयं तु परमा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी।
वायुना म्रियते नापि खे च गतिप्रदायिनी।। 73।।

श्रेष्ठ वायवी धारणा मुद्रा के अभ्यास से बुढ़ापा और मृत्यु दूर रहती है। इस मुद्रा का साधक किसी भी प्रकार के वायु के कोप से नहीं मर सकता और वह आकाश में घूम फिर सकता है।

शठाय भक्तिहीनाय न देया यस्य कस्यचित्।
दत्ते च सिद्धहानिः स्यात् सत्यं वच्मि च चण्ड ते।। 74।।

हे चण्डकापालि! यह वायवी धारणा मुद्रा दुष्ट और ईश्वर भक्ति न करने वाले किसी भी अपरिचित व्यक्ति को नहीं बतानी चाहिये। यदि ऐसे किसी व्यक्ति को यह मुद्रा बताई जायेगी तो साधक की वायवी मुद्रा की सिद्धि नष्ट हो जायगी।

आकाशीधारणामुद्रा

यत् सिन्धौ वरशुद्धवारिसदृशं व्योमं परं भासितं-
तत्त्वं देवसदाशिवेन सहितं बीजं हकारान्वितम्।
प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिकां चित्तान्वितं धारये-
देषा मोक्षकपाटभेदनकरी कुर्यान्नभोधारणा।। 75।।

आकाश तत्व का रंग समुद्र के साफ पानी जैसा चमकीला है। इस तत्त्व के देवता सदाशिव हैं और इसका बीजमन्त्र 'हं' है। इस आकाशतत्त्व में

प्राणायाम सहित पांच घड़ी तक मन एकाग्र करने का नियमित अभ्यास करने से साधक के लिये मोक्ष का द्वार खुलने में सहायता मिलती है।

आकाशीधारणामुद्राफलम्

आकाशीधारणां मुद्रां यो वेत्ति सैव योगवित्।
न मृत्युर्जीयते तस्य प्रलये नावसीदति।। 76।।

आकाशी धारणा मुद्रा का साधक ही सच्चा योगी होता है। ऐसे योगी की मृत्यु कभी नहीं होती और प्रलय में भी उसे कोई कष्ट नहीं होता।

अश्विनी मुद्रा

आकुञ्चयेद् गुदद्वारं प्रकाशयेत् पुनः पुनः।
सा भवेदश्विनीमुद्रा शक्तिप्रबोधकारिणी।। 77।।

साधक को अपनी गुदा सिकोड़कर खोलने का अभ्यास बार बार करते रहना चाहिये। यह अभ्यास अश्विनी मुद्रा कहलाता है और इससे कुण्डलिनी शक्ति जग जाती है।

अश्विनीमुद्राफलम्

अश्विनी परमा मुद्रा गुह्यरोग विनाशिनी।
बलपुष्टिकरी चैव अकालमरणं हरेत्।। 78।।

परमश्रेष्ठ अश्विनीमुद्रा का निरन्तर अभ्यास करने से गुदा के और अन्य गुप्त रोग नष्ट हो जाते हैं। इस मुद्रा का अभ्यास शरीर को शक्तिशाली बनाता है और साधक की अकाल मृत्यु नहीं होती। प्रोस्टेटग्लैण्ड बढ़ने पर यह मुद्रा लाभ पहुंचाती है।

पाशिनीमुद्रा

कण्ठे पृष्ठे क्षिपेत् पादौ पाशवं दृढबन्धने।
सा एव पाशिनीमुद्रा शक्तिप्रबोधकारिणी।। 79।।

गले के दोनों ओर दोनों पैर उसी तरह ले जाने चाहियें जैसे किसी पशु को बांधा जाता है। पाशिनी मुद्रा का अभ्यास कुण्डलिनी शक्ति को जगाने में सहायक होता है।

पाशिनीमुद्राफलम्

पाशिनी महती मुद्रा बलपुष्टिविधायिनी।
साधनीया प्रयत्नेन साधकैः सिद्धिकांक्षिभिः।।80।।

महत्वपूर्ण पाशिनी मुद्रा का अभ्यास शरीर को बलवान बना देता है। सिद्धि चाहने वाले साधकों को इसका अभ्यास निरन्तर करना चाहिये।

काकीमुद्रा

काक चञ्चुवदास्येन पिबेद् वायुं शनैः शनैः।
काकीमुद्रा भवेदेषा सर्वरोगविनाशिनी।। 81।।

मुंह को कौए की चोंच जैसा बनाकर धीरे-धीरे वायु खींचनी या भरनी चाहिये। काकीमुद्रा के नियमित अभ्यास से शरीर के सभी रोग नष्ट हो जाते हैं।

काकीमुद्राफलम्

काकीमुद्रा परामुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता।
अस्याः प्रसादमात्रेण काकवन्नीरुजो भवेत्।।82।।

परमश्रेष्ठ काकीमुद्रा को गुप्त रखने की बात सभी ग्रन्थों में लिखी है। इसके अभ्यास से साधक का शरीर कौए की तरह रोगों से मुक्त हो जाता है।

मातंगिनीमुद्रा

कण्ठमग्ने जले स्थित्वा नासाभ्यां जलमाहरेत्।
मुखान्निर्गमयेत् पश्चात् पुनर्वक्त्रेण चाहरेत्।।83।।

नासाभ्यां रेचयेत् पश्चात् कुर्यादेवं पुनः पुनः।
मातंगिनी परा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी।। 84।।

गले तक पानी में खड़े होकर नाक के दोनों सुरों से पानी खींच कर इस पानी को मुख से निकाल देना चाहिये। फिर मुख में पानी भरकर इस पानी को नाक के सुरों से निकालना चाहिये। नाक से पानी पीने और मुंह से निकालने तथा मुख में पानी भरकर नाक से निकालने की यह क्रिया बार-बार करनी

चाहिये। यह मातंगिनी मुद्रा है। इसके अभ्यास से बुढ़ापा और मृत्यु दूर रहती है।

मातंगिनीमुद्राफलम्

विरले निर्जने देशे स्थित्वा चैकाग्रमानसः।
कुर्यान्मातंगिनीं मुद्रां मातंग इव जायते।। 85।।

एकान्त स्थान में एकाग्र चित होकर मातंगिनी मुद्रा का अभ्यास करने से साधक के शरीर में हाथी जैसी शक्ति आ जाती है।

यत्र यत्र स्थितो योगी सुखमत्यन्तमश्नुते।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन साधयेन्मुद्रिकां पराम्।। 86।।

मातंगिनी मुद्रा का अभ्यास करने वाला योगी जहाँ भी रहेगा उसे बहुत सुख मिलेगा इसलिये इस मुद्रा का अभ्यास करना चाहिये।

भुजंगिनीमुद्रा

वक्त्रं किंचित् सुप्रसार्य चानिलं गलया पिबेत्।
सा भवेद् भुजगी मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी।। 87।।

मुंह थोड़ा खोलकर गले से वायु पीनी चाहिये। इस भुजंगिनी मुद्रा का अभ्यास बुढ़ापे और मृत्यु को दूर रखता है।

भुजंगिनीमुद्राफलम्

यावच्च उदरे रोगमजीर्णादि विशेषतः।
तत् सर्वं नाशयेदाशु यत्र मुद्रा भुजंगिनी।। 88।।

पेट के रोगों और विशेषरूप से अपचन आदि को भुजंगिनी मुद्रा का नियमित अभ्यास नष्ट कर देता है।

सर्वमुद्राफलम्

इयं तु मुद्रापटलं कथितं चण्डकापलि।
वल्लभं सर्व सिद्धानां जरामरण नाशनम्।। 89।।

हे चण्ड कापालि! मैंने तुझे सारी मुद्राएं बता दीं। इन मुद्राओं का अभ्यास सभी सिद्ध योगी करते हैं क्योंकि इनसे बुढ़ापा और मृत्यु दूर रहती है।

शठाय भक्तिहीनाय न देयं यस्य कस्यचित्।
गोपनीयं प्रयत्नेन दुर्ल्लभं मरुतामपि।। 90।।

इन मुद्राओं की विधि दुष्ट, भक्ति रहित ऐसे-वैसे किसी भी अपरिचित व्यक्ति को नहीं बतानी चाहिये। मुद्राओं की इन विधियों को प्रयत्नपूर्वक गुप्त रखना चाहिये। देवता भी इन मुद्राओं की विधि बड़ी मुश्किल से जान पाते हैं।

ऋजवे शान्तचित्ताय गुरुभक्तिपराय च।
कुलीनाय प्रदातव्यं भोगमुक्तिप्रदायकम्।। 91।।

सरल, शान्त, गुरुभक्त और कुलीन शिष्य को इन मुद्राओं का ज्ञान देना चाहिये। इन मुद्राओं का अभ्यास सांसारिक भोगों और मोक्ष इन दोनों को ही प्रदान करता है।

मुद्राणां पटलं ह्येतत् सर्वव्याधिविनाशनम्।
नित्यमभ्यासशीलस्य जठराग्निविवर्धनम्।। 92।।

इन मुद्राओं का अभ्यास सभी रोगों को नष्ट कर देता है। इन मुद्राओं का प्रतिदिन अभ्यास करने से जठराग्नि बढ़ती है।

तस्य नो जायते मृत्युर्नास्य जरादिकं तथा।
नाग्निजलभयं तस्य वायोरपि कुतो भयम्।। 93।।

इन मुद्राओं का नियमित अभ्यास करने वाले को बुढ़ापे और मृत्यु का डर नहीं सताता। उसे अग्नि, पानी और वायु से भी डर नहीं लगता।

कासः श्वासः प्लीहकुष्ठं श्लेष्मरोगाश्च विंशतिः।
मुद्राणां साधनाच्चैव विनश्यन्ति न संशयः।। 94।।

खांसी, श्वास, तिल्ली, कोढ़, कफ से उत्पन्न बीसों रोग इन मुद्राओं के अभ्यास से निश्चित रूप से दूर हो जाते हैं।

बहुना किमिहोक्तेन सारं वच्मि च चण्ड ते।
नास्ति मुद्रासमं किंचित् सिद्धिदं क्षितिमण्डलम्।। 95।।

हे चण्डकापालि! मैं तुमसे बहुत क्या कहूं। साररूप से यही कहता हूं कि इन मुद्राओं के समान पृथ्वी पर और कोई क्रिया सफलता प्रदान नहीं कर सकती।

इति श्री घेरण्डसंहितायां घेरण्डचण्डकापालिसम्वादे
घटस्थयोगप्रकरणे मुद्राप्रयोगो नाम तृतीयोपदेशः।

श्री घेरण्डसंहिता में महर्षि घेरण्ड और राजा चण्डकापालि की बातचीत में शरीर से सम्बद्ध योग के बारे में मुद्रा प्रयोग नाम का तीसरा उपदेश समाप्त।

।। इति।।

चतुर्थ उपदेश

प्रत्याहार प्रकरणम्

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि प्रत्याहारकमुत्तमम्।
यस्य विज्ञानमात्रेण कामादिरिपुनाशनम्।। 1।।

अब मैं योग के श्रेष्ठ अंग प्रत्याहार के बारे में बताता हूं। प्रत्याहार को अच्छी तरह जान लेने पर काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रु नष्ट हो जाते हैं।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।। 2।।

हमारा मन बहुत चंचल है। वह किसी एक जगह नहीं ठहरता है। इसलिये प्रत्याहार के अभ्यास से मन को वश में करते रहना चाहिये। मन जहाँ भी जाये वहाँ से इसे हटाकर एकाग्र करना चाहिये।

पुरस्कारं तिरस्कारं सुश्राव्यं भावमायकम्।
मनस्तस्मान्नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।। 3।।

चाहे हमारा आदर हो या निरादर, हमें कोई शब्द अच्छा लगे या बुरा; इन सब तरह के बाह्य विषयों से मन हटाकर मन को वश में करने का प्रयत्न लगातार करते रहना चाहिये।

सुगन्धो वापि दुर्गन्धो घ्राणेषु जायते मनः।
तस्मात् प्रत्याहरेदेतदात्मन्येव वशं नयेत्।। 4।।

हमारी नाक चाहे सुगन्ध को सूंघे या दुर्गन्ध को। इन दोनों से ही मन हटाकर अपने वश में करना चाहिये।

मधुराम्लक तिक्तादिरसान् याति यदा मनः।
तस्मात् प्रत्याहरेदेतत् आत्मन्येव वशं नयेत्।। 5।।

मीठे-खट्टे, चरपरे या तीखे पदार्थ खाने को जब भी मन करे तभी इन वस्तुओं से मन हटाकर अपने वश में करना चाहिये।

इति श्री घेरण्डसंहितायां घेरण्डचण्डकापालिसम्वादे प्रत्याहारप्रयोगो नाम चतुर्थोपदेशः।

श्री घेरण्डसंहिता में महर्षि घेरण्ड और राजा चण्डकापालि की बातचीत में प्रत्याहार प्रयोग नाम का चौथा उपदेश समाप्त।

।। इति।।

पञ्चम उपदेश

प्राणायाम प्रयोगः

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि प्राणायामस्य यद् विधिम्।
यस्य साधनमात्रेण देवतुल्यो भवेन्नरः।। 1।।

अब मैं प्राणायाम का अभ्यास करने का तरीका बताता हूं। प्राणायाम के अभ्यास से मनुष्य देवता के समान बन जाता है।

आदौ स्थानं तथा कालं मिताहारं तथा परम्।
नाडीशुद्धिं च तत् पश्चात् प्राणायामं च साधयेत्।। 2।।

प्राणायाम का अभ्यास शुरू करने से पहिले प्राणायाम के लिये अनुकूल स्थान और ऋतु पर ध्यान देना चाहिये। फिर मिताहार पर और नाडीशोधन पर ध्यान देना चाहिये। इस तरह शरीर को प्राणायाम के अभ्यास के लिये तैयार कर प्राणायाम करना चाहिये।

स्थाननिदानम्

दूरदेशे तथारण्ये राजधान्यां जनान्तिके।
योगारम्भं न कुर्वीत कृतो न सिद्धिदो भवेत्।। 3।।

बहुत दूर, जंगल में, राजधानी में और लोगों से घिरे हुए स्थान में योगाभ्यास शुरू नहीं करना चाहिये। ऐसे स्थानों पर यदि योगाभ्यास शुरू किया जायेगा तो साधक को सफलता नहीं मिलेगी।

अविश्वासं दूरदेशे अरण्ये रक्षिवर्जितम्।
लोकारण्ये प्रकाशश्च तस्मात् त्रीणि विवर्जयेत्।। 4।।

दूर देश में किसी पर विश्वास नहीं किया जा सकता। जंगल में कोई रक्षा नहीं कर सकता और लोगों से भरे स्थान पर सबको योगाभ्यास का पता चल जाता है। इसलिये ऐसे तीनों स्थानों पर योगाभ्यास प्रारम्भ नहीं करना चाहिये।

सुदेशे धार्मिके राज्ये सुभिक्षे निरुपद्रवे।
कृत्वा कुटीरं तत्रैकं प्राचीरैः परिवेष्टितम्।। 5।।

वापीकूपतडागं च प्राचीरादयवर्ति च।
नात्युच्चं नातिनिम्नं च कुटीरं कीटवर्जितम्।। 6।।

सम्यग् गोमयलिप्तं च कुटीरं तत्र निर्मितम्।
एवं स्थानेषु गुप्तेषु प्राणायामं समभ्यसेत्।। 7।।

अच्छे देश में, धर्म प्रेमी राजा के राज्य में, उपद्रवरहित स्थान में और जहाँ भिक्षा मिल सके ऐसे स्थान में कुटिया बनानी चाहिये। इस कुटिया के चारों ओर चार दीवारी होनी चाहिये।

चारदीवारी के पास बावड़ी, कुआं या तालाब होना चाहिये। कुटिया, बहुत ऊँची या बहुत नीची जगह पर नहीं बनानी चाहिये। कुटिया में कीड़े-मकौड़े नहीं होने चाहियें और इसे गाय के गोबर से अच्छी तरह लीपना चाहिये। इस तरह के स्थान पर चुपचाप रहते हुए प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये।

कालनिर्णय

हेमन्ते शिशिरे ग्रीष्मे वर्षायां च ऋतौ तथा।
योगारम्भं न कुर्वीत कृतो योगो हि रोगदः।। 8।।

हेमन्त, शिशिर, ग्रीष्म और वर्षा इन चार ऋतुओं में योगाभ्यास शुरू नहीं करना चाहिये। इन ऋतुओं में योगाभ्यास शुरू करने से साधक के शरीर में रोग हो जाते हैं।

वसन्ते शरदि प्रोक्तं योगारम्भं समाचरेत्।
तथा योगी भवेत् सिद्धो रोगान्मुक्तो भवेद् ध्रुवम्।। 9।।

वसन्त और शरद ऋतुओं में योगाभ्यास शुरू करने से शरीर रोगों से रहित हो जाता है और योगी को सफलता मिलती है।

चैत्रादि फाल्गुनान्ते च माघादिफाल्गुनान्तिके।
द्वौ द्वौ मासौ ऋतु भोगौ अनुभावश्चतुश्चतुः।। 10।।

चैत्र से लेकर फाल्गुन के अन्त तक या माघ से फाल्गुन तक दो दो महीनों की एक ऋतु होती है। चार-चार महीनों का ऋतुओं का अनुभाव होता है अर्थात् गर्मी, वर्षा आदि का अनुभव चार महीनों तक होता है।

वसन्तश्चैत्र वैशाखौ ज्येष्ठाषाढौ च ग्रीष्मकः।
वर्षा श्रावणभाद्राभ्यां शरदाश्विनकार्तिकौ।। 11।।

चैत्र और वैशाख के महीनों में वसन्त ऋतु होती है। ज्येष्ठ और आषाढ़ के महीनों में ग्रीष्म ऋतु होती है। श्रावण और भाद्रपद में वर्षा ऋतु होती है। आश्विन और कार्तिक के महीनों में शरद ऋतु होती है।

अनुभावं प्रवक्ष्यामि ऋतूनां च यथोदितम्।
माघादि माधवान्तेषु वसन्तानुभवश्चतुः।। 12।।

चैत्रादि चाषाढान्तं च निदाघानुभवश्चतुः।
आषाढादि चाश्विनान्तं प्रावृषानुभवश्चतुः।। 13।।

भाद्रादिमार्गशीर्षान्तं शरदोनुभवश्चतुः।
कार्तिकादि माघमासान्तं हेमन्तानुभवश्चतुः।
मार्गादिचतुरोमासान् शिशिरानुभवश्चतुः।। 14।।

माघ से लेकर वैशाख तक के चार महीनों में वसन्त ऋतु अनुभव होती है। चैत्र से लेकर आषाढ के अन्त तक के चार महीनों में गर्मी अनुभव होती है। आषाढ से लेकर आश्विन के अन्त तक वर्षा ऋतु रहती है। भाद्रपद से लेकर मार्गशीर्ष के अन्त तक शरद ऋतु अनुभव होती है। कार्तिक से लेकर माघ के अन्त तक हेमन्त ऋतु रहती है और मार्गशीर्ष से लेकर फाल्गुन तक शिशिर ऋतु अनुभव होती है।

वसन्ते वापि शरदि योगारम्भं समाचरेत्।
तथा योगो भवेत् सिद्धो विनायासेन कथ्यते।। 15।।

वसन्त ऋतु या शरद ऋतु में योगाभ्यास आरम्भ करना चाहिये। इन ऋतुओं में योगाभ्यास शुरू करने से योगाभ्यास बिना कष्ट के सफल होता है।

मिताहार

मिताहारं विना यस्तु योगारम्भं तु कारयेत्।
नानारोगो भवेत् तस्य किंचित् योगो न सिद्ध्यति।। 16।।

मिताहार के बिना यदि योगाभ्यास शुरू किया जाता है तो शरीर में अनेक रोग हो जाते हैं और योग में सफलता नहीं मिलती।

शाल्यन्नं यवपिण्डं वा गोधूमपिण्डकं तथा।
मुद्गं माषचणकादि शुभ्रं च तुषवर्जितम्।। 17।।

चावल, जौ या गेहूं की रोटी और मूंग, उड़द तथा चने आदि की साफ दाल योगी को खानी चाहिये।

पटोलं पनसं मानं कंकोलं च शुकाशकम्।
आढिकां कर्कटीरम्भोदुम्बरी कण्टकण्टकम्।। 18।।

परवल, कटहल, ककड़ी, कक्कोल, करेला, अरबी, केला, गूलर और चौलाई आदि शाक योगी को खाने चाहियें।

आमरम्भां बालरम्भां रम्भादण्डं च मूलकम्।
वार्ताकीमूलकं ऋद्धिं योगी भक्षणमाचरेत्।। 19।।

कच्चा केला, छोटे-छोटे केले, केले का कोमल तना, मूली, बैंगन, और ऋद्धि का भोजन योगी को करना चाहिये।

बालशाकं कालशाकं तथा पटोलपत्रकम्।
पञ्चशाकं प्रशंसीयाद् वास्तुकं हिलमोचिकाम्।। 20।।

कोमल शाक तथा मौसम के शाक, परवल के पत्ते, बथुआ, हिलमोचिका आदि पांच शाक योगी के लिये अच्छे हैं। आयुर्वेद के अनुसार ये पांच शाक आंखों के लिये अच्छे हैं:-

जीवन्ती, बथुआ, मूल्याक्षी, मेघनाद और पुनर्नवा।

शुद्धं सुमधुरं स्निग्धं उदरार्द्धविवर्जितम्।
भुज्यते सुरसं प्रीत्या मिताहारमिदं विदुः।। 21।।

स्वच्छ, मधुर और चिकना भोजन आधे पेट करना चाहिये। ऐसा रसीला भोजन प्रसन्न मन से करना चाहिये। भूख से कम खाना मिताहार कहलाता है।

अन्नेन पूरयेदर्धं तोयेन तु तृतीयकम्।
उदरस्य तुरीयांश संरक्षेद् वायुचारणे।। 22।।

पेट का आधा भाग अन्न खाना चाहिये, पेट का चौथाई भाग पानी के लिये और चौथाई भाग वायु के लिये खाली छोड़ना चाहिये।

कट्वम्ललवणतिक्तं भृष्टं च दधितक्रकम्।
शाकोत्कटं तथा मद्यं तालं च पनसं तथा।। 23।।

कुलत्थं मसुरं पाण्डुं कूष्माण्डं शाकदण्डकम्।
तुम्बी कोलकपित्थं च कण्टबिल्व पलाशकम्।। 24।।

कदम्बं जम्बिरं बिम्बं लकुनं लशुनं विषम्।
कामरंगं प्रियालं च हिंगुशाल्मलि केमुकम्।
योगारम्भे वर्जयेत् पथं स्त्रीवह्निसेवनम्।। 25।।

कड़वे, खट्टे, नमकीन, चरपरे, भुने हुए अन्न, दही, मट्ठा, देर से पचने वाले शाक, मदिरा, ताड़ी, कटहल, कुल्फा या कुलथी की दाल, मसूर की दाल, पीत का साग, पेठा, सब्जियों के डण्ठल, घिया, बेर, कैथ, बेल, ढाक, कदम्ब के फूल, नींबू, बिम्बाफल, लीची, लहसुन, विषैली चीजें, कमरख, प्याज, हींग, सेमल के फूल, गोभी इन चीजों को योगाभ्यास शुरू करने पर नहीं खाना चाहिये। योगी को रास्ता अर्थात् यात्रा, स्त्री और अग्नि का सेवन भी नहीं करना चाहिये।

नवनीतं घृतं क्षीरं गुडशर्करादि चैक्षवम्।
पञ्चरम्भां नारिकेलं दाडिमं मसिवासरम्।
द्राक्षां तु नवनीं धात्रीं रसमम्लं विवर्जितम्।। 26।।

मक्खन, घी, दूध, गुड़, शक्कर, गन्ना, पांच तरह के केले, नारियल, अनार, सौंफ, मुनक्का, नमकीन आंवले और खट्टे रस या पदार्थ योग के साधक को नहीं खाने चाहिये।

एला जातिलवङ्गं च पौरुषं जम्बु जाम्बुलम्।
हरीतकीं च खर्जूरं योगी भक्षणमाचरेत्।। 27।।

योगी को इलायची, जावित्री, लौंग, बल बढ़ाने वाली वस्तुएँ, छोटी और बड़ी जामुन, हरड़ और खजूर खानी चाहिये।

लघुपाकप्रियं स्निग्धं यथा धातुप्रपोषणम्।
मनोऽभिलषितं योज्यं योगी भोजनमाचरेत्।। 28।।

योगी को जल्दी पकनेवाली, चिकनी, बल बढ़ाने वाली और मन को अच्छी लगने वाली उचित वस्तुएं खानी चाहियें।

काठिन्यं दुरितं पूतिमुष्णं पर्युषितं तथा।
अतिशीतं चातिचोग्रं भक्ष्यं योगी विवर्जयेत्।। 29।।

योगी को बहुत सख्त या देर में पचने वाले, स्वास्थ्य के लिये हानिकर, दुर्गन्ध वाले, बासी और गर्म पदार्थ नहीं खाने चाहियें। उसे बहुत ठण्डा और बहुत गर्म भोजन भी नहीं करना चाहिये।

प्रातः स्नानोपवासादि कायक्लेशविधिं विना।
एकाहारं निराहारं यामान्ते च न कारयेत्।। 30।।

योगी को सवेरे नहाना, उपवास रखना, शरीर को कष्ट देना, एक ही समय खाना या कुछ भी न खाना और खाने का समय बीत जाने पर भोजन आदि नहीं करना चाहिये।

एवं विधिविधानेन प्राणायामं समाचरेत्।
आरम्भं प्रथमं कुर्यात् क्षीराज्य नित्यभोजनम्।।

मध्याह्ने चैव सायाह्ने भोजनद्वयमाचरेत्।। 31।।

उपरोक्त प्रकार के भोजन और दिनचर्या को अपना कर प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये। प्राणायाम का अभ्यास शुरू करने पर दोपहर और शाम को दिन में दो बार भोजन करना चाहिये। योगी को प्रतिदिन दूध और घी खाना चाहिये।

नाडीशुद्धिः

कुशासने मृगाजिने व्याघ्राजिने च कम्बले।
स्थूलासने समासीनः प्राङ्मुखो वाप्युदङ्मुखः।
नाडीशुद्धिं समासाद्य प्राणायामं समभ्यसेत्।। 32।।

षट्कर्म द्वारा शरीर की नस-नाड़ियों की सफाई करने के बाद कुशा के आसन पर, मृग चर्म, व्याघ्रचर्म या कम्बल के मोटे आसन पर पूर्व दिशा या उत्तर दिशा की ओर मुख करके बैठना चाहिये और प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये।

चण्डकापालि

नाडीशुद्धिं कथं कुर्यान्नाडीशुद्धिस्तु कीदृशी।
तत् सर्वं श्रोतुमिच्छामि तत् वदस्व दयानिधे।। 33।।

हे दयासागर! नाडीशोधन कैसे करना चाहिये? नाडी शुद्धि का अभिप्राय क्या है? यह सब मैं आप से जानना चाहता हूँ। कृपा कर आप यह सब बताइये।

घेरण्ड

मलाकुलासु नाडीषु मारुतो नैव गच्छति।
प्राणायामः कथं सिद्धिस्तत्त्वज्ञानं कथं भवेत्।
तस्मादादौ नाडीशुद्धिं प्राणायामं ततोऽभ्यसेत्।। 34।।

मलिनता भरी शरीर की नस-नाड़ियों में प्राणवायु नहीं जा सकता। इसलिये मैल भरे शरीर में प्राणायाम का अभ्यास और तत्त्वज्ञान कैसे हो सकता है? अतः पहिले नाडीशोधन करके फिर प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये।

नाडीशुद्धिर्द्विधा प्रोक्ता समनुर्निर्मनुस्तथा।
बीजेन समनुं कुर्यान्निर्मनुं धौतिकर्मणा।। 35।।

नाडीशुद्धि दो प्रकार की होती है समनु और निर्मनु। समनु नाडी शुद्धि बीज मन्त्र के साथ की जाती है और निर्मनु नाडी शुद्धि धौति के साथ की जाती है।

धौतिकर्म पुरा प्रोक्तं षट्कर्म साधने यथा।
शृणुष्व समनुं चण्ड नाडीशुद्धिं यथा भवेत्।। 36।।

हे चण्डकपालि! षट्कर्म प्रकरण में धौति क्रिया बताई जा चुकी है। अब समनु नाडीशुद्धि के बारे में सुनो।

उपविश्यासने योगी पद्मासनं समाचरेत्।
गुर्वादिन्यासनं कुर्याद्यथैव गुरुभाषितम्।
नाडीशुद्धिं प्रकुर्वीत प्राणायाम विशुद्धये।। 37।।

आसन पर बैठकर पद्मासन लगाकर गुरु द्वारा बताया गया गुरु आदि का न्यास और पूजा करनी चाहिये। फिर प्राणायाम की सफलता के लिये नाडीशुद्धि करनी चाहिये।

नाडीशोधन प्राणायाम

वायुबीजं ततो ध्यात्वा धूम्रवर्णं सतेजसम्।
चन्द्रेण पूरयेद् वायुं बीजं षोडशकैः सुधीः।। 38।।

चतुःषष्ट्या मात्रया च कुम्भकेन धारयेत्।
द्वात्रिंशमात्रया वायुं सूर्यनाड्या च रेचयेत्।। 39।।

धुएं के रंग के और तेजस्वी वायुतत्त्व के बीजमन्त्र 'यं' को स्मरण कर चन्द्र अर्थात् बांये स्वर से सोलह बार 'यं' का जाप करते हुए श्वास भरना चाहिये। 'यं' का चौंसठ बार जाप करने तक श्वास रोकना चाहिये। फिर सूर्य अर्थात् दायें स्वर से बत्तीस बार 'यं' के जाप के साथ श्वास धीरे धीरे निकालना चाहिये।

नाभिमूलाद् वह्निमुत्थाप्य ध्यायेत्तेजोऽवनीयुतम्।
वह्निबीज षोडशेन सूर्यनाड्या च पूरयेत्।। 40।।

चतुः षष्ट्या च मात्रया कुम्भकेन धारयेत्।
द्वात्रिंशन्मात्रया वायुं शशि नाड्या च रेचयेत्।। 41।।

नाभि में अग्नि रहती है। नाभि से अग्नि को ऊपर उठाकर अर्थात् उड्डीयान बन्ध लगाकर और तेजस्वी पृथ्वी तत्त्व का ध्यान करके, पृथ्वी तत्त्व के बीजमन्त्र 'रं' का सोलह बार जाप करते हुए दायें स्वर से पूरक करना

चाहिये। भरे हुए इस श्वास को चौंसठ बार तक 'रं' का जाप करते हुए रोकना चाहिये। फिर बत्तीस बार 'रं' का जाप करते हुए बायें स्वर से श्वास निकाल देना चाहिये।

नासाग्रे शशिधृग्बिम्बं ध्यात्वा ज्योत्स्ना समन्वितम्।
ठं बीजं षोडशेनेव इडया पूरयेन्मरुत्।। 42।।

चतुःषष्ट्या मात्रया च वं बीजं चैव धारयेत्।
अमृतं प्लावितं ध्यात्वा नाडीधौतिं विभावयेत्।
लकारे द्वात्रिंशेन दृढं भाव्यं विरेचयेत्।। 43।।

नाक के अगले भाग पर किरण बिखेरते हुए चन्द्रमा का ध्यान करके 'ठं' बीज मन्त्र को सोलह बार जपते हुए इडा अर्थात् बायें स्वर से श्वास भरना चाहिये। 'वं' बीज मन्त्र का चौंसठ बार जाप करते हुए यह श्वास रोकना चाहिये। इसके बाद 'लं' बीज मन्त्र को 32 बार जपते हुए दायें स्वर से श्वास निकालना चाहिये। यह प्राणायाम करते समय मन में सोचना चाहिये कि सहस्त्रार से टपकता हुआ अमृत रस मेरे सारे शरीर की नस नाड़ियों का मल साफ कर रहा है।

एवंविधां नाडी शुद्धिं कृत्वा नाडीं विशोधयेत्।
दृढो भूत्वासनं कृत्वा प्राणायामं समाचरेत्।। 44।।

नाडीशोधन प्राणायाम द्वारा शरीर की नस-नाड़ियों का शोधन करके आसन लगाकर प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये।

आठ प्रकार के प्राणायाम

सहितः सूर्यभेदश्च उज्जायी शीतली तथा।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा केवली चाष्टकुम्भिका।। 45।।

सहित, सूर्यभेद, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और केवली ये आठ प्रकार के प्राणायाम होते हैं।

सहितो द्विविधः प्रोक्तः प्राणायामं समाचरेत्।
सगर्भो बीजमुच्चार्य निर्गर्भो बीजवर्जितः।। 46।।

सहित प्राणायाम दो तरह का होता है सगर्भ और निर्गर्भ।

बीजमन्त्र के जप के साथ सगर्भ सहित प्राणायाम होता है। बीज मन्त्र के जाप के बिना निर्गर्भ सहित–प्राणायाम होता है।

प्राणायामं सगर्भं च प्रथमं कथयामि ते।
सुखासनं चोपविश्य प्राङ्मुखो वाप्युदङ्मुखः।
ध्यायेद् विधिं रजोगुण्यं रक्तवर्णमवर्णकम्।। 47।।

सबसे पहिले मैं सगर्भ प्राणायाम बताता हूँ। आराम से जिस आसन में बैठा जा सके उसमें बैठकर उत्तर दिशा या पूर्व दिशा की ओर मुख करके ब्रह्मा का ध्यान करना चाहिये और सोचना चाहिये कि ब्रह्मा, रजोगुण युक्त लाल वर्ण के हैं। उनका स्वरूप 'अ' अक्षर जैसा है।

इडया पूरयेद् वायुं मात्रया षोडशैः सुधीः।
पूरकान्ते कुम्भकाद्ये कर्तव्यस्तूड्डियानकः।। 48।।

साधक को सोलह तक गिनते हुए बायें स्वर से श्वास भरना चाहिये। श्वास भर लेने पर अर्थात् पूरक कर लेने पर और कुम्भक शुरू करते हुए उड्डीयान बन्ध लगाना चाहिये।

हरिं सत्त्वमयं ध्यात्वा उकारं कृष्णवर्णकम्।
चतुः षष्ट्या च मात्रया कुम्भकेनैव धारयेत्।। 49।।

कृष्ण स्वरूप सत्त्वगुणमय विष्णु का ध्यान करते हुए 'उ' बीजमन्त्र का चौंसठ बार जाप करते हुए श्वास अन्दर रोकना चाहिये।

तमोमयं शिवं ध्यात्वा मकारं शुक्लवर्णकम्।
द्वाविंशन्मात्रया चैव रेचयेद् विधिना पुनः।। 50।।

शुक्लवर्ण वाले तमोगुण स्वरूप शिव का ध्यान करते हुए और 'मं' बीज मन्त्र को 32 बार जपते हुए दायें स्वर से रेचन करे।

पुनः पिङ्गलयापूर्य कुम्भकेनैव धारयेत्।
इडया रेचयेत् पश्चात् तद् बीजेन क्रमेण तु।। 51।।

अब सूर्य नाडी से श्वास भरकर और श्वास रोककर बायें स्वर से श्वास निकालना चाहिये। पूरक, कुम्भक और रेचक के दौरान उपरोक्त बीज मंत्रों का जाप करते रहना चाहिये।

अनुलोमविलोमेन वारं वारं च साधयेत्।
पूरकान्तं कुम्भकान्तं धृतं नासापुटद्वयम्।
कनिष्ठानामिकाङ्गुष्ठैस्तर्जनी मध्यमां विना।। 52।।

इस प्रकार दायें और बायें स्वरों से बारी बारी पूरक और रेचक करना चाहिये। पूरक के बाद और कुम्भक के अन्त तक अंगूठे, कनिष्ठिका (छोटी अंगुली) और अनामिका (छोटी से अगली अंगुली) से नाक के दोनों स्वर बन्द रखने चाहियें। नाक के स्वर बन्द करने में तर्जनी (अंगूठे से अगली) और मध्यमा (बीच की) अंगुलियों का प्रयोग नहीं किया जाता।

प्राणायामं च निर्गर्भं विना बीजेन जायते।
एकादि शतपर्यन्तं पूरककुम्भकरेचनम्।। 53।।

बीजमन्त्र के जाप के बिना निर्गर्भ प्राणायाम होता है। पूरक, रेचक और कुम्भक में 16:32:64 के अनुपात से एक सौ बारह बार मन्त्र जाप या गिनती हो जाती है।

उत्तमा विंशति मात्रा मात्रा षोडश मध्यमा।
अधमा द्वादशी मात्रा प्राणायामास्त्रिधा स्मृताः।। 54।।

उत्तम, मध्यम और अधम के भेद से प्राणायाम तीन प्रकार के होते हैं। बीस मात्रा अर्थात् बीस मंत्र जाप तक पूरक करके उसी अनुपात में अस्सी मन्त्र जाप तक कुम्भक और चालीस मन्त्र जाप में रेचक करने से उत्तम प्राणायाम होता है।

मध्यम प्राणायाम में पूरक, कुम्भक और रेचक का अनुपात 16:64:32 तथा अधम प्राणायाम में यह अनुपात 12:48:24 होगा।

अधमाज्जायते घर्मं मेरुकम्पं च मध्यमात्।
उत्तमाच्च भूमित्यागस्त्रिविधं सिद्धिलक्षणम्।। 55।।

अधम प्राणायाम के अभ्यास से शरीर में गर्मी और पसीना आता है। मध्यम प्राणायाम से रीढ़ की हड्डी में कंपकपी आती है। उत्तम प्राणायाम से शरीर भूमि से ऊपर उठ जाता है। प्राणायाम सिद्धि या सफलता के ये तीन लक्षण होते हैं।

प्राणायामात् खेचरत्वं प्राणायामाद् रोगनाशनम्।
प्राणायामाद् बोधयेच्छक्तिं प्राणायामान्मनोमनी।
आनन्दो जायते चित्ते प्राणायामी सुखी भवेत्।। 56।।

प्राणायाम सिद्ध होने पर योगी आकाश में जा सकता है। प्राणायाम से रोग नष्ट हो जाते हैं, कुण्डलिनी शक्ति जाग जाती है और मनोन्मनी अवस्था आ जाती है। प्राणायाम से मन में आनन्द की अनुभूति होती है। प्राणायाम करने वाला व्यक्ति सुखी होता है।

सूर्यभेद कुम्भक

कथितं सहितं कुम्भं सूर्य भेदनकं शृणु।
पूरयेत् सूर्यनाड्या च यथाशक्ति बहिर्मरुत्।। 57।।

धारयेद् बहुयत्नेन कुम्भकेन जलन्धरैः।
यावत् स्वेदो नखकेशाभ्यां तावत् कुर्वतु कुम्भकम्।। 58।।

सहित प्राणायाम बता दिया। अब सूर्यभेद कुम्भक प्राणायाम बताता हूं। दायें स्वर से यथाशक्ति श्वास भरनी चाहिये। फिर जालन्धर बन्ध सहित तबतक सांस रोकनी (कुम्भक करना) चाहिये जबतक नाखूनों और बालों में पसीना न आ जाय।

दस प्राणवायु

प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ तथैव च।
नागः कूर्मश्च कृकलो देवदत्तो धनञ्जयः।। 59।।

प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय ये दस प्रकार के प्राण शरीर में हैं।

हृदि प्राणो वसेन्नित्यमपानो गुदमण्डले।
समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमध्यगः।। 60।।

व्यानो व्याप्य शरीरं तु प्रधानाः पञ्चवायवाः।
प्राणाद्याः पञ्च विख्यातानागाद्याः पंचवायवाः।।61।।

प्राणवायु हृदय में रहता है, अपान गुदा में, समान नाभि में, उदान कण्ठ (गले) में और व्यान वायु सारे शरीर में रहता है। ये पांच प्रधान वायु हैं। नाग, कूर्म आदि पांच वायु गौण हैं।

तेषामपि पञ्चानां स्थानान्यपि वदाम्यहम्।
उद्गारे नाग आख्यातः कूर्मस्तून्मीलने स्मृतः।। 62।।

कृकलः क्षुत्कृते ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे।
न जहाति मृते क्वापि सर्वव्यापी धनञ्जयः।। 63।।

इन पांच अप्रधान वायुओं के स्थान भी मैं बताता हूँ। नागवायु से डकार आती है, कूर्म से आंखों की पलकें झपकती हैं। कृकल से भूख लगती है, देवदत्त से जमुहाई आती है। धनञ्जय सारे शरीर में रहता है। धनञ्जय वायु मृत्यु के बाद भी शरीर में रहता है।

नागो गृह्णाति चैतन्यं कूर्मश्चैव निमेषणम्।
क्षुधा तृट् कृकरश्चैव चतुर्थेन तु जृम्भणम्।।
भवेद् धनञ्जयाच्छब्दं क्षणमात्रं न निःसरेत्।। 64।।

नाग वायु से शरीर में चेतनता रहती है, कूर्म से पलकें झपकती हैं। कृकर से भूख-प्यास लगती है। देवदत्त से जमुहाई आती है। धनञ्जय क्षणभर के लिये भी शरीर नहीं छोड़ता। इस वायु से बोलने आदि का शब्द होता है।

सर्वे तु सूर्यसम्भिन्ना नाभिमूलात् समुद्धरेत्।
इडया रेचयेत् पश्चात् धैर्येणाखण्डवेगतः।। 65।।

पुनः सूर्येण चाकृष्य कुम्भयित्वा यथाविधि।
रेचयित्वा साधयेत् क्रमेण च पुनः पुनः।। 66।।

प्रत्येक सूर्य भेद प्राणायाम नाभि मूल को उठाकर अर्थात् उड्डीयान बन्ध लगाकर करना चाहिये। कुम्भक के बाद प्राणवायु को बायें स्वर से धीरे-धीरे झटका मारे बिना समानगति से निकालना चाहिये। फिर सूर्य स्वर से अर्थात् दायें स्वर से श्वास भरकर कुम्भक के बाद श्वास बायें स्वर से निकालना चाहिये।

सूर्य भेद कुम्भक फलम्

कुम्भकः सूर्यभेदस्तु जरामृत्युविनाशकः।
बोधयेत् कुण्डलीं शक्तिं देहानल विवर्धनः।
इति ते कथितं चण्ड सूर्य भेदनमुत्तमम्।। 67।।

सूर्य भेद कुम्भक प्राणायाम के नियमित अभ्यास से बुढ़ापा और मृत्यु दूर रहती है। इससे कुण्डलिनी शक्ति जाग जाती है और शरीर की अग्नि बढ़ जाती है अर्थात् शरीर में गर्मी आती है। चण्डकापालि मैंने तुम्हें श्रेष्ठ प्राणायाम सूर्य भेद बता दिया।

उज्जायी कुम्भक

नासाभ्यां वायुमाकृष्य वायुं वक्त्रेण धारयेत्।
हृद्गलाभ्यां समाकृष्य मुखमध्ये च धारयेत्।। 68।।

नाक के दोनों स्वरों से प्राणवायु भरकर इसे मुंह में रोकना चाहिये। हृदय और गले से भी प्राणवायु खींचनी चाहिये।

मुखं प्रक्षाल्य सम्वेद्य कुर्याज्जालन्धरं ततः।
आशक्तिं कुम्भकं कृत्वा धारयेदविरोधतः।। 69।।

अब मुंह धोकर और स्तुति करने के बाद जालन्धर बन्ध लगाना चाहिये। यथाशक्ति वायु को मुंह में ही रोकना चाहिये और फिर नाक से वायु निकालनी चाहिये।

उज्जयीकुम्भकफलम्

उज्जायीकुम्भकं कृत्वा सर्वकार्याणि साधयेत्।
न भवेत् कफरोगं च क्रूरवायुरजीर्णकम्।। 70।।

आमवातं क्षयं कासं ज्वरप्लीहा न विद्यते।
जरामृत्युविनाशाय चोज्जायीं साधयेन्नरः।। 71।।

उज्जायी कुम्भक का अभ्यास करने वाला अपने सभी काम पूरे कर लेता

है। उसको कफ से उत्पन्न रोग, अपचन, वायु विकार, आमवात, तपेदिक, खांसी, बुखार और तिल्ली की खराबी के रोग नहीं होते।

बुढ़ापे और मृत्यु को दूर रखने के लिये उज्जायी करना चाहिये।

शीतली कुम्भक

जिह्वया वायुमाकृष्य उदरे पूरयेच्छनैः।
क्षणं च कुम्भकं कृत्वा नासाभ्यां रेचयेत् पुनः।। 72।।

जीभ से श्वास खींच कर वायु को धीरे-धीरे पेट की ओर धकेलना चाहिये। थोड़ी देर वायु को रोककर नाक के दोनों सुरों से रेचन करना चाहिये।

शीतली कुम्भकफलम्

सर्वदा साधयेद्योगी शीतलीकुम्भकं शुभम्।
अजीर्णकफपित्तं च न च तस्य प्रजायते।। 73।।

योगी को शीतली कुम्भक प्राणायाम सदा करना चाहिये। इसे करने से अजीर्ण तथा कफ और पित्त के रोग नहीं होते।

भस्त्रिकाविधि

भस्त्रेव लोहकाराणां यथाक्रमेण सम्भ्रमेत्।
तथा वायुं च नासाभ्यामुभाभ्यां चालयेच्छनैः।। 74।।

जैसे लोहार धौंकनी से बार-बार हवा भरता है वैसे ही नाक के दोनों सुरों से श्वास बार-बार धीरे-धीरे भरना चाहिये।

एवं विंशति वारं च कृत्वा कुर्याच्चकुम्भकम्।
तदन्ते चालयेद् वायुं पूर्वोक्तं च यथाविधि।। 75।।

त्रिवारं साधयेदेनं भस्त्रिकाकुम्भकं सुधीः।
न च रोगं न च क्लेशमारोग्यं च दिने दिने।। 76।।

इस प्रकार बीस बार पूरक-रेचक करके कुम्भक करना चाहिये। फिर नाक के सुरों से श्वास निकाल देना चाहिये।

यह भस्त्रिका प्राणायाम तीन बार करना चाहिये। भस्त्रिका प्राणायाम के अभ्यास से शरीर में कोई रोग और कष्ट आदि नहीं रहता और साधक का शरीर सभी रोगों से छुटकारा पा जाता है।

भ्रामरी कुम्भक

अर्द्धरात्रिगते योगी जन्तूनां शब्दवर्जिते।
कर्णौ पिधाय हस्ताभ्यां कुर्यात् पूरक कुम्भकम्।।77।।

आधीरात बीतने पर जब पशुओं की आवाजें न आ रही हों तब दोनों हाथों से कान बन्द करके पूरक और कुम्भक प्राणायाम करना चाहिये।

शृणुयाद् दक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गतं शुभम्।
प्रथमं झिञ्झीनादं च वंशीनादं ततः परम्।। 78।।

मेघझर्झरभ्रमरी घण्टा कांस्यं ततः परम्।-
तुरी भेरी मृदङ्गादिनिनादानक दुंदुभिः।। 79।।

दोनों कान बन्द करके कुम्भक करने से सबसे पहिले दायें कान में शरीर में उठने वाला अनाहत नाद सुनाई देता है। शुरु में इस अनाहत नाद की आवाज झिल्ली की झंकार जैसी सुनाई देती है। फिर बांसुरी, बादलों की गरज, झांझ, भौंरों की गुंजार, कांसे के घण्टे का शब्द, तुरही, नगाड़े, तबले और भेरी आदि बाजों की आवाजें सुनाई देती हैं।

एवं नानाविधं नादं जायते नित्यमभ्यासात्।
अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः।।80।।

ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिर्ज्योतेरन्तर्गतं मनः।
तन्मनो विलयं याति तद् विष्णोः परमं पदम्।
एवं च भ्रामरी सिद्धिः समाधि सिद्धिमाप्नुयात्।।81।।

भ्रामरी कुम्भक का प्रतिदिन नियमित अभ्यास करने से अनाहत नाद के अनेक तरह के शब्द सुनाई देते हैं। इस अनाहत नाद में ज्योति प्रकट होती है और मन इस ज्योति पर एकाग्र होने लगता है। मन की एकाग्रता बढ़ने पर मन परमपद परमात्मा के ध्यान लीन हो जाता है। इस प्रकार भ्रामरी सिद्ध होने पर समाधि लगने लगती है।

जपादष्टगुणं ध्यानं ध्यानादष्टगुणं तपः।
तपसोऽष्टगुणं गानं गानात् परतरं न हि।। 82।।

जप करने की अपेक्षा ध्यान करने का फल आठ गुना अधिक होता है। ध्यान की अपेक्षा तपस्या करने का फल आठ गुना अधिक होता है। तप की अपेक्षा अनाहत नाद सुनने का फल आठ गुना होता है और नाद से श्रेष्ठ कुछ नहीं है।

मूर्च्छाकुम्भक

सुखेन कुम्भकं कृत्वा मनश्च भ्रुवोरन्तरम्।
संत्यज्य विषयान् सर्वान् मनोमूर्च्छा सुखप्रदम्।
आत्मनि मनसो योगादानन्दो जायते ध्रुवम्।। 83।।

आराम से कुम्भक करके मन को भौंहों के बीच में एकाग्र करना चाहिये। मन में किसी भी विषय आदि की चिन्ता छोड़कर मन को आत्मतत्त्व के ध्यान में लगा देना चाहिये। यह अभ्यास करने से निश्चय ही योगाभ्यास का आनन्द मिलता है।

केवलीकुम्भक

हंकारेण बहिर्याति सकारेण विशते पुनः।
षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः।
अजपां नाम गायत्रीं जीवो जपति सर्वदा।। 84।।

हमारे श्वास छोड़ने पर 'हं' शब्द होता है और श्वास भरने पर 'स'।

इस प्रकार प्राणी दिन और रात में 21600 बार 'हंस' शब्द के द्वारा स्वयमेव अजपा जप करता रहता है। 'हं' का अर्थ शिव (आनन्द) और 'स' अर्थ शक्ति है।

मूलाधारे यथा हंसस्तथा हि हृदिपंकजे।
तथा नासापुटे द्वन्द्वे त्रिविधं सङ्गमागमम्।। 85।।

मूलाधार में, हृदय में और नाक के दोनों सुरों की इडा तथा पिंगला

नाड़ियों में 'हंस' शब्द का अजपा जप श्वास-प्रश्वास के साथ निरन्तर चलता रहता है।

षण्णवत्यङ्गुलीमानं शरीरं कर्मरूपकम्।
देहाद् बहिर्गतो वायुः स्वभावो द्वादशाङ्गुलिः।। 86।।

गायने षोडशांगुलिः भोजने विंशतिस्तथा।
चतुर्विंशांगुलिः प्रस्थो निद्रायां त्रिंशदंगुलिः।
मैथुने षट्त्रिंशदुक्तं व्यायामे च ततोऽधिकम्।। 87।।

तरह तरह के काम करने पर प्राण वायु शरीर से 96 अंगुलि की दूरी तक बाहर जाता है। कोई भी काम न करने पर शान्त बैठे रहने पर प्राणवायु स्वाभाविक या सामाम्यरूप से 12 अंगुलि की दूरी तक बाहर जाता है। गाते हुए सोलह अंगुलि, भोजन करते समय 20 अंगुलि, चलते हुए 24 अंगुलि, सोते हुए तीस अंगुलि, मैथुन के समय 36 अंगुलि की दूरी तक प्राणवायु शरीर से बाहर जाता है। व्यायाम या मेहनत का काम करने पर प्राणवायु की दूरी और अधिक बढ़ जाती है।

गोरक्षपद्धति के अनुसार प्राणवायु 36 अंगुलि की दूरी तक बाहर जाता है।

षट्त्रिंशदंगुलो हंसः प्रयाणं कुरुते बहिः।।

गोरक्ष पद्धति 1/84

स्वभावेऽस्य गते न्यूनं परमायुः प्रवर्द्धते।
आयुः क्षयोऽधिके प्रोक्तो मारुते चान्तराद् गते।। 88।।

श्वास-प्रश्वास की गति घटने पर हमारी आयु बढ़ जाती है। श्वास प्रश्वास की गति बढ़ने पर आयु कम हो जाती है।

तस्मात् प्राणे स्थिते देहे मरणं नैव जायते।
वायुना घटसम्बन्धे भवेत् केवलकुम्भकम्।। 89।।

इसलिये शरीर में जबतक प्राणवायु रहती है तबतक मृत्यु नहीं होती। केवली कुम्भक में श्वास-प्रश्वास की गति कम होती है या श्वास प्रश्वास की गति का निरोध हो जाता है।

यावज्जीवो जपेन्मन्त्रमजपा संख्यकेवलम्।
अद्यावधि धृतं संख्याविभ्रमं केवलीकृते।। 90।।

अत एव हि कर्तव्यः केवली कुम्भको नरैः।
केवली चाजपासंख्या द्विगुणा च मनोन्मनी।। 91।।

प्राणी जबतक जीवित रहता है तब तक वह अजपा जप करता रहता है। केवली कुम्भक करने पर श्वास-प्रश्वास की गति घट जाने से अजपा जप की संख्या बदल जाती है इसलिये केवली कुम्भक करना चाहिये। केवली से अजपा जप की संख्या दुगुनी हो जाने से मनोन्मनी अवस्था आ जाती है।

नासाभ्यां वायुमाकृष्य केवलं कुम्भकं चरेत्।
एकादिकचतुःषष्ठं धारयेत् प्रथमे दिने।। 92।।

नाक के दोनों सुरों से श्वास भरकर केवली कुम्भक करे। पहले दिन के अभ्यास में अजपा जप 61 बार होने तक कुम्भक करना चाहिये।

केवलीमष्टधा कुर्याद्यामे यामे दिने दिने।
अथवा पञ्चधा कुर्याद्यथा तत् कथयामि ते।। 93।।

प्रतिदिन प्रत्येक याम (प्रहर) में आठ बार केवली कुम्भक करना चाहिये अथवा पांच बार करना चाहिये। इसकी विधि मैं तुम्हें बतलाता हूँ।

प्रातर्मध्याह्नसायाह्ने मध्ये रात्रिचतुर्थके।
त्रिसन्ध्यमथवा कुर्यात् स समाने दिने दिने।। 94।।

सवेरे, दोपहर, शाम और आधी रात में अथवा तीनों सन्ध्या समय प्रतिदिन समान संख्या में केवली कुम्भक करना चाहिये।

पञ्चवारं दिने वृद्धिवारैकं च दिने तथा।
अजपारिमाणं च यावत् सिद्धिः प्रजायते।। 95।।

जबतक केवली कुम्भक सिद्ध न हो जाय तबतक पांच बार से शुरू करके प्रतिदिन अजपा जाप की संख्या एक-एक करके बढ़ाते जाना चाहिये।

प्राणायामं केवलीं च तदा वदति योगवित्।
कुम्भके केवलीसिद्धे किं न सिद्ध्यति भूतले।। 96।।

योग के जानकार केवली प्राणायाम को ही श्रेष्ठ कहते हैं। केवली कुंम्भक की सिद्धि हो जाने पर पृथ्वी पर क्या सफलता नहीं मिलती।

इति श्री घेरण्डसंहितायां घेरण्डचण्डकापालिसम्वादे
प्राणायामप्रयोगो नाम पञ्चमोपदेशः।

श्री घेरण्डसंहिता में महर्षि घेरण्ड और राजा चण्डकापालि की बातचीत में प्राणायाम प्रयोग नाम का पांचवा उपदेश समाप्त।

।। इति।।

षष्ठ उपदेश

ध्यानयोग:

स्थूलं ज्योतिस्तथा सूक्ष्मं ध्यानस्य त्रिविधं विदुः।
स्थूलं मूर्तिमयं प्रोक्तं ज्योतिस्तेजोमयं तथा।
सूक्ष्मं बिन्दुमयं ब्रह्म कुण्डली परदेवता।। 1।।

ध्यान; स्थूल, ज्योति तथा सूक्ष्म इन तीन तरह का होता है। स्थूल ध्यान में किसी मूर्ति पर मन लगाया जाता है। ज्योति ध्यान में किसी तेजस्वी वस्तु का ध्यान किया जाता है और सूक्ष्म ध्यान बिन्दु, जैसी किसी सूक्ष्म ध्येय वस्तु पर मन लगाकर ब्रह्म तथा कुण्ड़लिनी शक्ति को स्मरण किया जाता है।

स्थूल ध्यान विधि

स्वकीय हृदये ध्यायेत् सुधासागरमुत्तमम्।
तन्मध्ये रत्नद्वीपं तु सुरत्नबालुकामयम्।। 2।।

साधक को अपने हृदय में श्रेष्ठ क्षीर सागर का और इस समुद्र के बीच में ऐसे रत्न द्वीप का ध्यान करना चाहिये जहाँ रत्न बिखरे पड़े हैं।

चतुर्दिक्षु निम्बतरुबहुपुष्प समन्वितः।
निम्बोपवन संकूले वेष्टितं परिखा इव।। 3।।

इस द्वीप में चारों ओर फूलों से लदे नीम के पेड़ हैं। इन्हें देख ऐसा लगता है कि नीम के पेड़ों की खाई है।

मालती मल्लिकाजाती केशरैश्चम्पकैस्तथा।
पारिजातैः स्थलैः पद्मैगन्धामोदित दिङ्मुखैः ।।4।।

इस बाग में मालती, मल्लिका, चमेली, केसर, चम्पा, हारसिंगार और स्थल कमल के फूलों की सुगन्ध चारों दिशाओं में फैली हुई है।

तन्मध्ये संस्मरेद्योगी कल्पवृक्षं मनोहरम्।
चतुःशाखा चतुर्वेदं नित्यं पुष्पफलान्वितम्।। 5।।

योगी को इस उपवन के बीच में कल्प वृक्ष का ध्यान करना चाहिये जिसपर फल- फूल सदा खिले रहते हैं। इस कल्प वृक्ष की चार शाखाओं पर चार वेद हैं।

भ्रमराः कोकिलास्तत्र गुञ्जन्ति निगदन्ति च।
ध्यायेत्तत्र स्थिरो भूत्वा महामणिकमण्डपम्।। 6।।

इस उद्यान में भौंरों की गुंजार और कोयलों की मीठी आवाज सुनाई दे रही है। योगी को मन एकाग्र कर यह ध्यान करना चाहिये कि इस स्थान पर मणियों से बना बहुत बड़ा मण्डप है।

तन्मध्ये तु स्मरेद्योगी पर्यङ्कं सुमनोहरम्।
तत्रेष्टदेवतां ध्यायेत् ध्यानं गुरुभाषितम्।। 7।।

इस मण्डप के बीच में सुन्दर पलंग बिछा हुआ है। योगी को इस पलंग पर बैठे अपने इष्ट देवता का ध्यान गुरु की बताई हुई विधि के अनुसार करना चाहिये।

यस्य देवस्य यद्रूपं यथा भूषण वाहनम्।
तद्रूपं ध्यायते नित्यं स्थूल ध्यानमिदं विदुः।। 8।।

जिस देवता का जैसा रूप, आभूषण और वाहन (सवारी) हैं उनका योगी को ध्यान करना चाहिये। यही स्थूल ध्यान का तरीका है।

प्रकारान्तर स्थूल ध्यानविधि

सहस्त्रारे महापद्मे कर्णिकायां विचिन्तयेत्।
विलग्नसहितं पद्मं द्वादशैर्दलसंयुतम्।। 9।।

अपने सहस्त्रार चक्र में सहस्त्रदल कमल की कर्णिका अर्थात् मध्यभाग में बारह दलों के कमल की कल्पना करके उस कमल पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिये।

शुक्लवर्णं महातेजो द्वादशै बींजभूषितम्।
हंसक्षमलवरयूंहसखफ्रं यथाक्रमम्।। 10।।

बारह दलों का यह कमल सफेद रंग का है और इसके बारह पत्तों पर हं, स, क्ष, म, ल, व, र, यं, ह, स, ख और फ्रं ये 12 बीज मन्त्र हैं।

तन्मध्ये कर्णिकायां तु अकथादि रेखात्रयम्।
हलक्षकोणसंयुक्तं प्रणवं तत्र वर्तते।। 1।।

इस कमल के बीच कर्णिका में अ, क, और थ नाम की इन तीन रेखाओं का त्रिभुज है जिसके तीनों कोणों पर ह, ल, क्ष बीज मंत्र है। और त्रिभुज के बीच में ओ३म् लिखा है।

नादबिन्दुमयं पीठं ध्यायेत्तत्र मनोहरम्।
तत्रोपरि हंसयुग्मं पादुका तत्र वर्तते।। 12।।

फिर ध्यान करना चाहिये कि यह त्रिभुज नादबिन्दुस्वरूप मनोहर आसन से युक्त है और इस आसन पर दो हंस और खड़ाऊं हैं।

ध्यायेत्तत्र गुरुं देवं द्विभुजं च त्रिलोचनम्।
श्वेताम्बरधरं देवं शुक्लगन्धानुलेपनम्।। 13।।

इस आसन पर अपने गुरुदेव का ध्यान करना चाहिये जो सफेद कपड़े पहिने हुए हैं। जिनके शरीर पर सफेद सुगन्ध मय चन्दन का लेप है। जिनके दो हाथ और तीन नेत्र हैं।

शुक्लपुष्पमयं माल्यं रक्तशक्तिसमन्वितम्।
एवंविधं गुरुं ध्यानात् स्थूलध्यानं प्रसाध्यति।। 14।।

गुरुदेव के गले में सफेद फूलों की माला है जो लाल रंग की शक्ति से युक्त है। गुरुदेव की ऐसी प्रतिमा पर ध्यान लगाना स्थूल ध्यान कहलाता है।

ज्योतिर्ध्यानविधि

कथितं स्थूल ध्यानं तेजोध्यानं शृणुष्व मे।
यद् ध्यानेन योगसिद्धिरात्मप्रत्यक्षमेव च।। 15।।

मैंने स्थूल ध्यान करने का तरीका तुम्हें बता दिया। अब ज्योतिर्ध्यान की विधि सुनो। इस ध्यान के अभ्यास से योग में सफलता मिलती है और परमात्म तत्त्व का साक्षात् दर्शन हो जाता है।

मूलाधारे कुण्डलिनी भुजङ्गाकाररूपिणी।
जीवात्मा तिष्ठति तत्र प्रदीपकलिकाकृतिः।।
ध्यायेत् तेजोमयं ब्रह्म तेजोध्यानं परात्परम्।। 16।।

मूलाधार चक्र में सांप के आकार जैसी कुण्डलिनी शक्ति रहती है। वहाँ पर ही दीपक की ज्योति जैसा हमारा जीवात्मा भी विराजमान है। इस जीवात्मा में जो ज्योतिस्वरूप ब्रह्म या परमात्मा हैं उनका ध्यान करना चाहिये। इस ज्योति पर ध्यान लगाने से इस दृश्य संसार से परे परम शक्ति के दर्शन हो जाते हैं।

प्रकारान्तरेण ज्योतिर्ध्यानविधि

भ्रुवोर्मध्ये मनोर्ध्वे च यत्तेजः प्रणवात्मकम्।
ध्यायेज्ज्वालावलीयुक्तं तेजोध्यानं तदेव हि।। 17।।

दोनों भौंहों के बीच में और हमारे मन से भी ऊपर जो प्रणवस्वरूप तेज अर्थात् प्रकाशमान परमात्मा हैं उन तेज स्वरूप परमात्मा पर ध्यान लगाना ही ज्योतिर्ध्यान है।

सूक्ष्मध्यानविधि

तेजोध्यानं श्रुतं चण्ड सूक्ष्मध्यानं वदाम्यहम्।
बहुभाग्यवशाद्यस्य कुण्डली जागृता भवेत्।। 18।।

हे चण्डकापालि! तुमने ज्योतिर्ध्यान की विधि सुन ली। अब मैं सूक्ष्म ध्यान का उपाय बताता हूँ। जिस परम भाग्यशाली व्यक्ति की कुण्डलिनी शक्ति जाग जाती है।

आत्मनः सह योगेन नेत्र रन्ध्राद् विनिर्गता।
विहरेद् राजमार्गे च चञ्चलत्वान्न दृश्यते।। 19।।

कुण्डलिनी शक्ति आंखों के रास्ते निकलकर आत्म तत्त्व के साथ मिलकर राजमार्ग पर विचरने लगती है किन्तु यह शक्ति अत्यन्त चंचल होने के कारण दिखाई नहीं देती है।

शाम्भवीमुद्रया योगी ध्यानयोगेन सिद्ध्यति।
सूक्ष्मध्यानमिदं गोप्यं देवानामपि दुर्लभम्।। 20।।

शाम्भवी मुद्रा में बैठा योगी ध्यान योग के द्वारा सिद्ध बन जाता है। सूक्ष्म ध्यान की विधि गुप्त है। देवता भी इसे नहीं जान पाते।

स्थूल ध्यानात् शतगुणं तेजोध्यानं प्रचक्षते।
तेजोध्यानात् लक्षगुणं सूक्ष्मध्यानं परात्परम्।। 21।।

ज्योतिर्ध्यान, स्थूल ध्यान की तुलना में सौ गुना अधिक माना जाता है और ज्योतिर्ध्यान की अपेक्षा सूक्ष्म ध्यान लाख गुना अधिक प्रभावशाली होता है। सूक्ष्मध्यान के द्वारा योगी शरीर की स्थूल इन्द्रियों की पकड़ से परे परम तत्त्व परमात्मा का साक्षात् कर लेता है।

इति ते कथितं चण्ड ध्यानयोगं सुदुर्लभम्।
आत्मसाक्षाद् भवेद् यस्मात् तस्मात् ध्यानं विशिष्यते।। 22।।

हे चण्डकापालि! मैंने तुम्हें ध्यान योग की विधि बता दी। यह विधि जान पाना बहुत कठिन है। ध्यान योग के अभ्यास से आत्मसाक्षात्कार हो जाता है इसलिये ध्यानयोग बहुत महत्वपूर्ण है।

इति श्री घेरण्डसंहितायां घेरण्डचण्डकापालिसम्वादे

घटस्थयोगे ध्यानयोगो नाम षष्ठोपदेशः

श्री घेरण्डसंहिता में महर्षि घेरण्ड और राजा चण्डकापालि की बातचीत में शरीर के योगाभ्यास में ध्यान योग नाम का छठा उपदेश समाप्त।

सप्तम उपेदश

समाधियोगविधिः

समाधिं च परं योगं बहुभाग्येन लभ्यते।
गुरोः कृपा प्रसादेन प्राप्यते गुरुभक्तितः।। 1।।

समाधि योग की जानकारी बड़े भाग्य से ही मिलती है। समाधि योग, गुरु की कृपा से और गुरु की भक्ति से प्राप्त होता है।

विद्याप्रतीतिः स्वगुरु प्रतीतिरात्मप्रतीतिर्मनसः प्रबोधः।
दिने दिने यस्य भवेत् स योगी सुशोभनाभ्यासमुपैति सद्यः।। 2।।

जो साधक योग विद्या में, अपने गुरु में और आत्मा की सत्ता में विश्वास करता है और जिस साधक का मन जागरूक रहता है। यह मानसिक जागरूकता और विश्वास जिस योगी में प्रतिदिन बढ़ता जाता है उसका योगाभ्यास जल्दी ही सफल हो जाता है।

घटाद् भिन्नं मनः कृत्वा ऐक्यं कृत्वा परात्मनि।
समाधिं तद् विजानीयात् मुक्तसंज्ञो दशादिभिः।। 3।।

शरीर की चिन्ता आदि से मन को हटाकर, मन परम आत्मतत्त्व के साथ मिलाना चाहिये या परमात्म तत्त्व में मन लगाना चाहिये। मन का परमात्म तत्त्व के साथ मिल जाना ही समाधि कहलाती है। समाधि का अभ्यास हो जाने पर योगी संसार की और अपने शरीर की चिन्ताओं से छूटकर मुक्त हो जाता है।

अहं ब्रह्म न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक्।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तः स्वभाववान्।। 4।।

योगी को यही सोचना चाहिये कि मैं स्वयं ही ब्रह्म हूँ, मैं, ब्रह्म के

अतिरिक्त कुछ नहीं हूं। क्योंकि मैं ब्रह्म ही हूं, इसलिये मैं किसी भी प्रकार के शोक या दुख से दूर हूं। मैं स्वयं सत्, चित् और आनन्द स्वरूप हूं, इस संसार के बन्धनों से सदा मुक्त हूं, और मैं अपने वास्तविक स्वभाव या स्वरूप को जान चुका हूं।

समाधि भेदाः

शाम्भव्या च खेचर्य्या भ्रामर्य्या योनिमुद्रया।
ध्यानं नादं रसानन्दं लयसिद्धिश्चतुर्विधा।। 5।।

पञ्चधा भक्तियोगेन मनोमूर्च्छा च षड्विधा।
षड्विधोऽयं राजयोगः प्रत्येकमवधारय।। 6।।

शाम्भवी मुद्रा में ध्यानयोग, खेचरीमुद्रा में नादयोग, भ्रामरी मुद्रा में रसानन्द योग, योनिमुद्रा में लयसिद्धि योग का अभ्यास तथा भक्तियोग और मनोमूर्च्छा ये छह प्रकार के राजयोग या समाधि के भेद हैं। इन सभी प्रकार की समाधियों को सुनो।

ध्यानयोग समाधि

शाम्भवीमुद्रिकां कृत्वा आत्मप्रत्यक्षमानयेत्।
बिन्दुब्रह्म सकृद् दृष्ट्वा मनस्तत्र नियोजयेत्।। 7।।

शाम्भवी मुद्रा लगाकर आत्मा को देखने का प्रयत्न करे। बिन्दुमय ब्रह्म का एक बार ध्यान करके वहीं मन को लगा दे।

ख मध्ये कुरु चात्मानं आत्ममध्ये च खं कुरु।
आत्मानं खंमयं दृष्ट्वा न किंचिदपि बाधते।
सदानन्दमयो भूत्वा समाधिस्थो भवेन्नरः।। 8।।

भौंहों के बीच अन्दर खाली स्थान में अर्थात् ब्रह्मलोकमय आकाश में अपने आत्मा को स्थापित करे और अपनी आत्मा में ब्रह्ममय आकाश को देखे। अपनी आत्मा में ब्रह्म की भावना आ जाने पर कोई बाधा नहीं रहती। इस प्रकार सदा आनन्द की अनुभूति करता हुआ साधक समाधि में लीन रहे।

नादयोग समाधि

साधनात् खेचरीमुद्रा रसनोर्ध्वगतं सदा।
तदा समाधिसिद्धिः स्याद् हित्वा साधारणक्रियाम्।।9।।

खेचरी मुद्रा का अभ्यास करने से जीभ तालु के ऊपर भौंहों के बीच अन्दर खाली स्थान में जाने लगती है। जब साधक सदा खेचरी मुद्रा में रहता है तब समाधि लग जाती है। इसलिये योगी और सभी क्रियाओं को छोड़कर खेचरी मुद्रा द्वारा नादयोग समाधि लगाये।

रसानन्द समाधि

अनिलं मन्दवेगेन भ्रामरी कुम्भकं चरेत्।
मन्दं विरेचयेत् वायुं भृङ्गनादं ततो भवेत्।। 10।।

प्राणवायु को हल्की गति से भरकर भ्रामरी कुम्भक करना चाहिये। भ्रामरी कुम्भक करने के बाद श्वास को धीरे-धीरे निकालने से कानों में भौरों की गुंजार सुनाई देने लगती है।

अन्तःस्थं भ्रामरीनादं श्रुत्वा तत्र मनो नयेत्।
समाधिर्जायते तत्र आनन्दः सोऽहमिति।। 11।।

कानों और शरीर के अन्दर उठने वाली भौरों की गुंजार में अर्थात् इस अनाहत नाद में मन लगा देना चाहिये। अनाहत नाद सुनने और उसमें मन लगाने का अभ्यास करने से समाधि लगने लगती है और इस समाधि के कारण जिस आनन्द की अनुभूति होती है उसमें 'वह ब्रह्म मैं ही हूं (सोऽहम्)' की प्रतीति होती है।

लयसिद्धि समाधि

योनिमुद्रां समासाद्य स्वयं शक्तिमयो भवेत्।
सुश्रृंगाररसेनैव विहरेत् परमात्मनि।। 12।।

आनन्दमयः सम्भूत्वा ऐक्यं ब्रह्मणि सम्भवेत्।
अहं ब्रह्मेति वाऽद्वैतं समाधिस्तेन जायते।। 13।।

योनिमुद्रा लगाकर अपने को शक्तिस्वरूप अर्थात् नारीस्वरूप मानकर श्रृंगार रस में मग्न होकर पुरुष अर्थात् परमात्मा के साथ विचरण करे। परमात्मा से मिलन की अनुभूति होने पर साधक स्वयं आनन्दस्वरूप हो जाता है और उसका ब्रह्म के साथ ऐक्य स्थापित हो जाता है। आत्मा और परमात्मा के ऐक्य की यह स्थिति आने पर साधक अनुभव करने लगता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ' (अहं ब्रह्म)। आत्मा-परमात्मा की एकता (ऐक्य) की या अद्वैत की इस अवस्था में साधक समाधि में लीन हो जाता है।

भक्तियोग समाधि

स्वकीय हृदये ध्यायेदिष्टदेवस्वरूपकम्।
चिन्तयेद् भक्तियोगेन परमाह्लादपूर्वकम्।। 14।।

आनन्दाश्रुपुलकेन दशाभावः प्रजायते।
समाधिः सम्भवेत् तेन सम्भवेच्च मनोन्मनी।। 15।।

अपने हृदय में इष्टदेव का ध्यान करके आनन्द में भरकर अपने इष्टदेव की भक्ति और चिन्तन करना चाहिये। इष्टदेव के ध्यान में मग्न हो जाने पर आनन्द के आंसू बहने लगते हैं और शरीर में रोमांच हो जाता है। इस बेसुधी की हालत में समाधि लग जाती है और मनोन्मनी अवस्था आ जाती है।

राजयोग समाधि

मनोमूर्च्छां समासाद्य मन आत्मनि नियोजयेत्।
परमात्मनः समायोगात् समाधिं समवाप्नुयात्।। 16।।

मनोमूर्च्छा अर्थात् षण्मुखी मुद्रा या मूर्च्छा प्राणायाम करके मन को आत्मतत्त्व में लगाना चाहिये। इस परमात्म तत्त्व या आत्मतत्त्व में मन एकाग्र हो जाने पर समाधि लग जाती है।

समाधियोगफलम्

इति ते कथितं चण्ड समाधिमुक्तिलक्षणम्।
राजयोगः समाधिः स्यादैकात्मन्येव साधनम्।।
उन्मनी सहजावस्था सर्वे चैकात्मवाचकाः।। 17।।

हे चण्डकापालि! मैंने तुम्हें समाधि के बारे में बता दिया। समाधि सिद्धि; मुक्ति का या मुक्त पुरुष का लक्षण अर्थात् पहिचान है। राजयोग या समाधि के द्वारा आत्मा-परमात्मा के बीच एकता या अद्वैत स्थापित हो जाता है। उन्मनी अवस्था, सहजावस्था, राजयोग आदि सभी शब्द आत्मा-परमात्मा की एकता या अद्वैत अवस्था के ही पर्यायवाची शब्द हैं।

जले विष्णुः स्थले विष्णुर्विष्णु पर्वतमस्तके।
ज्वालामालाकुले विष्णुः सर्वं विष्णुमयं जगत्।। 18।।

विष्णु अर्थात् पालन करने वाला सर्वव्यापी परमेश्वर, जल में, थल में, पर्वतों के शिखरों पर और अग्नि से व्याप्त स्थानों पर सभी जगह विराजमान है। यह सम्पूर्ण सृष्टि विष्णु से ओतप्रोत है।

भूचराः खेचराश्चामी यावन्तो जीवजन्तवः।
वृक्षगुल्मलता वल्लीतृणाद्या वारि पर्वताः।
सर्वं ब्रह्म विजानीयात् सर्वं पश्यति चात्मनि।। 19।।

इस सृष्टि में पृथ्वी और आकाश में विचरने वाले जितने भी जीव-जन्तु, पेड़, झाड़ी, बेल, वल्ली और तिनके आदि तथा पहाड़ और जल जो भी कुछ है वह सब ब्रह्ममय है अर्थात् सृष्टि के सारे पदार्थों में ब्रह्म व्याप्त है और ये सब वस्तुएं ब्रह्म का ही रूप हैं। इन सभी पशु पक्षियों आदि को हमें अपने जैसा ही समझना और देखना चाहिये।

आत्मा घटस्थचैतन्यमद्वैतं शाश्वतं परम्।
घटादि भिन्नतो ज्ञात्वा वीतरागो विवासनः।। 20।।

हमारे शरीर (घट) में रहने वाला आत्मा चैतन्य है, वह सदा रहता है और परमतत्त्व परमात्मा के साथ उसका अद्वैत सम्बन्ध है अर्थात् हमारा आत्मा; परमात्मा का ही अंश होने के कारण परमात्मा से अभिन्न है। अपने शरीर से आत्मा को अलग जान लेने पर योगी राग-द्वेष आदि बन्धनों से छूट जाता है और उसके मन की सभी वासनाएं नष्ट हो जाती हैं।

एवं विधिः समाधिः स्यात् सर्वसंकल्पवर्जितः।

स्वदेहे पुत्रदारादिबान्धवेषु धनादिषु।
सर्वेषु निर्ममो भूत्वा समाधिं समवाप्नुयात्।। 21।।

मन के सभी संकल्प-विकल्प और कामनाएं नष्ट हो जाने पर मन समाधि में मग्न हो जाता है। साधक को अपने शरीर, पुत्र, स्त्री, भाई-बन्धुओं, धन-सम्पत्ति आदि सभी सांसारिक पदार्थों के प्रति ममता की अर्थात् ये मेरे हैं, भावना छोड़ देनी चाहिये। मन की यह स्थिति आने पर समाधि सिद्ध हो जाती है।

तत्त्वं लयामृतं गोप्यं शिवोक्तं विधितानि च।
वाचां संक्षेपमादाय कथितं मुक्तिलक्षणम्।। 22।।

लयामृत तत्त्व गुप्त है। शिवजी ने इसे विधि सहित बताया था। उसी तत्त्व को मैंने संक्षेप में बताकर मुक्ति का लक्षण भी बता दिया।

इति ते कथितं चण्ड समाधिः दुर्लभः परः।
यज्ज्ञात्वा न पुनर्जन्म जायते भूमिमण्डले।। 23।।

हे चण्डकापालि! मैंने तुम्हें बड़ी कठिनाई से मिल सकने वाली समाधि की विधियां बता दीं। इन्हें जान लेने पर पृथ्वी पर योगी का पुनर्जन्म नहीं होता।

इति श्री घेरण्डसंहितायां घेरण्ड चण्डकापालिसम्वादे
समाधियोगो नाम सप्तमोपदेशः।

श्री घेरण्डसंहिता में महर्षि घेरण्ड और राजा चण्डकापालि की बातचीत में समाधियोग नाम का सातवां उपदेश समाप्त।

3

हठयोगप्रदीपिका
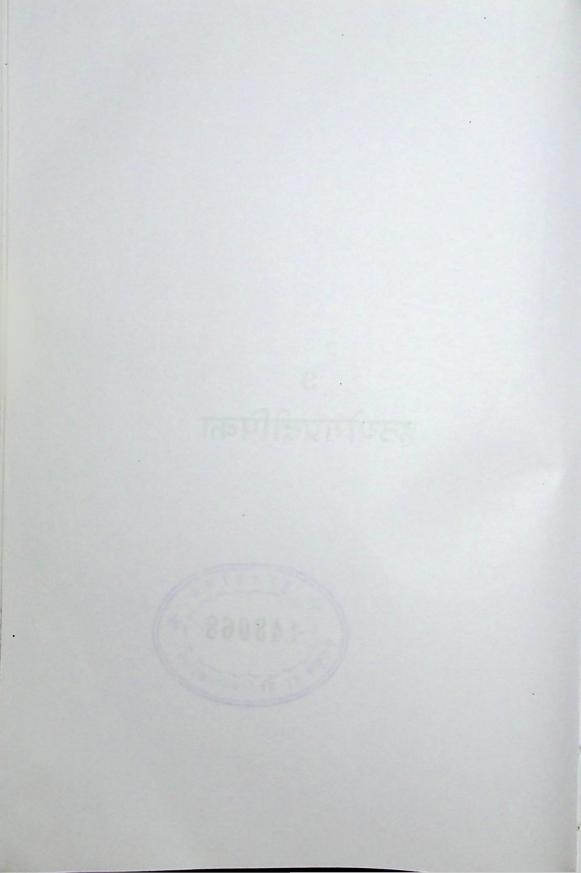
प्रथम उपेदश

आसन-प्रकरण

मंगलाचरण

श्री आदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या।
विभ्राजते प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव।। 1।।

हठयोग विद्या को सबसे पहिले बताने वाले भगवान शिव को मैं स्वात्माराम योगी प्रणाम करता हूँ। यह हठयोग विद्या; राजयोग अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि का लाभ पाने के लिये सीढ़ी जैसा उपाय है। जैसे किसी ऊँची जगह पर पहुँचने के लिये सीढ़ी की आवश्यकता होती है उसी प्रकार अष्टांग योग के अन्तिम लक्ष्य समाधि तक पहुंचने के लिये हठयोग विद्या प्रमुख साधन है। हठयोग विद्या में 'ह' का अर्थ सूर्य और 'ठ' का अर्थ चन्द्र है। सिद्धसिद्धान्तपद्धति में गोरक्षनाथ जी ने भी कहा है कि -

हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगाद् हठयोगो निगद्यते।।

अर्थात् 'ह' को सूर्य और 'ठ' को चन्द्र कहा जाता है। सूर्य और चन्द्रमा का योग हठयोग कहलाता है।

हमारी नाक का दायां स्वर सूर्य स्वर और बायां स्वर चन्द्र स्वर कहलाता है। योगशास्त्र के अनुसार सूर्य स्वर में पिंगला नाड़ी है और चन्द्र स्वर में इडा नाड़ी। पिंगला नाड़ी में प्राण वायु और इडा नाड़ी में अपान वायु रहता है। हठयोग में प्राण और अपान इन दो प्रारण वायुओं को आपस में मिलाना ही योग कहलाता है। प्राण और अपान वायु को प्राणायाम के अभ्यास से मिलाया जाता है। योग का अन्तिम लक्ष्य मन में निरन्तर उठते रहने वाले तरह तरह के विचारों को

रोककर मन को परमात्मचिन्तन में लगाना है। मन एकाग्र करने के लिये प्राणायाम का अभ्यास बहुत उपयोगी और सहायक है। मन की एकाग्रता जितनी बढ़ती जायगी समाधि लगाने में उतनी ही सफलता मिलती जायेगी। समाधि में बैठने का अभ्यास बढ़ने पर ऐसी अवस्था आ जाती है जब साधक के मन में कोई भी सांसारिक बात, इच्छा या चिन्ता आदि नहीं रहती और साधक का मन परम तत्त्व परमात्मा के चिन्तन में लीन हो जाता है। इसी को राजयोग कहा जाता है। महाकाल योगशास्त्र के अनुसार शिव जी ने पार्वती को सबसे पहिले योगविद्या का उपदेश दिया था।

गुरु स्तुति

प्रणम्य श्री गुरुं नाथं स्वात्मारामेण योगिना।
केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते।। 2।।

मैं स्वात्माराम योगी अपने गुरुदेव श्री गुरुनाथ को आदर और भक्ति सहित प्रणाम करके केवल राजयोग के लिये हठविद्या का उपदेश दे रहा हूँ।

हठयोग का उद्देश्य राजयोग अर्थात् समाधि के द्वारा मोक्ष प्राप्ति है न कि अणिमा आदि सिद्धियों की प्राप्ति। अणिमा, महिमा आदि सिद्धियां तो योगमार्ग में स्वयं मिल जाती हैं और अधिकांश योगी ये सिद्धियां पाकर अपने अन्तिम लक्ष्य से भटक जाते हैं। इसलिये ये सिद्धियां वास्तव में योगमार्ग की विघ्न-बाधाएं ही हैं। परमार्थ का सच्चा जिज्ञासु इन सिद्धियों से आकृष्ट होकर अपना लक्ष्य नहीं भुला देता।

भ्रान्त्या बहुमतध्वान्ते राजयोगमजानताम्।
हठयोगप्रदीपिकां धत्ते स्वात्मारामः कृपाकरः।। 3।।

मन्त्रयोग, सगुण ध्यान, निर्गुण ध्यान और अनेक मुद्राओं के अभ्यास से राजयोग की सिद्धि हो जाती है। इस तरह के अनेक मत-मतान्तरों के अंधेरे में साधकों के मन में तरह तरह के भ्रम पैदा हो जाते हैं।

इसलिये राजयोग को न जानने वालों के लिये दया के सागर स्वात्माराम योगी ने हठयोगप्रदीपिका ग्रन्थ लिखा है।

ज्ञान की सात भूमियां

स्वात्माराम शब्द से स्पष्ट होता है कि हठयोग प्रदीपिका के रचयिता

स्वात्माराम योगी ज्ञान की अन्तिम और सातवीं भूमि या स्तर तक पहुंचे हुए ब्रह्मविद् वरिष्ठ श्रेणी के बहुत ऊँचे योगी थे। योगवासिष्ठ ग्रन्थ के अनुसार ज्ञान की सात भूमियां निम्नलिखित हैं -

ज्ञानभूमि शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता।
विचारणा द्वितीया स्यात्तृतीया तनुमानसा।।
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थीस्यात्ततोऽसंसक्ति नामिका।।
परार्थभाविनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता।।

शुभेच्छा - योग की सात ज्ञान भूमियों में से प्रथम शुभेच्छा कहलाती है। ज्ञानभूमि की इस अवस्था में मन में विवेक, वैराग्य और शम-दम आदि से मोक्ष के लिये तीव्र इच्छा उत्पन्न होती है।

विचारणा - जब श्रवण, मनन आदि के अभ्यास से मन परम तत्त्व का विचार करने लगता है तब योगी का मन 'विचारणा' नाम की योग की दूसरी ज्ञान भूमि में पहुंच जाता है।

तनुमानसा - मन में सदैव तरह-तरह के विचार या वृत्तियां उठती रहती हैं किन्तु मन एकाग्र करने के परिणामस्वरूप मन एकमात्र परमतत्त्व में ही लगने लगता है। तब योगी तीसरी ज्ञानभूमि तनुमानसा में पहुंचता है। ज्ञान भूमि की यह अवस्था निदिध्यासन अर्थात् ध्यान के अभ्यास से उत्पन्न होती है।

ज्ञान की ये तीन भूमियां 'साधन भूमि' कहलाती हैं। इनमें स्थित योगी साधक कहलाता है।

सत्त्वापत्ति - इन तीन ज्ञान भूमियों के कारण साधक का मन सात्विक वृत्तियों से युक्त हो जाता है और तब शुद्ध सात्विक अन्तःकरण में 'मैं ही ब्रह्म हूँ' (अहं ब्रह्माऽस्मि) की भावना वाली प्रत्यक्ष वृत्ति उत्पन्न होती है जो **सत्त्वापत्ति भूमि** कहलाती है। यह चौथी ज्ञानभूमि **'फलभूमि'** है और ज्ञान के इस स्तर पर स्थित योगी **'ब्रह्मवित्'** कहलाता है क्योंकि उसे ब्रह्म का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। यह सम्प्रज्ञात योग भूमि है। अगली तीन ज्ञान भूमियां, असम्प्रज्ञात योग भूमियां हैं। सत्त्वापत्ति भूमि में पहुंचे योगी को सिद्धियां प्राप्त हो जाती हैं।

असंसक्ति - किन्तु सिद्धियों में न फंसने वाला योगी इन सिद्धियों को

लांघकर ज्ञान की पांचवी भूमि '**असंसक्ति**' में पहुंच जाता है। इस भूमि को प्राप्त योगी समाधि से स्वयं ही उठ सकता है। इस स्थिति को प्राप्त योगी '**ब्रह्मविद्वर**' कहलाता है। इस अवस्था के आने पर योगी का मन परब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी विषय में नहीं लगता।

परार्थभाविनी - ज्ञान भूमि की छठी अवस्था, '**परार्थभाविनी**' कहलाती है। इस स्थिति को प्राप्त योगी किसी दूसरे व्यक्ति के जगाने पर ही समाधि से बाहर आ पाता है। इस ज्ञानभूमि में पहुंचा योगी **ब्रह्मविद् वरीयान्** कहलाता है।

तुर्यगा - ज्ञान की सातवीं भूमि '**तुर्यगा**' कहलाती है। इसमें पहुंचा योगी न तो स्वयं समाधि भंग कर सकता है और न ही कोई अन्य व्यक्ति उसे समाधि से बाहर ला सकता है। इस ज्ञानभूमि को प्राप्त योगी '**ब्रह्मविद् वरिष्ठ**' अर्थात् सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी कहलाता है। यह योगी जीवन्मुक्त हो जाता है। श्रुति में इस स्थिति का वर्णन इन शब्दों में है -

आत्मक्रीड आत्मरतिरेव ब्रह्मविदां वरिष्ठः।

जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त योगी अपने में ही सन्तुष्ट रहता है। उसे किसी से राग या द्वेष नहीं होता।

गीता में इस स्थिति का वर्णन इन शब्दों में है-

आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।। गीता 2/55

महोपनिषद् (5/24-25) में इन सात ज्ञान भूमियों का वर्णन है।

जीवन्मुक्त अवस्था में योगी को और ज्ञानी पुरुष को जाग्रत अवस्था; स्वप्न जैसी लगती है।

महोपनिषद् के अनुसार जीवन्मुक्त का लक्षण इस प्रकार है:

तपः प्रभृतिना यस्मै हेतुनैव विना पुनः।
भोगा इह न रोचन्ते स जीवन्मुक्त उच्यते।। म० उ० 2/42

तपस्या आदि के कारण या किसी अन्य कारण के बिना भी जिस व्यक्ति को संसार के भोग-विषय अच्छे नहीं लगते वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

जीवन्मुक्त योगी के सभी क्लेश दग्ध-बीजवत् हो जाते हैं। इस अवस्था

में दु:ख के उपस्थित होने पर भी योगी दु:ख को लांघकर विवेक दर्शन में चित्त को लगा सकता है अत: उसे दु:ख छूता भी नहीं अतएव वह जीते हुए भी दु:ख से मुक्त होता है। पातंजलयोग के अनुसार:-

जीवन्नेव विद्वान् विमुक्तो भवति ।। पा० यो० 4/20

अर्थात् ज्ञानी जीवन्मुक्त पुरुष जीवित अवस्था में ही मुक्त हो जाता है।

गीता में जीवन्मुक्त योगी की अवस्था का वर्णन इन शब्दों में किया गया है –

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।।6/22।।

जीवन्मुक्त योगी; पुरुष और बुद्धि के बीच भेद को जान लेने पर इस विवेकज्ञान के आगे किसी और बात को अधिक लाभदायक नहीं मानता। इस अवस्था को प्राप्त योगी बड़े से बड़े दु:ख में भी विचलित नहीं होता।

तैत्तरीय उपनिषद् 2/4/1 के अनुसार

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।

ब्रह्मज्ञान का आनन्द अनुभव कर जीवन्मुक्त व्यक्ति को कोई भी डर नहीं सताता।

बृहदारण्यक उपनिषद् 4/4/12 के अनुसार

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसञ्ज्वरेत्।।

यदि पुरुष; अपने विवेकज्ञान से आत्मा के बारे में 'यह जान ले कि मैं यह हूँ' तो फिर वह क्या इच्छा करता हुआ और किस कामना से शरीर के पीछे दु:खी होता फिरे।

ज्ञान की इस सातवीं भूमि को प्राप्त योगी स्वात्माराम कहलाता है। श्रुति में इस स्थिति का वर्णन का प्रकार है –

पूर्वमयमेव जीवन्मुक्त इत्युच्यते।
स एवाऽत्र स्वात्माराम पदेनोक्तः।।

हठयोग के आचार्य

हठविद्यां हि मत्स्येन्द्र गोरक्षाद्या विजानते।
स्वात्मारामोऽथवा योगी जानीते तत्प्रसादतः।।4।।

मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ आदि योगी हठविद्या को जानते हैं। इन्हीं की कृपा से स्वात्माराम योगी ने हठयोग सीखा है।

भारत के प्राचीन योगशास्त्र को जानने वाले और इसका अभ्यास करने वाले जो प्रमुख योगी हुए हैं उनमें जालन्धर नाथ, भर्तृहरि, गोपीचन्द्र और घेरण्ड भी हैं।

भारत की परम्परागत योग विद्या कितनी प्राचीन है इस बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। सांख्य और योग विद्या बहुत प्राचीन है ऐसा महाभारत में कहा है:-

सांख्यं च योगं च द्वे सनातने।। शान्ति पर्व 349/73)

कभी सांख्य और योगशास्त्र के विशद विवेचनात्मक प्राचीन ग्रन्थ थे जो बाद में संक्षिप्त किये गये।

देवल के अनुसार **एतौ सांख्ययोगौ चाधिकृत्य यैर्युक्तितः समयतश्च पूर्वप्रणीतानि विशालानि गम्भीराणि तन्त्राणीह संक्षिप्य उद्देशतो वक्ष्यन्ते।।** (याज्ञवल्क्य स्मृति 3/109)

हिरण्यगर्भो योगस्य वेत्ता नान्यः पुरातनः। शान्ति 349/65

महाभारत के इस उद्धरण से पता चलता है कि योगविद्या के आदि वक्ता हिरण्यगर्भ देव हैं। यह कहा जा सकता है कि हिरण्यगर्भ शब्द कपिल ऋषि के लिये प्रयुक्त हुआ है। कपिल मुनि आदि विद्वान् और प्रथम दर्शनकार हैं।

ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभति।। श्वेताश्वतर उपनिषद्।5/2।। जो पहिले उत्पन्न हुए कपिल मुनि को (हिरण्यगर्भ को) ज्ञान से भर देता है।

पञ्चशिखाचार्य के अनुसार

आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद्
भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच।।

आदि विद्वान् (पहिले दर्शनकार) भगवान परम ऋषि कपिल ने निर्माण

चित्त (योगी संकल्पबल से सांसारिक संस्कारों से रहित चित्त या शरीर बना सकते हैं) के अधिष्ठाता होकर जिज्ञासा करते हुए आसुरि को दया भाव से सांख्य शास्त्र का उपदेश दिया।

आसुरि के शिष्य पञ्चशिख थे। महर्षि पंचशिख ने जिस योग दर्शन की रचना की थी वह अब लुप्त हो चुका है। पातंजल योग दर्शन के व्यास भाष्य में कहीं कहीं पर पंचशिखाचार्य के कुछ उद्धरण बच रहे हैं। महाभारत के शान्तिपर्व (218/11) में पंचशिख को 'पंचस्त्रोतसि निष्णातः' भी कहा गया है क्योंकि वे पांच स्त्रोतों अर्थात् पांच इन्द्रियों वाले मन के व्यापार में कुशल थे।

योग के आदि आचार्य हिरण्यगर्भ के हिरण्यगर्भ सूत्रों के आधार पर पतंजलि मुनि ने योग दर्शन का निर्माण किया। हिरण्यगर्भ सूत्र इस समय लुप्त हैं।

जहाँ तक हठयोग का प्रश्न है प्राचीन परम्परा के अनुसार हठविद्या सबसे पहिले शिवजी ने पार्वती को बताई थी। यह भी किवंदन्ती है कि जब किसी द्वीप में शिवजी या आदिनाथ; पार्वती को योग विद्या बता रहे थे तब किसी मछली ने यह उपदेश सुन लिया। यह दिव्य ज्ञान सुनकर उस मछली का शरीर दिव्य बन गया और इस प्रकार मत्स्येन्द्र नाथ योगी ने हठविद्या का प्रचार किया। शाबर नाथ, मीननाथ, गोरक्षनाथ, विरूपाक्ष, बिलेशय, मंथान भैरव, कंथडी, कोरण्टक आदि अनेक योगी हठयोगी थे। इनमें मत्स्येन्द्र नाथ, गोरक्षनाथ, स्वात्माराम, भर्तृहरि आदि प्रमुख हैं। गोरक्षनाथ ने गोरक्षपद्धति की रचना की। गोरक्षनाथ-से हठयोग सीख कर स्वात्माराम योगी ने हठयोग प्रदीपिका की रचना की।

श्री आदिनाथ मत्स्येन्द्र शाबरानन्द भैरवाः।
चौरङ्गी मीनगोरक्ष विरूपाक्ष बिलेशयाः।। 5।।

मंथानो भैरवो योगी सिद्धिर्बुधश्च कंथडिः।
कोरण्टकः सुरानन्दः सिद्धिपादश्च चर्पटिः।। 6।।

कानेरी पूज्यपादश्च नित्यनाथो निरञ्जनः।
कपाली बिन्दुनाथश्च काकचण्डीश्वराह्वयः।। 7।।

अल्लामः प्रभुदेवश्च घोडाचोली च टिंटिणी।
भानुकी नारदेवश्च खण्डकापालिकस्तथा।। 8।।

इत्यादयो महासिद्धा हठयोग प्रभावतः।
खण्डयित्वा कालदण्डं ब्रह्माण्डे विचरन्ति ते।।9।।

श्री आदिनाथ अर्थात् शिवजी ने हठयोग विद्या का सबसे पहिले उपदेश दिया। श्री आदिनाथ से ही नाथ सम्प्रदाय चला। श्री आदिनाथ से मत्स्येन्द्रनाथ ने हठयोग सीखा। शाबरनाथ, आनन्दभैरव, चौरङ्गी, मीननाथ, गोरक्षनाथ, विरूपाक्ष, बिलेशय, मंथान भैरव, सिद्धि, बुध, कन्थडि, कोरण्टक, सुरानन्द, सिद्धिपाद, चर्पटि, कानेरी, पूज्यपाद, नित्यनाथ, निरंजन, कपाली, बिन्दुनाथ, काकचण्डीश्वर, अल्लाम, प्रभुदेव, घोडाचोली, टिण्टिणी, भानुकी, नारदेव, खण्डकापालिक, और तारानाथ आदि योगी हठयोग के प्रभाव से महासिद्ध होकर मृत्यु (कालदण्ड) को जीतकर इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में विचरते हैं।

हठयोग का मुख्य लक्ष्य प्राण निरोध के द्वारा मन का निरोध है। हठयोग में स्थूल शरीर के द्वारा सूक्ष्म शरीर को प्रभावित कर चित्तवृत्ति-निरोध की क्रियाओं का अभ्यास किया जाता है। जब प्राणवायु की गति नाक से 12 अंगुल दूर तक बिल्कुल बन्द हो जाये और नाक के दोनों स्वर सम होकर सुषुम्ना में चलने लगें तो यह अवस्था 'हठ' कहलाती है - **'प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तर चारिणौ'** (गीता 5/27)।

सभी योगों का आधार हठयोग

अशेषतापतप्तानां समाश्रयमठो हठः।
अशेषयोगयुक्तानामाधारकमठो हठः।।10।।

आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीन प्रकार के दुःखों से परेशान संसार के सभी लोगों का सहारा हठयोग है।

मन्त्रयोग, कर्म योग आदि सभी तरह के योगों का अभ्यास करने वालों का भी आधार हठयोग है। आध्यात्मिक ताप दो प्रकार का होता है - शारीरिक और मानसिक। शरीर में रोगों से उत्पन्न दुःख शारीरिक ताप और काम, क्रोध आदि मानसिक क्षोभों से उत्पन्न दुःख मानसिक ताप कहलाता है। हिंसक पशु-पक्षियों आदि से उत्पन्न पीड़ा आधिभौतिक दुःख होता है। ग्रह - नक्षत्रों आदि से या दैवकृत अथवा भाग्य में लिखा दुःख आधिदैविक होता है।

जैसे सारे संसार का आधार कछुआ कहा जाता है उसी प्रकार सभी प्रकार के योगों का आधार हठयोग है।

हठविद्या परं गोप्या योगिना सिद्धिमिच्छता।
भवेद् वीर्यवती गुप्ता निर्वीया तु प्रकाशिता।। 11।।

सिद्धि प्राप्त करने के इच्छुक योगी को हठविद्या में अपनी प्रगति को गुप्त रखना चाहिये। यदि योगी हठविद्या में अपनी प्रगति को गुप्त रखेगा तो वह शक्ति सम्पन्न होकर योगमार्ग में आगे बढ़ता जायेगा। यदि योगी अपनी प्रारम्भिक सफलताओं का ढिंढोरा पीटने लगेगा तो अनावश्यक और अनुचित घमण्ड तथा अहंकार के कारण योगमार्ग में उसकी प्रगति रुक जायेगी।

योग का अधिकारी - योग विद्या कैसे व्यक्ति को सिखानी चाहिये इस बारे में योगशास्त्र के ग्रन्थों में विस्तृत निर्देश दिये गये हैं।

याज्ञवल्क्य के निर्देशों के अनुसार जितेन्द्रिय, शान्त स्वभाव और बुरी आदतों से रहित व्यक्ति को योगविद्या सिखानी चाहिये। जिसका मन भोग विषयों में न फंसा हो, जो मोक्ष पाना चाहता हो, जो आज्ञाकारी हो, कामनाओं और संकल्पों से रहित हो, यम-नियम का पालन करता हो, सभी तरह के सम्बन्धों से अलग हो, विद्वान हो, क्रोधी न हो, सत्यवादी हो, गुरु की सेवा करने वाला हो, माता-पिता का सम्मान और सेवा करता हो, अपने गृहस्थ आदि आश्रम के कर्तव्यों का पालन करता हो, सदाचारी हो, कामवासना और अच्छे भोजन के प्रति विरक्त हो, ढोंग के लिये सन्यासी का वेश न धर लिया हो, ऐसा व्यक्ति योग विद्या सीखने का अधिकारी होता है।

योगचिन्तामणि के लेखक ने यह भी कहा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, स्त्री और शूद्र भी योग-सीख सकते हैं, क्योंकि योगाभ्यास से मन पवित्र और शान्त होता है तथा मुक्ति पाने के लिये योग से बढ़कर और कोई उपाय या साधन नहीं है। इसलिये प्रत्येक प्राणी को योग सीखने का अधिकार है। किन्तु सच्चे वैरागी व्यक्ति को ही मोक्ष मिलता है। इसीलिये योग दर्शन में कहा गया है कि संसार में जितनी वस्तुएं दिखाई देती हैं या जिन वस्तुओं और विषय-भोगों के बारे में बातें सुनी जाती हैं उन सबसे जिस व्यक्ति के मन में उदासीनता और विरक्ति आ जाती है वही व्यक्ति वास्तव में वैरागी या विरक्त होता है। शंकराचार्य

के शिष्य सुरेश्वराचार्य ने भी कहा है कि जो व्यक्ति इस संसार के और परलोक के विषय भोगों के प्रति उदासीन हो और संसार से अलग होना चाहता हो और जिसमें योग सीखने की इच्छा हो वही योग विद्या का अधिकारी होता है। अनुभवी वृद्ध पुरुषों का भी यही कहना है कि योग विद्या दुष्ट और क्रोधी व्यक्ति को नहीं देनी चाहिये क्योंकि भली भांति गुप्त रखा हुआ योग सफल होता है। अनुचित व्यक्ति को योग का ज्ञान देते ही क्रोधी व्यक्ति की वाणी योग विद्या को तत्काल नष्ट कर देती है।

योगाभ्यास के लिये अनुकूल स्थान

सुराज्ये धार्मिके देशे सुभिक्षे निरुपद्रवे।
धनुः प्रमाणपर्यन्तं शिलाग्निजलवर्जिते।
एकान्ते मठिकामध्ये स्थातव्यं हठयोगिना।। 12।।

हठयोग के अभ्यासी को अच्छे और धार्मिक राजा के ऐसे स्थान में रहना चाहिये जहाँ किसी तरह की अशान्ति, चोरी या झगड़ा न हो और भिक्षा आसानी से मिल जाती हो। ऐसे देश में उस जगह कुटिया बनानी चाहिये जहाँ पत्थर, आग और पानी (सीलन) न हो। कुटिया के लिये चार हाथ स्थान पर्याप्त है। कुटिया एकान्त स्थान में होनी चाहिये।

अल्पद्वारमरन्ध्रगर्तविवरं नात्युच्चनीचायतं।
सम्यग्गोमयसान्द्रलिप्तममलं निःशेषजन्तूज्झितम्।
बाह्ये मण्डप वेदिकूपरुचिरं प्राकारसंवेष्टितम्।
प्रोक्तं योगमठस्यलक्षणमिदं सिद्धै र्हठाभ्यासिभिः।। 13।।

हठयोग का अभ्यास करने वालों ने और सिद्ध योगियों ने योगाभ्यास करने के लिये जैसे मठ या कुटिया के लक्षण बताये हैं उनके अनुसार कुटिया का दरवाजा छोटा होना चाहिये। कुटिया में कोई छेद, खिड़की, गड्ढा या बिल नहीं होना चाहिये। कुटिया बहुत ऊँची या बहुत नीची जगह पर नहीं होनी चाहिये। इसे गाय के गोबर से अच्छी तरह लीपना चाहिये। कुटिया में कूड़ा-कर्कट और मक्खी, मच्छर आदि जीव जन्तु नहीं होने चाहियें। कुटिया के बाहर कुआं, वेदी और मण्डप तथा चार दीवारी होनी चाहिये। कुटिया बहुत चौड़ी भी नहीं होनी चाहिये।

एवंविधे मठे स्थित्वा सर्वचिन्ताविवर्जितः।
गुरूपदिष्टमार्गेण योगमेव समभ्यसेत्।। 14।।

ऐसी कुटिया में रहकर और सारी चिन्ताएं छोड़कर गुरु के बताये उपाय से योगाभ्यास करना चाहिये।

योगाभ्यास के शत्रु

अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमग्रहः।
जनसंगश्च लौल्यं च षड्भिर्योगो विनश्यति।। 15।।

बहुत खाना, अत्यधिक परिश्रम, बहुत बोलना, व्रत आदि बार-बार रखना, भीड़-भाड़ वाले स्थानों में जाना और लालच करना इन छह बातों से योग में सफलता नहीं मिलती। योगाभ्यास के शुरू में सवेरे ठण्डे पानी से स्नान, रात में भोजन न करना, फलाहार आदि नियमों का पालन आवश्यक नहीं है।

योग के सहायक

उत्साहात् साहसात् धैर्यात् तत्त्वज्ञानाच्च निश्चयात्।
जनसंगपरित्यागात् षड्भिर्योगः प्रसिद्ध्यति।। 16।।

उत्साह, साहस, धैर्य, तत्त्वज्ञान, निश्चय और एकान्त इन छह बातों से योग में सफलता मिलती है।

यम-नियम

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्य क्षमा धृतिः।
दयार्जवं मिताहारः शौचं चैव यमा दश।। 1।।

तपः सन्तोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम्।
सिद्धान्तवाक्यश्रवणं ह्री मती च तपो हुतम्।। 2।।

नियमा दश संप्रोक्ता योगशास्त्रविशारदैः।

अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य का पालन, सरलता, क्षमा, धैर्य, दया, अल्पाहार और शरीर तथा मन की पवित्रता इन दस बातों का पालन करना यम कहलाता है।

तपस्या, सन्तोष, ईश्वर में विश्वास, दान देना, भगवान की आराधना, शास्त्रों की बातों पर ध्यान देना, लज्जा, बुद्धिमानी, तप और यज्ञ ये दस बातें योग के जानकारों ने नियम बताई हैं।

उपरोक्त दोनों श्लोक हठ योग प्रदीपिका में प्रक्षिप्त हैं। इसलिये हठयोग प्रदीपिका की 'ज्योत्सना' संस्कृतटीका के टीकाकार श्री ब्रह्मानन्द ने इन श्लोकों की व्याख्या नहीं की। उन्होंने **सुराज्ये धार्मिके देशे** इस बारहवें श्लोक में यह बात स्पष्ट कही भी है कि हठयोग प्रदीपिका में प्रक्षिप्त श्लोकों की व्याख्या नहीं की जायेगी।

आसन

हठस्य प्रथमाङ्गत्वादासनं पूर्वमुच्यते।
कुर्यात्तदासनं स्थैर्यमारोग्यं चाङ्गलाघवम्।। 17।।

हठयोग का पहिला अंग आसन है, इसलिये सबसे पहिले आसन बताये जाते हैं। आसनों का नियमित अभ्यास करने से मन और शरीर इधर-उधर नहीं हिलता, साधक का शरीर नीरोग हो जाता है और उसे हल्कापन अनुभव होता है। आसनों से शरीर में तमोगुण की कमी होने के कारण हल्कापन अनुभव होने लगता है।

वसिष्ठाद्यैश्च मुनिभिर्मत्स्येन्द्राद्यैश्च योगिभिः।
अङ्गीकृतान्यासनानि कथ्यन्ते कानिचिन्मया।। 18।।

वसिष्ठ आदि मुनियों ने और मत्स्येन्द्र नाथ आदि योगियों ने जिन आसनों का नियमित अभ्यास किया है उनमें से कुछ आसन मैं बता रहा हूँ।

स्वस्तिकासन

जानूर्वोरन्तरे सम्यक् कृत्वा पादतले उभे।
ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत् प्रचक्षते।। 19।।

जांघों और घुटनों के पास पैरों के तलुए लगाकर और कमर सीधी रखकर बैठने से स्वस्तिकासन होता है। साधारण रूप से यह आसन पालथी मारकर बैठना भी कहलाता है।

गोमुखासन

सव्ये दक्षिण गुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत्।
दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुखं गोमुखाकृतिः।। 20।।

बायीं जांघ पर दायें पैर की एड़ी लाकर एड़ी को पीठ के पास लगाकर और दायीं जांघ के ऊपर से बायीं एड़ी को पीठ के पास लगाकर बैठने से मुड़े हुए दोनों घुटने गाय के मुंह जैसे दीखने लगते हैं। इसलिये यह आसन गोमुखासन कहा जाता है।

इस श्लोक में गोमुखासन की पूरी विधि स्पष्ट नहीं है। प्रचलित विधि के अनुसार दायां पैर बायीं जांघ पर रखा जाता है। बायां पैर मोड़कर योनिस्थान के नीचे रखना चाहिये। इस तरह सीधे बैठने से दोनों घुटने पास आ जाते हैं और गाय के मुंह जैसे दीखने लगते हैं। अब दायां हाथ पीठ के पीछे ले जाकर बायें कन्धे की ओर उठाना चाहिये और बायां हाथ मोड़कर बायें कन्धे के पीछे ले जाकर दोनों हाथों की अंगुलियां आपस में फंसा लेनी चाहियें। गर्दन उठाकर बांयी कोहनी का सिरा देखते रहना चाहिये। इसी तरह बायें हाथ को पीठ के पीछे ले जाकर दायें हाथ की अंगुलियां पकड़नी चाहियें और दायीं कोहनी का सिरा देखते रहना चाहिये।

गोमुखासन के नियमित अभ्यास से कन्धों और गर्दन का दर्द दूर हो जाता है। जकड़े हुए कन्धे खुल जाते हैं। कम्प्यूटर पर देर तक काम करने वालों को यह आसन करना चाहिये। गोमुखासन दिन में किसी भी समय कुर्सी पर बैठे-बैठे भी किया जा सकता है।

वीरासन

एकं पादं तथैकस्मिन् विन्यसेदुरुणि स्थितम्।
इतरस्मिंस्तथा चोरुं वीरासनमितीरितम्।। 21।।

एक पैर को दूसरे पैर की जांघ पर रखकर और दूसरे पैर को पहिले पैर की जांघ पर रखने से वीरासन होता है।

इन दिनों प्रचलित विधि के अनुसार वीरासन; पहिले वज्रासन में बैठकर फिर दोनों जांघों को लगभग अठारह इंच तक फैलाकर, अपने नितम्ब भूमि से लगाकर और सीधे बैठकर किया जाता है। इस स्थिति में पैरों के तलुए और एड़ियां ऊपर आकाश की ओर रहनी चाहियें।

कूर्मासन

गुदं निरुद्ध्य गुल्फाभ्यां व्युत्क्रमेण समाहितः।
कूर्मासनं भवेदेतदिति योगविदो विदुः।। 22।।

पैर मोड़कर दोनों एड़ियां गुदा के नीचे लगाकर बैठने से कूर्मासन होता है।

कूमसिन की प्रचलित विधि यही है कि पहिले बद्धकोणासन में बैठकर दोनों हाथ; पैरों और जांघों के बीच से निकालकर हाथों से पैरों के अंगूठे पकड़ने चाहियें। फिर सिर को झुकाकर और पैरों से लगाकर थोड़ी देर तक बैठे रहना चाहिये।

कुक्कुटासन

पद्मासनं तु संस्थाप्य जानूर्वोरन्तरे करौ।
निवेश्य भूमौ संस्थाप्य व्योमस्थं कुक्कुटासनम्।। 23।।

पद्मासन लगाकर दोनों हाथों को जांघों और घुटनों के बीच से निकालकर दोनों हाथ जमीन पर रखकर सारा शरीर उठाकर कुक्कुटसन किया जाता है।

उत्तानकूर्मासन

कुक्कुटासनबन्धस्थो दोर्भ्यां सम्बध्य कन्धराम्।
भवेत् कुर्मवदुत्तान एतदुत्तान कूर्मकम्।। 24।।

कुक्कुटसन लगाकर हाथों से कंन्धों या गर्दन को पकड़ने से उत्तानकूर्मासन होता है।

धनुरासन

पादांगुष्ठौ तु पाणिभ्यां गृहीत्वा श्रवणावधि।
धनुराकर्षणं कुर्यात् धनुरासनमुच्यते।। 25।।

पेट के बल लेटकर दोनों हाथों से पैरों के अंगूठे पकड़कर कान तक लाने चाहियें। पैर के अंगूठे कान तक लाने के लिये कमर धनुष की तरह मुड़ जाती है और सारे शरीर का भार पेट पर आ जाता है।

मत्स्येन्द्रासन

वामोरुमूलार्पितदक्षपादं जानोर्बहिर्वेष्टितवामपादम्।
प्रगृह्य तिष्ठेत् परिवर्तितांगः श्रीमत्स्यनाथोदितमासनं स्यात्।।26।।

बायीं जांघ की जड़ (मूल) पर दाहिना पैर रख कर और बायें हाथ को दायें पैर के घुटने के ऊपर से लाकर बायें पैर को पकड़ना चाहिये। दायां हाथ पीठ के पीछे ले जाकर और शरीर दायीं ओर मोड़कर दायें हाथ से बायें पैर का अंगूठा पकड़कर बैठने से मत्स्येन्द्रासन होता है।

मत्स्येन्द्रपीठं जठरप्रदीप्तिं प्रचण्डरुगमण्डल खण्डनास्त्रम्।
अभ्यासतः कुण्डलिनी प्रबोधं चन्द्रस्थिरत्वं च ददाति पुंसाम्।।27।।

मत्स्येन्द्रासन के अभ्यास से जठराग्नि (भूख) बढ़ती हैं। शरीर के सारे रोग नष्ट हो जाते हैं। कुण्डलिनी शक्ति को जगाने में सहायता मिलती है। यह आसन ब्रह्मरन्ध्र से तालु के ऊपर टपकने वाले अमृत रस को नाभि में गिरकर नष्ट होने से रोकता है।

पश्चिमोत्तानासन

प्रसार्य पादौ भुवि दण्डरूपौ दोर्भ्यां पदाग्रद्वितयं गृहीत्वा।
जानूपरि न्यस्तललाटदेशो वसेदिदं पश्चिमतानमाहुः।।28।।

दोनों पैर भूमि पर सीधे फैलाकर, हाथों से दोनों पैरों के अंगूठे पकड़कर और माथा घुटनों से लगाकर बैठने से पश्चिमोत्तान आसन किया जाता है।

इति पश्चिमतानमासनाग्र्यं पवनं पश्चिमवाहिनं करोति।
उदयं जठरानलस्य कुर्यादुदरे कार्श्यमरोगतां च पुंसाम्।।29।।

पश्चिमोत्तान आसन सभी आसनों से श्रेष्ठ है। इसके अभ्यास से प्राणवायु; सुषुम्ना नाड़ी में चलने लगता है। जठराग्नि (भूख) बढ़ जाती है, तोंद घट जाती है और शरीर नीरोग हो जाता है।

मयूरासन

धरामवष्टभ्य करद्वयेन तत्कूर्परस्थापित नाभिपार्श्वः।
उच्चासनो दण्डवदुत्थितः स्यान्मायूरमेतत् प्रवदन्ति पीठम्।।30।।

दोनों हाथेलियां जमीन पर रखकर और कोहनियों को नाभि से लगाकर सारा शरीर उठाकर तथा दोनों पैर सीधे करके मयूरासन किया जाता है। मयूरासन में शरीर का सारा भार हाथों पर आ जाता है और कुहनियों से नाभि और इसके आसपास दबाव पड़ता है।

हरति सकलरोगानाशु गुल्मोदरादी-
नभिभवति च दोषानासनं श्रीमयूरम्।
बहुकदशनभुक्तं भस्म कुर्यादशेषं-
जनयति जठराग्निं जारयेत् कालकूटम्।। 31।।

मयूरासन के अभ्यास से पेट की गांठ, जलोदर और जिगर-तिल्ली आदि पेट के सारे रोग नष्ट हो जाते हैं। वात, पित्त और कफ के प्रकुपित होने से उत्पन्न शरीर के सारे दोष या विकार जल्दी ही नष्ट हो जाते हैं। यदि अधिक या खराब अन्न आदि खा लिया हो तो वह भी पच जाता है और जठराग्नि बढ़ जाने से कालकूट जैसा भयंकर विष भी पच जाता है।

शवासन

उत्तानं शववद् भूमौ शयनं तच्छवासनम्।
शवासनं श्रान्तिहरं चित्त विश्रान्ति कारकम्।। 32।।

शव की तरह जमीन पर चित्त लेटने से शवासन हो जाता है। शवासन से शरीर और मन की थकान मिटती है।

चतुरशीत्यासनानि शिवेन कथितानि च।
तेभ्यश्चतुष्कमादाय सारभूतं ब्रवीम्यहम्।। 33।।

शिवजी ने चौरासी आसन बताये हैं। इनमें से मैं सबसे अच्छे चार आसन बतलाता हूँ।

सिद्धं पद्मं तथा सिंह भद्रं चेति चतुर्विधम्।
श्रेष्ठं तत्रापि च सुखे तिष्ठेत सिद्धासने सदा।। 34।।

सिद्धासन, पद्मासन, सिंहासन और भद्रासन ये चार आसन अच्छे हैं किन्तु इनमें भी सबसे अच्छा सिद्धासन है। साधक को सिद्धासन में सदा आराम से बैठना चाहिये।

सिद्धासन

योनिस्थानकमंध्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसे-
न्मेढ्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा हनुं सुस्थिरम्।
स्थाणुः संयमितेन्द्रियोऽचलदृशा पश्येद् भ्रुवोरन्तरम्-
ह्येतन्मोक्षकपाट भेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते।। 35।।

गुदा और लिंग के बीच का स्थान योनि कहलाता है। यहां पर बांये पैर की एड़ी लगाकर और लिंगमूल पर अर्थात् पेडू के पास दायीं एड़ी रखकर पैरों के पंजे जांघों और पिण्डलियों के बीच फंसा लेने चाहियें। इस तरह शरीर का सारा भार बांयी एड़ी के ऊपर आ जाता है। अब जालन्धर बन्ध लगाकर भौंहों के बीच में एकटक देखते रहना चाहिये।

ठूंठ की तरह निश्चल बैठकर सारी इन्द्रियों को वश में करना चाहिये। सिद्धासन के अभ्यास से मोक्षद्वार खुल जाता है। योगी मत्स्येन्द्रनाथ ने सिद्धासन की यही विधि बताई है।

सिद्धासन की दूसरी विधि इस प्रकार है –

मेढ्रादुपरि विन्यस्य सव्यं गुल्फं तथोपरि।
गुल्फान्तरं च निक्षिप्य सिद्धासनमिदं भवेत्।। 36।।

लिंगमूल के ऊपर बायीं एड़ी रखकर और इसके ऊपर दायें पैर की एड़ी रखकर बैठने से सिद्धासन होता है।

एतत् सिद्धासनं प्राहुरन्ये वज्रासनं विदुः।
मुक्तासनं वदन्त्येके प्राहुर्गुप्तासनं परे।। 37।।

पहिले बताये गये आसन को कुछ लोग सिद्धासन कहते हैं। कुछ लोग इसे वज्रासन, मुक्तासन, या गुप्तासन कहते हैं।

जब बायीं एड़ी, योनि पर रखकर और दायीं एड़ी लिंगमूल पर रखकर बैठा जाता है तब सिद्धासन होता है। इसी को कुछ लोग वज्रासन भी कहते हैं। जब बायीं और दायीं एड़ियां ऊपर नीचे रखकर योनिस्थान पर लगाई जाती हैं तब मुक्तासन होता है। जब दायीं और बायीं एड़ियां ऊपर नीचे रखकर लिंगमूल पर रखी जाती है तब गुप्तासन होता है।

यमेष्विव मिताहारमहिंसां नियमेष्विव।
मुख्यं सर्वासनेष्वेकं सिद्धाः सिद्धासनं विदुः।। 39।।

जैसे यमों में मिताहार और नियमों में अहिंसा सबसे श्रेष्ठ है उसी तरह सभी आसनों में सिद्धासन सबसे अधिक अच्छा है। यह बात सिद्ध योगी बताते हैं।

चतुरशीति पीठेषु सिद्धमेव सदाभ्यसेत्।
द्वासप्तति सहस्त्राणां नाडीनां मलशोधनम्।। 40।।

चौरासी आसनों में से साधक को सदा सिद्धासन का ही अभ्यास करना चाहिये। सिद्धासन से शरीर की बहत्तर हजार नाड़ियों का मैल साफ हो जाता है।

आत्मध्यायी मिताहारी यावद् द्वादशवत्सरम्।
सदा सिद्धासनाभ्यासाद्योगी निष्पत्तिमाप्नुयात्।। 41।।

आत्म चिन्तन करने वाला, मिताहार करने वाला और सदा सिद्धासन में बैठने वाला योगी बारह वर्ष में सिद्धियां या सफलताएं प्राप्त कर लेता है।

किमन्यैर्बहुभिः पीठैः सिद्धे सिद्धासने सति।
प्राणानिले सावधाने बद्धे केवल कुम्भके।। 42।।

सिद्धासन के सिद्ध हो जाने पर दूसरे आसन करने से क्या लाभ? सिद्धासन में बैठकर सावधानी के साथ केवल-कुम्भक का अभ्यास कर प्राणवायु को वश में करना चाहिये।

उत्पद्यते निरायासात् स्वयमेवोन्मनी कला।
तथैकस्मिन्नेव दृढ़े सिद्धे सिद्धासने सति।
बन्धत्रयमनायासात् स्वयमेवोपजायते।। 42।।

सिद्धासन का अच्छी तरह अभ्यास हो जाने पर मन में उन्मनी अवस्था या मन की एकाग्रता स्वयमेव बिना प्रयत्न उत्पन्न हो जाती है। मनोन्मनी अवस्था चन्द्रमा की कला की तरह आनन्द देने वाली है।

सिद्धासन भलीभांति लगाने से मूलबन्ध, उड्डीयन बन्ध और जालन्धर बन्ध स्वयम् ही लगने लगते हैं।

नासनं सिद्धसमं न कुम्भः केवलोपमः।
न खेचरीसमा मुद्रा न नादसदृशो लयः।। 43।।

सिद्धासन के समान और कोई आसन नहीं है। केवल-कुम्भक प्राणायाम से बढ़कर और कोई कुम्भक प्राणायाम नहीं है। खेचरी मुद्रा के समान कोई और मुद्रा नहीं है तथा अनाहत नाद के बराबर कोई और लय नहीं है। अर्थात् अनाहत नाद सुनकर मन अपने ही आप जिस तरह उस नाद में लीन होकर एकाग्र हो जाता है वैसा किसी और उपाय से नहीं होता।

बद्ध पद्मासन

वामोरूपरि दक्षिणं च चरणं संस्थाप्य वामं तथा
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम्।
अंगुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकये-
देतद् व्याधिविनाशकारि यमिनां पद्मासनं प्रोच्यते।। 44।।

बायीं जांघ के ऊपर दायां पैर रखकर और दायीं जांघ पर बायां पैर रखकर, दोनों हाथ पीठ के पीछे ले जा कर पैरों के अंगूठे पकड़ने चाहियें। ठोडी को कण्ठकूप में लगाकर जालन्धर बन्ध लगाना चाहिये और नाक के अगले भाग पर देखते रहना चाहिये। बद्ध पद्मासन में बैठने से योगियों के सारे रोग नष्ट हो जाते हैं।

पद्मासन

उत्तानौ चरणौ कृत्वा उरु संस्थौ प्रयत्नतः।
उरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी कृत्वा ततो दृशौ।। 45।।

नासाग्रे विन्यसेद्राजदन्तमूले तु जिह्वया।
उत्तंभ्य चिबुकं वक्षस्युत्थाप्य पवनं शनैः।। 46।।

दोनों पैर जांघों पर रखकर और एड़ियों पर दोनों हथेलियां एक दूसरी के ऊपर रखकर, नाक के अगले भाग पर टकटकी लगा कर, जीभ को तालु से

लगाकर, जालन्धर बन्ध और मूल बन्ध लगाकर अपान वायु को धीरे धीरे ऊपर उठाना चाहिये। पद्मासन की यह विधि मत्स्येन्द्रनाथ ने बताई है।

इदं पद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधिविनाशनम्।
दुर्लभं येन केनापि धीमता लभ्यते भुवि।। 47।।

यह पद्मासन सारे रोगों को नष्ट कर देता है। ऐरे-गैरे लोग यह आसन नहीं जानते। बुद्धिमान मनुष्य ही इसे जानते हैं।

कृत्वा सम्पुटितौ करौ दृढतरं बद्ध्वा तु पद्मासनं -
गाढं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यायंश्च तच्चेतसि।
वारम्बारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोत्सारयन् पूरितं-
न्यंचन् प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभावान्नरः।। 48।।

अच्छी तरह पद्मासन लगाकर और दोनों हथेलियां एक दूसरी के ऊपर रखकर, जालन्धर बन्ध लगाकर मन में ब्रह्म का ध्यान करते हुए, मूलबन्ध के द्वारा अपान वायु को बार बार ऊपर उठाते हुए और पूरक के द्वारा प्राणवायु को नीचे ले जाकर अपान वायु में मिलाने से कुण्डलिनी शक्ति जागकर सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश कर ब्रह्मरन्ध्र में पहुंच जाती है। इस स्थिति में योगी को सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मज्ञान हो जाता है। पद्मासन की यह विधि सभी सिद्ध योगी अपनाते हैं।

प्राण और अपान के मिलने पर कुण्डलिनी शक्ति जाग जाती है। कुण्डलिनी के जागने पर प्राण वायु सुषुम्ना नाड़ी के रास्ते ब्रह्मरन्ध्र में पहुंच जाता है। प्राण के ब्रह्मरन्ध्र में पहुंचने पर भोग-विषयों और सांसारिक पदार्थों के प्रति आसक्त मन एकाग्र या स्थिर हो जाता है। चित्त के स्थिर हो जाने पर योगी; धारणा, ध्यान और समाधि के अभ्यास से संयम कर आत्मसाक्षात् करता है।

पद्मासने स्थितो योगी नाडीद्वारेण पूरयेत्।
मारुतं धारयेद्यस्तु स मुक्तो नात्र संशयः।। 49।।

पद्मासन में बैठा हुआ जो योगी पूरक के द्वारा प्राण वायु को भरकर सुषुम्ना के मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र में पहुंचा कर प्राणों को ब्रह्मरन्ध्र में ही रोके रखता है वह योगी निश्चय ही मुक्त है।

सिंहासन

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत्।
दक्षिणे सव्यगुल्फं तु दक्षगुल्फं तु सव्यके।। 50।।

दायें और बायें पैर की एड़ियां अण्डकोशों के नीचे और सीवनी की बगल में इस तरह उलट कर रखनी चाहियें कि दायीं एड़ी, बायीं जांघ और नितम्ब के नीचे आ जाय और बायीं एड़ी दायीं जांघ और नितम्ब के नीचे आ जाय।

हस्तौ तु जान्वोः संस्थाप्य स्वांगुलीःसम्प्रसार्य च।
व्यात्तवक्त्रो निरीक्षेत् नासाग्रं सुसमाहितः।। 51।।

हथेलियां और अंगुलियां फैलाकर घुटनों के ऊपर रखकर मुंह खोलकर और जीभ निकालकर नाक के अगले भाग पर देखते हुए मन एकाग्र कर बैठे रहना चाहिये।

सिंहासनं भवेदेतत्पूजितं योगिपुंगवैः।
बन्धत्रितय सन्धानं कुरुते चासनोत्तमम्।। 52।।

श्रेष्ठ योगी सिंहासन को बहुत अच्छा मानते हैं। सिंहासन में बैठने से तीनों बन्ध लगाना सरल हो जाता है।

भद्रासन

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्यः पार्श्वयोः क्षिपेत्।
सव्यगुल्फं तथा सव्ये दक्षगुल्फं तु दक्षिणे।। 53।।

दायें और बायें पैर की एड़ियां अण्डकोशों के नीचे और सीवनी के पास लगानी चाहियें। दायीं एड़ी, दायीं जांघ की ओर और बायीं एड़ी, बायीं जांघ की ओर रहनी चाहिये।

पार्श्वपादौ च पाणिभ्यां बद्ध्वा सुनिश्चलम्।
भद्रासनं भवेदेतत् सर्वव्यधिविनाशनम्।। 54।।

जांघों पर हाथ जमाकर स्थिर बैठने से भद्रासन होता है। भद्रासन के अभ्यास से सारे रोग नष्ट हो जाते हैं।

गोरक्षसनमित्याहुरिदं वै सिद्धयोगिनः।
एवमासनबन्धेषु योगीन्द्रो विगतश्रमः।। 55।।

सिद्धयोगी इस आसन को गोरक्षासन भी कहते हैं क्योंकि योगी गोरक्षनाथ प्रायः इसी आसन में बैठते थे। जो योगी इन आसनों और बन्धों को परिश्रम के बिना ही कर लेता है वह योगीन्द्र होता है।

हठाभ्यास का क्रम

अभ्यसेन्नाडिकाशुद्धिं मुद्रादिपवनक्रियाम्।
आसनं कुम्भकं चित्रं मुद्राख्यं करणं तथा।। 56।।

हठयोगी को नाड़ी शोधन, मुद्राओं और सूर्य भेदी, उज्जायी आदि तरह तरह के प्राणायामों का और आसनों का अभ्यास नियमित रूप से करना चाहिये।

अथ नादानुसन्धानमभ्यासानुक्रमो हठे।
ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी योगपरायणः।
अब्दादूर्ध्वं भवेत् सिद्धो नात्र कार्या विचारणा।। 57।।

हठयोग में नाड़ी शोधन, महामुद्रा आदि मुद्राओं और प्राणायाम का अभ्यास और नादानुसन्धान क्रमशः करना चाहिये। जो हठयोगी ब्रह्मचर्य का पालन करता है, मिताहार करता है, विषय भोगों को छोड़कर योगाभ्यास करता रहता है, वह निश्चय ही एक साल बाद सिद्ध हठयोगी बन जाता है।

मिताहार

सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांश विवर्जितः।
भुज्यते शिवसम्प्रीत्यै मिताहारः स उच्यते।। 58।।

घी दूध वाले और मीठे पदार्थ योगी को आधे पेट खाने चाहियें। पेट का चौथाई हिस्सा पानी के लिये और चौथा भाग वायु के लिये खाली छोड़ देना चाहिये। हमें ईश्वर और जीवात्मा की प्रसन्नता के लिये भोजन करना चाहिये स्वाद के लिये नहीं।

कट्वम्लतीक्ष्णलवणोष्ण हरीतशाक सौवीर तैल तिलसर्षप मद्य मत्स्यान्।
अजादिमांस दधि तक्र कुलत्थ कोल पिण्याक हिंगु लशुनाद्यमपथ्यमाहुः।। 59।।

कड़वे, खट्टे, तीखे, नमकीन, और गर्म पदार्थ, हरा शाक, कांजी, तेल, तिल, सरसों, शराब, मछली, बकरे आदि का मांस, दही, मट्ठा, कुलथी, बेर, खल, हींग, लहसुन, प्याज, नशीले पदार्थ, उड़द की दाल आदि देर से पचने वाले पदार्थ योगी को नहीं खाने चाहियें।

भोजनमहितं विद्यात् पुनरस्योष्णीकृतं रुक्षम्।
अतिलवणमम्लयुक्तं कदशनशाकोत्कटं वर्ज्यम्।। 60।।

दोबारा गर्म किया हुआ और घी से रहित रूखा-सूखा भोजन, बहुत नमकीन, बहुत खट्टा, खारे शाक, यावनाल और कोदू आदि मोटे तथा रूखे अनाज, मिर्च-मसाले आदि योगी के लिये अच्छे नहीं हैं। कुछ योगाभ्यासी भोजन में नमक बिल्कुल नहीं खाते। उनकी यह आदत अच्छी है। दत्तात्रेय का कहना है कि नमक, सरसों, खट्टे, चरपरे, पेट में जलन पैदा करने वाले मिर्च-मसाले और रूखे पदार्थ खाना योग में रुकावट डालता है। स्कन्दपुराण में लिखा है कि योगी को नमकीन, खट्टे और कड़वे पदार्थ नहीं खाने चाहियें। उसे सदा दूध पीना चाहिये।

वह्नि स्त्री पथिसेवानामादौ वर्जनमाचरेत्।। 61।।

योगी को सर्दियों में आग तापना, स्त्री संसर्ग और तीर्थयात्रा; योगाभ्यास शुरू करने पर नहीं करनी चाहिये। गोरक्षपद्धति में भी कहा गया है कि-

वर्जयेद् दुर्जन प्रान्तं वह्नि स्त्री पथिसेवनम्।
प्रातःस्नानोपवासादि कायक्लेशविधिं तथा।।

दुष्ट लोगों के इलाके में योगी को नहीं रहना चाहिये। उसे आग, स्त्री और तीर्थयात्रा छोड़ देनी चाहिये। योगी को सवेरे स्नान, व्रत-उपवास आदि ऐसे सभी नियम छोड़ देने चाहियें जिनसे शरीर को कष्ट हो।

गोधूमशालियवषाष्टिकशोभनान्नं क्षीराज्यखण्डनवनीतसिता मधूनि।
शुंठी पटोलकफलादिकपंचशाकं मुद्‌गादिदिव्यमुदकं च यमीन्द्र पथ्यम्।। 62।।

गेहूं, चावल, जौ, साठी का चावल (जिसकी साठ दिन में फसल तैयार हो जाती है) ये अच्छे अन्न हैं। श्यामाक और नीवार आदि अन्न भी अच्छे हैं।

घी, दूध, खाण्ड, मक्खन, मिश्री, शहद, सौंठ, परवल, फल, पांच शाक, मूंग और साफ पानी योगियों के लिये हितकारी हैं। आयुर्वेद के अनुसार –

सर्वशाकमचाक्षुष्यं चाक्षुष्यं शाकपञ्चकम्।
जीवन्तीवास्तुमूल्याक्षी मेघनाद पुनर्नवा।।

सभी शाक आंखों के लिये खराब हैं। केवल ये पांच शाक ही आंखों के लिये अच्छे हैं- जीवन्ती, बथुआ, मूल्याक्षी, मेघनाद और पुनर्नवा।

पुष्टं सुमधुरं स्निग्धं गव्यं धातुप्रपोषणम्।
मनोभिलषितं योग्यं योगी भोजनमाचरेत्।। 63।।

योगी को पुष्टिकर, मीठे, घी से युक्त, गाय के दूध से बने, शरीर की धातुओं को बल देने वाले, और मन को अच्छे लगने वाले पदार्थ खाने चाहियें। गाय का दूध योगी के लिये बहुत उपयोगी है। उसे भैंस का दूध घी आदि नहीं खाना चाहिये। योगी को भुने हुए और रूखे-सूखे पदार्थ भी नहीं खाने चाहियें।

युवा वृद्धोऽतिवृद्धो वा व्याधितो दुर्बलोऽपि वा।
अभ्यासात् सिद्धिमाप्नोति सर्वयोगेष्वतन्द्रितः।। 64।।

युवक, बूढ़ा, बहुत बूढ़ा, बीमार और कमजोर व्यक्ति भी यदि सावधानी के साथ योगाभ्यास करे तो वह सिद्ध योगी बन जाता है।

क्रियायुक्तस्य सिद्धिः स्यादक्रियस्य कथं भवेत्।
न शास्त्रपाठमात्रेण योगसिद्धिः प्रजायते।। 65।।

आसन, प्राणायाम, मुद्रा और बन्ध आदि योग की क्रियाओं का नियमित अभ्यास करने से योग मार्ग में सफलता मिलती है। योग के अंगों का अभ्यास न करने वाले को सिद्धि कैसे मिल सकती है? केवल योग के ग्रन्थ पढ़ने से भी सिद्धि नहीं मिलती।

न वेषधारणं सिद्धेः कारणं न च तत् कथा।
क्रियैव कारणं सिद्धेः सत्यमेतन्न संशयः।। 66।।

भगवे कपड़े पहिन लेने से या योग की बातें करने से योग में सफलता नहीं मिलती। योगाभ्यास से ही सफलता मिलती है। यही बात निस्सन्देह सत्य है।

पीठानि कुम्भकाश्चित्रा दिव्यानि करणानि च।
सर्वाण्यपि हठाभ्यासे राजयोगफलावधि।। 67।।

हठयोग में आसनों, तरह–तरह के प्राणायामों, बन्धों और मुद्रा आदि इन सभी क्रियाओं का नियमित अभ्यास समाधि सिद्ध होने तक करते रहना चाहिये।

इति श्रीसहजानन्दसन्तानचिन्तामणि स्वात्मारामयोगीन्द्र विरचितायां हठयोगप्रदीपिकायामासनविधिकथनं नाम प्रथमोपदेशः।

श्री सहजानन्द की सन्तानरूपी चिन्तामणि योगीन्द्र स्वात्माराम द्वारा विरचित ग्रन्थ हठयोग प्रदीपिका में योगासन करने की विधि से सम्बद्ध प्रथम उपदेश समाप्त।

द्वितीय उपदेश

प्राणायाम

अथासने दृढ़े योगी वशी हितमिताशनः।
गुरूपदिष्टमार्गेण प्राणायामान् समभ्यसेत्।। 1।।

सिद्धासन या पद्मासन आदि किसी आसन में देर तक बैठने का अभ्यास हो जाने पर और अपनी इन्द्रियों को वश में कर लेने पर तथा स्वास्थ्य के लिये हितकारी और नपा-तुला भोजन करने की आदत पड़ जाने पर योगी को अपने गुरु द्वारा बताई गई विधि से प्राणायामों का अभ्यास शुरू करना चाहिये।

प्राणायाम किसलिये?

चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत्।। 2।।

प्राणवायु के चंचल होने पर हमारा मन भी चंचल या अस्थिर हो जाता है। किन्तु प्राणवायु के स्थिर हो जाने पर मन भी एकाग्र होने लगता है। प्राणायाम के अभ्यास से योगी की आयु बढ़ जाती है अथवा उसे अणिमा, लघिमा आदि सिद्धियां मिलने लगती हैं इसलिये प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये।

यावद् वायुः स्थितो देहे तावज्जीवनमुच्यते।
मरणं तस्य निष्क्रान्तिस्ततो वायुं निरोधयेत्।। 3।।

जबतक शरीर में प्राणवायु रहता है तब तक हम जीवित रहते हैं। प्राणवायु के शरीर से निकल जाने पर शरीर की मृत्यु हो जाती है इसलिये प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये।

नाड़ियों की मलशुद्धि

मलाकुलासु नाडीषु मारुतो नैव मध्यगः।
कथं स्यादुन्मनीभावः कार्यसिद्धिः कथं भवेत्।। 4।।

शरीर की नस-नाड़ियों में मैल भरा रहने के कारण इडा, पिंगला, सुषुम्ना आदि नाड़ियों में प्राणवायु भली भांति नहीं आ-जा सकता, विशेषरूप से इडा और पिंगला के बीच वाली सुषुम्ना नाड़ी में प्राणवायु की गति नहीं हो पाती। इसलिये नाड़ियों में मल भरा होने के कारण मन में उन्मनी भाव या मन की एकाग्रता नहीं आ सकती और न ही मोक्ष प्राप्ति हो सकती है।

शुद्धिमेति यदा सर्वं नाडीचक्रं मलाकुलम्।
तदेव जायते योगी प्राणसंग्रहणे क्षमः।। 5।।

मल से भरी हुई नस नाड़ियां जब षट्कर्म आदि क्रियाओं से साफ हो जाती हैं तभी योगी प्राणवायु को रोक पाता है।

प्राणायामं ततः कुर्यात् नित्यं सात्विकया धिया।
यथा सुषुम्ना नाडीस्था मलाः शुद्धिं प्रयान्ति च।। 6।।

इसलिये सात्विक गुण से युक्त बुद्धि से अर्थात् ईश्वर चिन्तन, उत्साह, साहस, प्रयत्न आदि के साथ और अस्थिर मन, आलस्य आदि राजसिक और तामसिक गुणों से रहित, ज्ञान और विवेक पूर्ण बुद्धि से प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये जिससे सुषुम्ना नाड़ी के मैल निकलकर सुषुम्ना नाडी साफ हो जाय।

नाड़ीशोधन प्राणायाम

बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत्।
धारयित्वा यथाशक्ति भूयः सूर्येण रेचयेत्।। 7।।

योगी को पद्मासन में बैठकर चन्द्र स्वर अर्थात् नाक के बायें स्वर से प्राणवायु फेफड़ों में भरनी चाहिये। प्राणवायु को अपनी सामर्थ्य के अनुसार फेफड़ों में ही कुछ समय तक रोक कर सूर्य स्वर से या नाक से दायें स्वर से यह प्राण वायु निकाल देनी चाहिये। कुछ देर तक प्राणवायु को रोकने अर्थात् कुम्भक करने के बाद प्राणवायु को निकालते या रेचक करते समय झटके से

और तेजी के साथ श्वास एकदम नहीं निकालना चाहिये अपितु धीरे धीरे और झटके के बिना ही श्वास निकालना चाहिये। झटके से और तेजी के साथ श्वास छोड़ने से अनेक रोग हो जाने की आशंका रहती है।

बाहर के वातावरण की वायु को गहरे श्वास के साथ फेफड़ों में भरने को या गहरा श्वास लेने की क्रिया को योग की परिभाषा में 'पूरक' कहा जाता है। भरे हुए श्वास को कुछ समय तक अपनी शक्ति के अनुसार फेफड़ों में ही रोके रखने को 'कुम्भक' कहते हैं। रोके हुए श्वास को कुछ देर के बाद बाहर निकालने की क्रिया 'रेचक' कहलाती है।

प्राणं सूर्येण चाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः।
विधिवत् स्तम्भकं कृत्वा पुनश्चन्द्रेण रेचयेत्।। ८।।

दायें स्वर से श्वास निकालने के बाद दायें स्वर या सूर्य स्वर से ही प्राणवायु को धीरे धीरे फेफड़ों में भरना चाहिये। अपनी क्षमता के अनुसार इस प्राण वायु को फेफड़ों में ही कुछ देर तक रोके रखकर अर्थात 'कुम्भक' करके इसे बायें या चन्द्र स्वर से निकाल देना चाहिये या 'रेचक' करना चाहिये।

रेचक-पूरक-कुम्भक का अनुपात क्या होना चाहिये?

प्रश्न है कि नाडीशोधन प्राणायाम में या किसी अन्य प्राणायाम में कितने समय तक पूरक-कुम्भक और रेचक करना चाहिये? योगशास्त्र के ग्रन्थों में पूरक, कुम्भक और रेचक का अनुपात 1:4:2 बताया गया है। प्रायः सभी योग के अभ्यासी इसी अनुपात के अनुसार प्राणायाम का अभ्यास करते हैं। इस अनुपात के अनुसार यदि श्वास भरने में हम एक मिनट का समय लगाते हैं तो चार मिनट तक श्वास अन्दर रोके रखना या 'कुम्भक' करना चाहिये और चार मिनट के कुम्भक के बाद श्वास निकालने में दो मिनट का समय लगाना चाहिये।

प्राणायाम का अभ्यास शुरू करने पर श्वास बहुत देर तक नहीं रोका जा सकता। इसलिये गिनती गिनकर या गायत्री मन्त्र आदि मन ही मन जपकर पूरक, कुम्भक और रेचक के बीच 1:4:2 का अनुपात रखना

चाहिये। यह अनुपात बनाये रखने पर प्राणायाम का अभ्यास करने में कोई कठिनाई अनुभव नहीं होगी और प्राणायाम का पूरा लाभ भी मिलेगा। झटके से और वेग या तेजी से श्वास छोड़ने से शरीर की शक्ति घट जाती है और कुम्भक भी देर तक नहीं हो पाता है। इसलिये उचित यही है कि अपने शरीर की शक्ति और अवस्था के अनुसार पूरक, कुम्भक और रेचक का समय धीरे धीरे बढ़ाया जाय।

येन त्यजेत् तेन पीत्वा धारयेदतिरोधतः।
रेचयेत् च ततोऽन्येन शनैरेवं न वेगतः।। 9।।

नाड़ी शोधन प्राणायाम की विधि यही है कि कुम्भक के बाद नाक के जिस स्वर से श्वास छोड़ा जाय उसी स्वर से फिर श्वास भरकर और कुम्भक करके श्वास दूसरे स्वर से धीरे धीरे छोड़ना चाहिये। श्वास को वेग और झटके के साथ नहीं छोड़ना चाहिये। जिस स्वर से पूरक किया जाय उससे श्वास नहीं निकालना चाहिये अपितु जिस स्वर से रेचक किया जाय उससे पूरक करना चाहिये।

प्राणं चेदिडया पिबेत् नियमितं भूयोऽन्यया रेचयेत्-
पीत्वा पिङ्गलया समीरणमथो बद्ध्वा त्येजद् वामया।
सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिनाभ्यासं सदा तन्वतां
शुद्धा नाडीगणा भवन्ति यमिनां मासत्रयादूर्ध्वतः।। 10।।

यदि प्राणवायु इडा नाड़ी या बायें स्वर से भरी जाती है तो उसे यथाशक्ति और पहिले बताये हुये पूरक-कुम्भक - रेचक के बीच अनुपात के अनुसार रोक कर या कुम्भक करके सूर्य स्वर या दायें स्वर से अथवा पिंगला नाड़ी से श्वास निकालना (रेचक) चाहिये। फिर पिंगला या दायें स्वर से श्वास भरकर (पूरक) और इस श्वास को रोककर (कुम्भक) इडा नाड़ी या बायें स्वर से निकालना (रेचक) करना चाहिये। इस प्रकार सूर्य और चन्द्र नाड़ियों अर्थात् दायें और बायें स्वरों से पूरक-रेचक का अभ्यास नियमपूर्वक करते हुए नाड़ीशोधन प्राणायाम निरन्तर करते रहने से योगाभ्यासी के शरीर की नस नाड़ियों का मल तीन महीने में निकल जाता है।

प्राणायाम का समय

प्रातर्मध्यन्दिने सायमर्धरात्रे च कुम्भकान्।
शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत्।। 11।।

सवेरे, दोपहर, शाम और आधी रात में नाडीशोधन प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये। चारों समय प्राणायाम का अभ्यास करते समय प्राणायामों की संख्या धीरे - धीरे बढ़ानी चाहिये।

प्राणायामों की संख्या धीरे धीरे बढ़ाकर अस्सी प्राणायाम तक कर देनी चाहिये अर्थात् सवेरे, दोपहर, शाम और आधी रात इन चारों समय अस्सी-अस्सी बार प्राणायाम करने चाहियें। इस प्रकार एक दिन में 320 प्राणायाम हो जायेंगे। कुछ का मत है कि आधी रात में प्राणायाम का अभ्यास नहीं करना चाहिये।

उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ प्राणायाम

कनीयसि भवेत् स्वेदः कम्पो भवति मध्यमे।
उत्तमे स्थानमाप्नोति ततो वायुं निबन्धयेत्।। 12।।

कनीयस अर्थात् कनिष्ठ (हल्का) प्राणायाम करने पर शरीर में पसीना आता है और गर्मी अनुभव होने लगती है। यदि कुम्भक की अवधि बढ़ाकर प्राणायाम किया जाता है तो यह प्राणायाम मध्यम (बीच) श्रेणी का कहलाता है। मध्यम प्राणायाम का अभ्यास करने पर शरीर में कंपकपी आती है। मध्यम प्राणायाम के कुम्भक का समय (अवधि) और अधिक बढ़ाकर प्राणायाम करने पर अर्थात् उत्तम श्रेणी का प्राणायाम करने पर प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्र में पहुंच जाता है। इसलिये प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये।

योग शास्त्र के ग्रन्थों लिंग पुराण, स्कन्द पुराण, योगचिन्तामणि और गोरक्षपद्धति आदि में कुम्भक की अवधि; मात्राओं और उद्घातों के अनुसार बताई गई है। विज्ञान भिक्षु के अनुसार उद्घात का अर्थ श्वास-प्रश्वास को रोकना है। स्वस्थ मनुष्य के एक बार के श्वास-प्रश्वास की अवधि एक मात्रा होती है। ऐसी बारह मात्राओं का एक उद्घात कहा जाता है।

चौबीस मात्राओं को द्वितीय उद्घात और छत्तीस मात्राओं को तृतीय

उद्‌घात कहते हैं। ये क्रमशः नीच, मध्यम और उत्तम उद्‌घात कहलाते हैं। सामान्य रूप से एक मात्रा चार सेकेण्ड की होती है। कुछ के मत में मात्रा की अवधि 1- 1/3 सेकेण्ड होती है।

आसन और प्राणायाम

महर्षि पतञ्जलि ने योगसूत्र के साधनपाद में आसन की परिभाषा **स्थिरसुखमासनम्** 2/46 की है अर्थात् जिस प्रकार बिना हिले-डुले स्थिर रहकर और कोई कष्ट या असुविधा अनुभव किये बिना आराम के साथ काफी देर तक बैठा जा सके वह आसन कहलाता है। हठयोग के ऐसे अनेक आसन हैं जिनके नियमित अभ्यास से शरीर स्वस्थ, हल्का, और योग-साधना के योग्य बन जाता है। किन्तु पतञ्जलि ने इस प्रकरण में उन आसनों की ओर संकेत किया है जिनमें निश्चल रहकर और सुखपूर्वक अधिक से अधिक समय तक ध्यान लगाकर बैठा जा सके। ऐसे आसनों में अधिक उपयोगी आसन हैं -

सिद्धासन, पद्मासन, बद्ध पद्मासन, स्वस्तिकासन, समासन, वीरासन, गोमुखासन, और वज्रासन।

इनमें ध्यान के लिये सिद्धासन और पद्मासन बहुत उपयोगी हैं। एक ही आसन से अधिक समय तक बैठे रहने का अभ्यास धीरे - धीरे बढ़ाते रहना चाहिये। यदि पैर आदि किसी अंग में दर्द होने लगे तो उस अंग पर नरम कपड़ा रखकर बैठना चाहिये। एक आसन में जब दो-तीन घण्टे तक बिना हिले-जुले और आराम से बैठा जा सके तब आसन सिद्धि समझनी चाहिये। शुरू में एक दो बार बीच-बीच में आसन बदल सकते हैं। आसन जय करने का सरल उपाय यही है कि जब कभी बैठने की जरूरत हो तो उसी आसन से बैठने का प्रयत्न करें। जो अभ्यासी मोटापे या शरीर में विकार होने के कारण इन आसनों में न बैठ सकें वे अर्द्धपद्मासन, अर्द्धसिद्धासन या किसी और आसन में दीवार का सहारा ले कर बैठ सकते हैं। किन्तु कमर की हड्डी (मेरुदण्ड) को सीधा तथा कमर, गर्दन और सिर को सीधी रेखा में रखना बहुत आवश्यक है। इन सब आसनों में बायीं हथेली एड़ियों के ऊपर सीधी रखकर और दायीं हथेली भी इसी तरह बायें हाथ की हथेली में रखकर बैठना

चाहिये अथवा हाथों को घुटनों पर रखकर या ज्ञानमुद्रा में बैठना भी लाभदायक है। मुख पूर्व दिशा या उत्तर दिशा की ओर करके बैठना चाहिये।

बैठने का आसन बहुत ऊँचा या बहुत नीचा नहीं होना चाहिये। सबसे नीचे कुशासन, उसके ऊपर ऊन का आसन और उसके ऊपर सूती आसन बिछाना चाहिये। मृगचर्म आदि चमड़े का आसन बिछाने से अहिंसा पालन नहीं हो पाता।

महर्षि पतञ्जलि ने आसन सिद्धि का उपाय साधनपाद के 47वें सूत्र में इन शब्दों में बताया है–

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्।। 2/47।।

प्रयत्न की शिथिलता और अनन्त में समापत्ति द्वारा आसन सिद्ध होता है। शरीर की स्वाभाविक चेष्टा को प्रयत्न कहते हैं। इस प्रयत्न से शरीर का हिलना-डुलना रोकने के लिये शरीर से कोई चेष्टा न करना ही 'प्रयत्न शैथिल्य' है। प्रयत्न की इस शिथिलता से आसन सिद्ध होता है। अथवा आकाश आदि में समायी हुई अनन्तता में चित्त को लगा देने से आसन सिद्ध होता है। इसलिये शरीर को प्रयत्न रहित और मन में आकाश आदि सब जगह व्याप्त किसी वस्तु का ध्यान करके आसन पर बैठना चाहिये। इस प्रकार शरीर और मन को क्रियारहित करने से शरीर को ही आत्मा समझ बैठने का भ्रम छूट जाता है और इस कारण साधक भूला हुआ सा होकर बहुत समय तक स्थिर रहकर सुखपूर्वक बैठ सकता है। **आनन्त्यसमापत्ति** शब्द से यही अभिप्राय है कि चित्त प्रतिक्षण अनेक सीमित पदार्थों की ओर लगा रहता है। इन वस्तुओं की सीमा में बंधा मन अस्थिर होकर इधर उधर दौड़ता रहता है। असीम या अपरिच्छिन्न आकाश आदि में जो अनन्तता है उसमें चित्त को लगाने से मन निर्विषय होकर स्थिर हो जाता है।

आसन सिद्धि का फल अगले सूत्र में बताया गया है –

ततो द्वन्द्वानभिघातः।। पातं० योग 2/48

आसन सिद्धि से द्वन्द्वों की चोट नहीं लगती। अर्थात् आसन सिद्ध हो जाने पर योगी को गर्मी-सर्दी, भूख-प्यास आदि द्वन्द्व नहीं सताते।

द्वन्द्वों को सहन करने के साथ-साथ योगी आसन सिद्धि के कारण प्राणायाम की साधना के योग्य बन जाता है –

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।।

पा० यो० 2/49

आसन सिद्ध हो जाने पर अर्थात् एक ही आसन में बिना हिले-डुले सुखपूर्वक देर तक बैठे रहने का अभ्यास हो जाने पर श्वास और प्रश्वास की गति को रोकना प्राणायाम कहलाता है।

बाहर की वायु को फेफड़ों में भरना श्वास कहलाता है। फेफड़ों और शरीर की वायु को निकालना प्रश्वास कहलाता है। श्वास-प्रश्वास की इस गति को रेचक, पूरक और कुम्भक द्वारा रोकना प्राणायाम कहलाता है।

आसन; प्राणायाम की सिद्धि या सफलता का उपाय है।

प्राणायाम

बाह्याभ्यन्तर स्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः।।

पा० यो० 2/50।।

बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तर वृत्ति और स्तम्भवृत्ति इन तीनों प्रकार का प्राणायाम देश, काल और संख्या से देखा हुआ दीर्घ और सूक्ष्म अर्थात् लम्बा और हल्का होता है।

गतिविच्छेद

नाक से श्वास को भीतर लेने का नाम 'पूरक' और उसको छोड़ने का नाम 'रेचक' है। पूरक के बाद रेचक न करना या रेचक के बाद पूरक न करना, इसका नाम 'गति विच्छेद' है। पूरक के बाद रेचक न करने का नाम 'पूरकान्तक कुम्भक' है। रेचक के बाद पूरक न करने को 'रेचकान्तक कुम्भक' कहते हैं। 'पूरकान्तक कुम्भक' को 'अन्तर कुम्भक' और 'रेचकान्तक कुम्भक' को 'बाह्य कुम्भक' भी कहते हैं।

श्वास-प्रश्वास की गति का विच्छेद बाहर होता है और चित्त की गति का विच्छेद भीतर होता है। चित्त सदा चंचल रहता है। चित्त की चंचलता का नाम ही चित्त की गति है। श्वास-प्रश्वास स्थिर होने से प्राणशक्ति का गति विच्छेद होता है और चित्त स्थिर होने से चित्त का गति विच्छेद होता है। जिस समय कुम्भक हो ठीक उसी समय भीतर चित्त को भी स्थिर रखना चाहिये।

प्राण-शक्ति ही चित्त को चंचल करती है। चित्त को स्थिर करके प्राणशक्ति को स्थिर किया जाता है। ध्यान के द्वारा चित्त को स्थिर रखना या चित्त को बिल्कुल शून्यवत् रखना जरूरी है।

कुम्भक के समय यदि चित्त में चंचलता रहे अर्थात् चित्त चारों और घूमता-फिरता रहे तो अनेक चिन्ताएं आकर चित्त पर आक्रमण करती हैं। इसलिये प्राणायाम के सुफल के बदले कुफल ही होगा और अनिष्ट की भी आंशका है। इसलिये बाहर जैसे कुम्भक करना ऐसे ही भीतर भी चित्त को पूरी तरह स्थिर रखना चाहिये। तब ही योगान्त प्राणायाम हो पायेगा। प्राण-शक्ति को दोनों तरफ से ही रोकना या गतिहीन करना पड़ेगा।

इसलिये पहिले आसन स्थिर करके शरीर स्थिर करने का और ध्यान का अभ्यास करके मन को स्थिर करने का नियम है। शरीर और मन को स्थिर करके तब कुम्भक का अभ्यास करने का नियम है। शरीर और मन को स्थिर न करके यदि कुम्भक किया जाता है तो अनिष्ट होता है। मन के चंचल होने पर कुम्भक कभी नहीं करना चाहिये। बहुत से मनुष्य इस बारे में बहुत ही भूल करते हैं। वे समझते हैं कि किसी भी तरह से बहुत समय तक कुम्भक करते रहने से ही सब सिद्धियां मिल जायेंगी। लेकिन चित्त स्थिर रखे बिना कुम्भक करके बहुतों को विपरीत फल ही मिलता है।

चित्त स्थिर करने के लिये योग के भिन्न-भिन्न अंगों की साधना करना आवश्यक है। आसनों का उद्देश्य शरीर को स्थिर रखना है। आसन-सिद्ध न होने से धारणा, ध्यान और समाधि कुछ भी सम्भव नहीं है। शरीर स्थिर होने से चित्त स्थिर होता है। चित्त से शरीर का घनिष्ठ सम्बन्ध है। चित्त में जिस भाव का उदय होता है शरीर में वही भाव प्रकट होता है। विभिन्न आसनों की सिद्धि से चित्त के भावों का भी परिवर्तन होता है। जिन आसनों के अभ्यास से चित्त में उच्च भावों या विचारों का उदय होता है वे आसन ही योग-सम्बन्धी आसन हैं। योग के अनुकूल आसनों के अभ्यास से चित्त में निम्न (नीची या बुरी) भावनाएं प्रकट नहीं होतीं अपितु शुद्ध भाव प्रकट होते हैं। शरीर की स्थिरता से चित्त की स्थिरता आती है। चित्त स्थिर होने से प्राणवायु भी स्थिर हो जाता है। आसन दो प्रकार के हैं -

प्रथम

किसी वस्तु से बना आसन। जैसे कुशासन, मृगचर्मासन, व्याघ्रचर्मासन, लोमासन (ऊनी आसन) या कपास से बना वस्त्रासन।

आसन बिछाये बिना मिट्टी पर बैठकर किसी प्रकार की साधना नहीं करनी चाहिये। मिट्टी पर सो जाने या बैठने से पृथ्वी हमारी शक्ति को खींच लेती है। किसी वस्तु से बने आसन पर बैठने से पृथ्वी की आकर्षण शक्ति से हमको कोई हानि नहीं होती।

द्वितीय

शरीर को किसी आकार में रखना। शरीर के आसन अनेक प्रकार के हैं। जिस आसन में बैठने का अभ्यास होने से शरीर निश्चल और सुख से रहता है वही आसन हितकर होता है। अधिकांश साधकों के लिये मुक्त-पद्मासन ही बहुत अच्छा है। जितनी कम आयु से आसन का अभ्यास होता है उतना ही अच्छा होता है। अधिक आयु में आसन का अभ्यास करना कठिन हो जाता है क्योंकि पैरों की हड्डियां मोटी और सख्त हो जाने के कारण पैरों को मोड़ने में कष्ट होता है।

सभी आसनों में मेरुदण्ड (रीढ़ की हड्डी) सीधा रखना चाहिये। मेरुदण्ड के अन्दर सुषुम्ना नाड़ी है। इस नाड़ी के रास्ते से शक्ति ऊपर उठती है। मेरुदण्ड के सबसे निचले स्थान मूलाधार से शक्ति ऊपर उठकर मस्तक के अन्दर सहस्त्रार तक पहुंच जाती है। साधकों की उन्नति के साथ-साथ शक्ति ऊर्ध्वगामिनी होती है। विषयासक्ति जितनी कम हो जायेगी और वैराग्य की वृद्धि होगी, यह शक्ति उतनी ही ऊपर की तरफ जायेगी। साधना की उन्नति इस पर ही निर्भर करती है। मेरुदण्ड सीधा रखने से सुषुम्ना सीधी और टेढ़ा रखने से टेढ़ी होती है। सुषुम्णा सीधी रहने से शक्ति सीधी आवागमन कर सकती है। जिसकी सुषुम्णा टेढ़ी होती है वह उच्च भावना या उच्च धारणा भी नहीं कर सकता। समाधि लाभ तो असम्भव ही है।

शरीर और मन को स्थिर करने से ही कुम्भक का अभ्यास ठीक होता है। मन और शरीर को स्थिर न करके कुम्भक का अभ्यास करने से अनिष्ट होता है। इसलिये जो लोग अत्यन्त संसारी हैं और विषय-भोगों में लिप्त हैं उनका कुम्भक करना अपने को खतरे में डालना है। मन; चंचल होने पर कभी भी

कुम्भक नहीं करना चाहिये। जो लोग आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीन प्रकार के दुःखों से प्राप्त वैराग्य भावना के साथ और विषयासक्ति छोड़कर चित्त को स्थिर करके कुम्भक का अभ्यास करते हैं उन्हें बहुत ही अधिक सफलता मिलती है। प्राणायाम सीखने वाले को शुरू में आसन-अभ्यास के साथ नाड़ी-शुद्धि भी करनी चाहिये।

नाड़ीशुद्धि

हमारे मेरुदण्ड के अन्दर तीन नाड़ियां हैं - इडा, पिंगला, और सुषुम्णा। ये नाड़ियां आध्यात्मिक हैं, आधिभौतिक नहीं। आध्यात्मिक विषय सूक्ष्म तत्त्व हैं, स्थूलतत्त्व नहीं हैं। हमारे शरीर की आंख, नाक, कान आदि बाहर की इन्द्रियों द्वारा स्थूल तत्त्व का ज्ञान होता है और अन्तरीन्द्रिय द्वारा सूक्ष्मतत्त्व का ज्ञान होता है।

प्राणायाम से पहिले नाड़ी शुद्धि करने का विधान है। पद्मासन में बैठकर पहिले नाक के दाहिने स्वर को अंगूठे से बन्द करके नाक के बायें स्वर से यथाशक्ति प्राणवायु को खींचना। जितना अधिक प्राण-वायु खींचा जाय उतना ही अच्छा है। जबरदस्ती वायु खींचने से बीमारी हो सकती है। नाक के बायें स्वर से यथाशक्ति वायु खींचने के बाद ही बायें स्वर को अंगुलियों से बन्द करके नाक के दांये स्वर से यथाशक्ति रेचक करना (वायु निकालनी) चाहिये। पूरक (श्वास भरना) के बाद ही तुरन्त रेचक करना चाहिये, बीच में कुम्भक (वायु रोकना) नहीं करना चाहिये। नाक के दायें स्वर से रेचक समाप्त होने के एकदम बाद ही दायें स्वर से ही पूरक करना चाहिये। और इस श्वास को नाक के बायें स्वर से तुरन्त रेचक कर देना चाहिये। फिर बायें स्वर से पूरक कर कुम्भक किये बिना दायें स्वर से रेचक कर देना चाहिये। फिर दायें स्वर से ही पूरक कर बायें स्वर से रेचक करना चाहिये। इस प्रकार प्रतिदिन आसानी से जब तक सम्भव हो करना। पूरक और रेचक के समय वायु को धीरे धीरे खींचना और धीरे धीरे छोड़ना। वायु को झटके और वेग के साथ अचानक ही नहीं खींचना चाहिये और रेचक के समय झटके और वेग के साथ अचानक ही नहीं छोड़ना चाहिये। वायु खींचने के समय और छोड़ने के समय समान गति रखनी चाहिये। नाक के सामने रूई रखने से रूई न हिले इस प्रकार धीरे - धीरे वायु को खींचना और छोड़ना चाहिये। नाड़ी शुद्धि प्राणायाम करते

समय मन में कोई चिन्ता नहीं लानी चाहिये। इस क्रिया में ही मन को लगाना चाहिये। श्वास-प्रश्वास में मन को बांधे रखना चाहिये।

नाड़ी शुद्धि का अभ्यास बहुत दिन तक करने से आसनजय होता है, शरीर में हल्कापन आ जाता है और तामसिक भाव दूर हो जाते हैं। मन में आनन्द आता है, उच्च विषय को सोचने की और धारणा करने की शक्ति आती है और अन्य कई लाभ होते हैं। नाड़ी शुद्धि के अभ्यास से फेफड़ों में शक्ति आने लगती है और फेफड़े प्राणायाम का अभ्यास करने के योग्य बन जाते हैं।

नाड़ी शुद्धि करने के समय निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिये-

1. ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना। ब्रह्मचर्य हीन व्यक्ति नाड़ी शुद्धि की चेष्टा न करें, वे नाड़ी शुद्धि करने पर अनेक रोगों से ग्रस्त हो जायेंगे।
2. सात्विक और परिमित भोजन करना।
3. निर्जन घर में रह कर अभ्यास करना।
4. कसे हुए कपड़े नहीं पहिनना।
5. घर को हवादार और साफ-सुथरा रखना।
6. यथाविधि आसन लगाकर बैठना।
7. वायु को यथाशक्ति धीरे धीरे खींचना और छोड़ना।
8. नाक के स्वरों से वायु का खींचना और छोड़ना ताल के साथ हो।
9. बैठने का आसन ठीक हो।
10. कुम्भक का अभ्यास करने से पहिले आसन को स्थिर रखना, मन को स्थिर रखना और नाड़ी शुद्धि का अभ्यास ज़रूरी है।
11. श्वास-प्रश्वास पर मन को एकाग्र करना।
12. मन में बाहर की चिन्ता को नहीं आने देना।
13. पेट के अन्दर मल और दूषित वायु को नहीं रहने देना।

असंयमी, अत्यन्त विषय-भोगी और ब्रह्मचर्य हीन व्यक्ति नाड़ी-शुद्धि क्रिया करने से अति कठिन रोगों से ग्रस्त हो जायेंगे। कुम्भक का अभ्यास करने से पहिले आसन स्थिर, मन-स्थिर और नाड़ी शुद्धि होने से कुम्भक का अभ्यास बहुत अच्छा होता है, क्योंकि आसन जय, चित्त की स्थिरता और प्राणायाम के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है।

प्राणशक्ति को विश्राम देना भी प्राणायाम है। हमारे अंग-प्रत्यंगों के सदैव काम में लगे रहने के कारण इन अंगों को आराम न देने से हमें कष्ट होता है। इनको विश्राम देने से हमें सुख होता है। शरीर चंचल रहने से चित्त चंचल होता है और शरीर के स्थिर रहने से चित्त भी स्थिर और शान्त रहता है। प्राण और शरीर के साथ चित्त का निकट-सम्बन्ध है। शरीर और चित्त को स्थिर करने से प्राण स्वयं स्थिर हो जाता है। आसन और चित्त को स्थिर करने से प्राण स्वयं स्थिर हो जाता है। आसन और चित्त भली भांति स्थिर हो जाने से प्राण की गति का विच्छेद अर्थात् विराम होता है। जो श्वास-प्रश्वास बिना रुके और आराम किये बिना निरन्तर चलता रहता है उसमें प्राणायाम के अभ्यास से विराम और विश्राम आ जायेगा। साधारण मनुष्य दिन रात श्वास-प्रश्वास लेकर रहते हैं किन्तु साधक दिन रात कुम्भक करके भी रहते हैं। प्राण के विराम होने से कुम्भक होता है। जो व्यक्ति चित्त को स्थिर न करके केवल नाक को बन्द करके कुम्भक करता है उसका हृदय, फेफड़े, पाचन यन्त्र आदि शरीर के अंग कठिन रोगों से ग्रस्त हो जाते हैं।

प्राणायाम परिदर्शन

बाह्य वृत्ति, आभ्यन्तर वृत्ति और स्तम्भवृत्ति; प्राणायाम की इन तीन वृत्तियों को ध्यान में रखकर इनकी स्थिति को क्रमशः दीर्घ से सूक्ष्म की ओर ले जाना और इसके कौशल को स्थान (देश), काल और संख्या के अनुसार उत्कर्ष की ओर ले जाना इसी का नाम प्राणायाम परिदर्शन है।

देश (स्थान) परिदर्शन

देश दो प्रकार के हैं - बाह्य देश और आभ्यन्तर देश। बाह्यदेश का दूसरा नाम आधिभौतिक देश और आभ्यन्तर देश का दूसरा नाम आध्यात्मिक देश है। स्वाभाविक रूप से श्वास छोड़ने (प्रश्वास) के समय प्रश्वास-वायु नाक से लगभग बारह अंगुल तक बाहर जाता है। नाड़ी शुद्धि के अभ्यास से प्रश्वास वायु क्रमशः बारह अंगलु से 11, 10, 9, 8 और इसी रूप से अन्त में नाक से बाहर आयेगा ही नहीं। नाक के अन्दर ही प्रश्वास वायु समाप्त हो जायेगा। इसी रूप से प्रश्वास में वायु के प्रति दृष्टि रखने का नाम बाह्य देश या आधिभौतिक देश परिदर्शन है। फिर श्वास लेने के समय जब श्वास-वायु

हमारे वक्ष:स्थल की ओर आता है, उस पर ध्यान रखने से उसी का नाम आभ्यन्तर देश (स्थान) या आध्यात्मिक देश (स्थान) परिदर्शन है।

काल परिदर्शन

प्रणव-मन्त्र या गायत्री मन्त्र का जप करते हुए जो काल का परिमाण हिसाब में रखा जाता है उसी का नाम काल-परिदर्शन है। पूरक में चार बार, कुम्भक में सोलह बार और रेचक में आठ बार मन्त्र जप करना या पूरक में छह बार, कुम्भक में चौबीस बार और रेचक में बारह बार मन्त्र जप करना। इसका अनुपात 1:4:2 है। साधक अपनी शक्ति के अनुसार जप करें। पूरक में जितनी बार जप होगा, कुम्भक में उससे चार गुना अधिक होगा और रेचक में उसका दुगुना मन्त्र जप होगा। इसी का नाम काल-परिदर्शन है।

संख्या-परिदर्शन

यह काल-परिदर्शन के ही अनुरूप है। इसमें जप की संख्या नहीं रखनी है, परन्तु श्वास-प्रश्वास की संख्या रखनी है।

प्राणायाम में सावधानी

प्राणायाम का अभ्यास बहुत ही सावधानी से और धीरे-धीरे करना चाहिये। सद्गुरु के उपदेश के अनुसार प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये, जल्दबाजी नहीं करनी चाहिये। यथाशक्ति धीरे धीरे पूरक, कुम्भक और रेचक करना और धीरे धीरे इनकी संख्या और समय (काल) को बढ़ाना। इस रूप से धीरे धीरे दीर्घ काल तक अभ्यास करने से प्राणायाम की जो सिद्धि होती है उसका नाम **दीर्घ प्राणायाम** है। प्राणायाम में जब श्वास-प्रश्वास बाहर आता ही नहीं, नाक के अन्दर ही रहता है और कुम्भक करने में अधिक कष्ट नहीं होता है तब उसका नाम **सूक्ष्म प्राणायाम** है।

विषयाक्षेपी प्राणायाम

देश, काल और संख्या के प्रति ध्यान रखकर बहुत दिन तक प्राणायाम करते-करते जब साधक अभ्यस्त हो जाते हैं, तब देश, काल और संख्या के प्रति दृष्टि न रखने से भी प्राणायाम सुचारु रूप से साधित होता है। इसी का नाम विषयापेक्षी प्राणायाम है।

प्राणायाम से लाभ

पशु, पक्षी, सांप आदि भी प्राणायाम करते हैं। मनुष्य ने उनसे ही प्राणायाम सीखा है। श्वास-प्रश्वास के साथ जीवों की आयु का निकट सम्बन्ध है। जिस प्राणी का श्वास-प्रश्वास जितना कम होगा उसकी आयु उतनी ही अधिक होगी। श्वास-प्रश्वास जितना अधिक होता है उतनी ही आयु कम हो जाती है। भारत के प्राचीन योगियों ने समय का परिमाण और श्वास-प्रश्वास की संख्या के अनुपात से आयु का हिसाब निकाला था। आधुनिक योगियों ने एक मिनट के समय को इकाई मानकर श्वास-प्रश्वास के अनुपात से आयु की सीमा निम्नलिखित निर्धारित की है –

प्राणी	श्वास-प्रश्वास की प्रति मिनट संख्या	आयु के वर्ष
1. कछुआ	4–5	150–155
2. सांप	7–8	120–122
3. हाथी	11–12	100–120
4. मनुष्य	12–13	100–150
5. घोड़ा	18–19	48–50
6. बिल्ली	24–25	12–13
7. बकरा	23–24	12–13
8. कुत्ता	28–29	13–14
9. बन्दर	31–32	20–21
10. कबूतर	37–38	8–9
11. खरगोश	38–39	8–9

मनुष्य एक दिन रात में 18 हजार सात सौ बीस श्वास-प्रश्वास लेता है। एक मिनट में 13 बार श्वास-प्रश्वास के हिसाब से चौबीस घण्टे अर्थात् 1440 मिनट में, 18, 720 श्वास-प्रश्वास लेता है। इन दिनों मनुष्य व्यस्त जीवऩ और भागदौड़ में फंसा होने के कारण श्वास-प्रश्वास अधिक बार ले रहा है इसलिये उसकी आयु घटती जा रही है। आजकल भी जो मनुष्य प्राणायाम का अभ्यास नियमित रूप से जितना करते रहेंगे उनकी आयु भी उतनी ही बढ़ती रहेगी।

हमारे शरीर में तमोगुण बढ़ने पर सत्वगुण के प्रकाश और रजोगुण की कर्मशीलता पर आवरण आ जाता है। प्राणायाम के प्रभाव से शरीर और इन्द्रियों की जड़ता और आलस्य छूट जाता है। तमोगुण के कार्य; तन्द्रा (खुमारी) और निद्रा भी नष्ट हो जाती है। तब कम देर तक सोने के कारण कष्ट नहीं होता। शरीर में काम करने की फुर्ती आ जाती है। मन, मोहशून्य हो जाता है और बुद्धि स्वच्छ हो जाती है। विचारशक्ति और विवेक-शक्ति बढ़ जाती है। विवेक-शक्ति बढ़ने से तत्त्व-ज्ञान और सूक्ष्म-दर्शन का उदय होता है, मिथ्या और विपर्यय ज्ञान का लोप होता है और शुद्ध ज्ञान का उदय होता है।

चित्त की निर्मलता

सोने-चांदी आदि धातुओं में मल या खोट मिला रहने के कारण सोने आदि की उज्ज्वल आभा छिप जाती है और सोना मैला सा दीखता है। सोने-चांदी का मैल आग में जला देने पर इनकी स्वाभाविक उज्ज्वलता प्रकाशित होती है। ठीक इसी प्रकार हमारा विवेक, मोह के परदे से ढक जाने पर आभा रहित हो जाता है। प्राणायाम के द्वारा मोह का आवरण (परदा) नष्ट हो जाता है। प्राणायाम से हमारे शरीर, इन्द्रियों, मन और बुद्धि की मलिनता और अशुद्धि भी कट जाती है और विशुद्धि के भाव उदय होने लगते हैं।

स्वाभाविक स्थिति में हमारी इन्द्रियों में मलिनता रहती है इसलिये ये इन्द्रियां दुर्बल हैं। यह मलिनता कट जाने पर इन्द्रियां प्रबल हो जाती हैं और इनको प्रकृति के सूक्ष्म उपादान (कारण) दर्शन करने की शक्ति मिलती है। तब शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि के तन्मात्र (परमाणु या सूक्ष्म, अवस्था) आदि के दर्शन करने की शक्ति भी मिलती है। दूर-दर्शन और दूर-श्रवण की शक्ति भी उत्पन्न होती है। जब तक इन्द्रियों में मलिनता रहेगी तब तक दूर-दर्शन आदि की अतीन्द्रिय शक्ति प्राप्त नहीं होती। प्राणायाम के द्वारा इन्द्रियों की यह मलिनता क्षीण हो जाती है और सूक्ष्म तत्त्वों का दर्शन होता है। गुरुजी की कृपा से मुझे इसका फल प्राप्त हुआ था।

प्राणायाम के सम्बन्ध में उपरोक्त उपदेश स्वामी ज्वालानन्द पुरी ने विक्रमी सम्वत् 1905 में महर्षि दयानन्द सरस्वती को अहमदावाद के पास चाणोद में अपने आश्रम में दिया था। चाणोद के आश्रम में रहकर दयानन्द जी ने स्वामी ज्वालानन्द पुरी और शिवानन्द गिरी से योग साधना की शिक्षा तीन वर्ष तक ली थी। यह उपदेश साधकों के लिये वस्तुतः मार्गदर्शक है।

जलेन श्रमजातेन गात्रमर्दनमाचरेत्।
दृढ़ता लघुता चैव तेन गात्रस्य जायते।। 13।।

प्राणायाम के अभ्यास से शरीर गर्म होने पर पसीना आने पर उस पसीने से शरीर की मालिश करनी चाहिये। ऐसा करने से शरीर मजबूत और बलशाली हो जाता है और शरीर में हल्कापन अनुभव होता है।

अभ्यास काल में दूध और घी का भोजन

अभ्यासकाले प्रथमं शस्तं क्षीराज्यभोजनम्।
ततोऽभ्यासे दृढ़ीभूते न तादृङ् नियमग्रहः।। 14।।

प्राणायाम का अभ्यास प्रारम्भ करने पर भोजन में गाय का दूध और घी वाला भोजन करना चाहिये। कुम्भक का अभ्यास सिद्ध हो जाने के बाद भोजन में इस नियम का पालन दृढ़ता से करने की आवश्यकता नहीं रहती।

प्राणवायु पर धीरे धीरे नियन्त्रण

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद् वश्यः शनैः शनैः।
तथैव सेवितो वायुरन्यथा हन्ति साधकम्।। 15।।

जिस प्रकार जंगली शेर, हाथी, और बाघ को धीरे-धीरे अपने वश में किया जाता है उसी प्रकार प्राणवायु पर धीरे धीरे नियन्त्रण करने का अभ्यास करना चाहिये। यदि साधक प्राणायाम के अभ्यास में जल्दबाजी करेगा तो उसका शरीर रोग ग्रस्त होकर नष्ट हो जायेगा।

सही और गलत प्राणायाम का परिणाम

प्राणायामादि युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत्।
अयुक्ताभ्यास योगेन सर्वरोगसमुद्भवः।।16।।

प्राणायाम का अभ्यास करते समय नियमित दिनचर्या, उचित और परिमित भोजन तथा जालन्धर आदि बन्धों का प्रयोग करने से शरीर के सारे रोग नष्ट हो जाते हैं। किन्तु गलत ढंग से प्राणायाम करने पर शरीर में सारे रोग आ जाते हैं।

हिक्का श्वासश्च कासश्च शिरः कर्णाक्षिवेदना।
भवन्ति विविधा रोगाः पवनस्य प्रकोपतः।। 17।।

गलत ढंग से प्राणायाम का अभ्यास करने पर प्राण-वायु प्रकुपित हो

जाती है और इस कारण हिचकी, श्वास चलना, खांसी, आंख, कान और सिर में दर्द तथा तरह-तरह के अनेक रोग हो जाते हैं।

युक्तं युक्तं त्यजेद् वायुं युक्तं युक्तं च पूरयेत्।
युक्तं युक्तं च बध्नीयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात्।। 18।।

प्राणायाम करते समय प्राणवायु को धीरे-धीरे समान गति से और झटका दिये बिना निकालना (रेचक) चाहिये। वायु को फेफड़ों में भरते (पूरक) हुए भी समान गति से झटका दिये बिना धीरे धीरे ही भरना चाहिये। पूरक और रेचक करने के बाद प्राणवायु को जालन्धर, उड्डीयान और मूल इन तीन बन्धों को लगाकर विधिपूर्वक रोकना (कुम्भक) करना चाहिये। पूरक, कुम्भक, और रेचक का विधिपूर्वक अभ्यास करने से साधक को प्राणायाम की साधना में सफलता मिलती है।

नाड़ी शुद्धि के लक्षण

यदा तु नाड़ीशुद्धिः स्यात् तथा चिह्नानि बाह्यतः।
कायस्य कृशता कान्तिस्तदा जायेत् निश्चितम्।। 19।।

जब शरीर की नस-नाड़ियां मल रहित होकर साफ हो जाती हैं तब शरीर पतला और कान्ति से पूर्ण हो जाता हैं।

यथेष्ट धारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम्।
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडीशोधनात्।। 20।।

शरीर की नस-नाड़ियों के मलरहित हो जाने पर साधक प्राणवायु को कुम्भक प्राणायाम से अनेक बार आसानी से रोक सकता है। उसकी जठराग्नि (भूख) बढ़ जाती है। उसे अनाहत नाद सुनाई देने लगता है और उसका शरीर स्वस्थ तथा नीरोग हो जाता है।

मेदः श्लेष्माधिकः पूर्वं षट् कर्माणि समाचरेत्।
अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः।। 21।।

जिस साधक का शरीर मोटा हो और जिसके शरीर में कफ अधिक हो उसे नाड़ीशोधन के लिये षट्कर्म करने चाहियें। किन्तु जो साधक मोटा न हो

और जिसे कफ की शिकायत न हो उसे षट्कर्म करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि उसके शरीर में वात, पित्त और कफ ये तीनों समान अवस्था में हैं।

षट्कर्म

धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि प्रचक्षते।। 22।।

धौति, बस्ति, नेति, त्राटक, न्यौली और कपालभाति ये षट्कर्म हैं।

षट्कर्ममिदं गोप्यं घटशोधनकारकम्।
विचित्रगुणसंधायि पूज्यते योगिपुङ्गवैः।। 23।।

शरीर और नस नाड़ियों की सफाई करने वाले इन षट्कर्मों को गुप्त रखना चाहिये। इन षट्कर्मों से शरीर में आश्चर्यजनक गुण आ जाते हैं अतः श्रेष्ठ योगी इसका आदर करते हैं।

धौति

चतुरङ्गुलविस्तारं हस्तपञ्चदशायतम्।
गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैः ग्रसेत्।
पुनः प्रत्याहरेच्चैतदुदितं धौतिकर्म तत्।। 24।।

चार अंगुल चौड़ा और पन्द्रह हाथ लम्बा, गीला कपड़ा गुरु के द्वारा बताई गई विधि से धीरे-धीरे निगलना चाहिये और सारा कपड़ा निगलने के बाद इसे पेट से मुंह के रास्ते ही निकालना चाहिये।

धौति करने के लिये चार अंगुल चौड़ा और पन्द्रह हाथ लम्बा मलमल का बारीक कपड़ा साबुन से अच्छी तरह साफ करके उबालना चाहिये जिससे उसकी सारी अशुद्धि दूर हो जाये। फिर गर्म पानी निकाल कर ठण्डे पानी से कपड़ा धोकर निगलना चाहिये। इस कपड़े का सिरा पकड़ कर इसकी तीन चार तह बनाकर हाथ की अंगुलियों से इसे गले के अन्दर रखकर निगलना चाहिये। कपड़ा निगलते समय कई बार उबकाई आती है और शरीर, कपड़ा बाहर निकालना चाहता है किन्तु उबकाई रोककर और मुंह बन्द रखकर कपड़े को बाहर नहीं आने देना चाहिये। उबकाई रुकने पर कपड़ा फिर निगलना शुरू कर देना चाहिये। सारा कपड़ा पेट में चला जाने पर उसका अन्तिम सिरा मुंह

से बाहर रखकर खड़े होकर न्यौली घुमानी चाहिये। फिर दोनों पैर मिलाकर और आगे झुककर कपड़े का अन्तिम छोर पकड़कर सारा कपड़ा बाहर निकाल लेना चाहिये और हलक में अंगुलियां डालकर कफ, पित्त आदि को निकाल देना चाहिये। धौति के बाद तीन-चार गिलास गुनगुना पानी पीकर उल्टी कर देने से पेट और भोजन नालिका की सारी सफाई हो जाती है।

कासश्वांसप्लीह कुष्ठं कफरोगांश्च विंशतिः।
धौतिकर्मप्रभावेन प्रयान्त्येव न संशयः।। 25।।

खांसी, सांस-चलना (दमा), कोढ़, तिल्ली और कफ विकार से होने वाले बीसों रोग धौति क्रिया करने से निस्सन्देह नष्ट हो जाते हैं।

वस्ति

नाभिदघ्नजले पायौ न्यस्तनालोत्कटासनः।
आधाराकुञ्चनं कुर्यात् क्षालनं वस्ति कर्म तत्।। 26।।

नाभि तक गहरे पानी में उत्कट आसन में बैठकर गुदा में छह अंगुली लम्बी नलकी लगाकर न्यौली घुमाने से पानी पेट में भरने लगता है। न्यौली से पेट में काफी पानी भरकर नलकी निकाल लेनी चाहिये और पानी से बाहर निकलकर एक बार फिर न्यौली घुमाकर पेट में भरा पानी गुदा के रास्ते निकाल देना चाहिये।

उत्कटासन में बैठने का तरीका है- पैरों की अंगुलियों के सहारे और एड़ियां नितम्बों से लगाकर बैठना।

धौति और वस्ति कर्म भोजन करने से पहिले खाली पेट ही करने चाहियें।

गुल्मप्लीहोदरं चापि वातपित्तकफोद्भवाः।
वस्तिकर्मप्रभावेण क्षीयन्ते सकलामयाः।। 27।।

पेट की गांठ (रसौली), तिल्ली के रोग, जलोदर तथा वात, पित्त और कफ के विकार से पैदा हुए सारे रोग वस्ति करने से नष्ट हो जाते हैं।

धात्विन्द्रियान्तःकरणप्रसादं दद्याच्च कान्तिं दहनप्रदीप्तिम्।
अशेषदोषोपचयं निहन्यादभ्यस्यमानं जलवस्तिकर्म।। 28।।

जलवस्ति का अभ्यास नियमित रूप से करने से शरीर के रस, मांस, मेद, मज्जा, अस्थि और वीर्य आदि सभी धातुओं तथा पांचों ज्ञानेन्द्रियों और पांचों कर्मेन्द्रियों (आंख, कान, नाक, जीभ और त्वचा तथा हाथ, पैर, वाणी, गुदा और मूत्रेन्द्रिय), मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार, अन्तःकरण के दुःख-विक्षेप, शोक, मोह, अभिमान आदि दोष नष्ट हो जाते हैं तथा राजसिक और तामसिक गुणों से उत्पन्न मन की वृत्तियां नष्ट हो जाती हैं और अन्तःकरण सुख, चैतन्य, लघुता आदि के सात्विक भावों से परिपूर्ण हो जाता है। जठराग्नि बढ़ जाती है। वात, पित्त और कफ के विकार से उत्पन्न शरीर के सारे दोष नष्ट हो जाते हैं।

नेति

सूत्रं वितस्ति सुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत्।
मुखान्निर्गमयेच्चैषा नेतिः सिद्धैर्निगद्यते।। 29।।

एक बालिश्त लम्बा तागा चिकना करके नाक के सुर में डालकर इसे मुंह के रास्ते निकालने से नेति होती है।

सूत के तागे को बटकर और उस पर मोम लगाकर सूत्र नेति बनाई जाती है। इसका अगला भाग बटने से और मोम लगाने से कड़ा हो जाता है। नाक में सूत्रनेति डालकर उसे तालु के पीछे छेद से निकाला जाता है। अब सूत्रनेति के बटे हुए सिरे को पकड़कर और बिना बटे दूसरे सिरे को दूसरे हाथ से पकड़ कर नाक के अन्दर आगे पीछे खींचा जाता है। ऐसा करने से नाक, गले, आंखों और कानों की सूक्ष्म नस-नाड़ियों में रक्त संचार बढ़ जाता है और इनमें अन्दर बाहर जमा गन्दगी दूर हो जाती है। सूत्र नेति दोनों सुरों में करनी चाहिये। सूत्र नेति करने के बाद गुनगुने नमक के पानी से जलनेति करनी चाहिये।

कपालशोधिनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी।
जत्रूर्ध्वजातरोगौधं नेतिराशु लिहन्ति च।। 30।।

गर्दन की हड्डी या हंसुली से ऊपर के आंख, नाक, कान, गले आदि के रोग सूत्रनेति करने से जल्दी ही नष्ट हो जाते हैं। सूत्रनेति और जलनेति से

मस्तिष्क साफ हो जाता है और इसके अभ्यास से आंखों की ज्योति बढ़ जाती है।

त्राटक

निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः।
अश्रुसम्पातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं मतम्।। 31।।

मन एकाग्र करके थोड़ी दूर पर रखे किसी छोटे बिन्दु या दीपक की लौ को पलक झपके बिना तब तक एकटक देखते रहना चाहिये जबतक आंखों से आंसू न गिरने लगें।

किसी वस्तु पर पलक झपके बिना दृष्टि टिकाये रखना त्राटक कहलाता है। जब तक आंखों में कष्ट अनुभव न हो, तब तक दृष्टि स्थिर रखनी चाहिये। जबरदस्ती दृष्टि जमाये रखने से आंखों की बीमारी हो जाती है। आंखों में थकान अनुभव होते ही आंखें बन्द करके उसी दृश्य का चिन्तन करना चाहिये। सवेरे या जाड़े के समय या ठण्डे समय में त्राटक योग का अभ्यास करना चाहिये। प्रतिदिन त्राटक करने के बाद आंखों में ठण्डे पानी के छीटें देने चाहियें।

मोचनं नेत्ररोगाणां तन्द्रादीनां कपाटकम्।
यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटकम्।। 32।।

त्राटक के अभ्यास से आंखों के रोग नष्ट हो जाते हैं और चित्त की तन्द्रा आदि तामसिक वृत्तियां दूर हो जाती हैं। त्राटक की क्रिया को यत्नपूर्वक उसी तरह गुप्त रखना चाहिये जैसे सोने से भरी पेटी को।

नौलि

अमन्दावर्तवेगेन तुन्दं सव्यापसव्यतः।
नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रचक्षते।। 33।।

घुटनों पर हाथ रखकर और कन्धे झुकाकर पेट को रीढ़ की हड्डी से सटाकर पेट की नसों (नालों) को उभार कर तेजी से बायें से दायें और दायें से बायें घुमाकर नौली की जाती है।

मन्दाग्निसंदीपनपाचनादि संधापिकानन्दकरी सदैव।
अशेषदोषामयशोषणी च हठक्रिया मौलिरियं च नौलिः।। 34।।

पेट की मन्दाग्नि को नष्ट करने वाली, पाचन शक्ति बढ़ाने वाली, पेट साफ करने वाली, सुख प्रदान करने वाली और पेट के सभी रोगों और वायु आदि दोषों को नष्ट करने वाली नौली क्रिया हठयोग की क्रियाओं में सबसे श्रेष्ठ है।

कपालभाति

भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससम्भ्रमौ।
कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी।। 35।।

लुहार की धौंकनी की तरह तेजी से रेचक-पूरक करने से कपाल भाति होती है। कपालभाति के अभ्यास से शरीर के कफदोष दूर हो जाते हैं।

षट्कर्मनिर्गतस्थौल्य कफदोषमलादिकाः।
प्राणायामं ततः कुर्यादनायासेन सिद्ध्यति।। 36।।

षट्कर्म का नियमित अभ्यास करने से शरीर का मोटापन और वात, पित्त, कफ के दोष तथा शरीर के मल नष्ट हो जाने पर प्राणायाम का अभ्यास सरलता से किया जा सकता है।

प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यन्ति मला इति।
आचार्याणां तु केषांचित् अन्यत् कर्म न सम्मतम्।। 37।।

कुछ आचार्यों का यह विचार है कि तरह-तरह के प्राणायामों का नियमित अभ्यास करने से ही शरीर के सारे मल नष्ट हो जाते हैं इसलिये षट्कर्म आदि करने की आवश्यकता नहीं है।

गजकरणी

उदरगतपदार्थमुद्वमन्ति पवनमपानमुदीर्यकण्ठनाले।
क्रमपरिचयवश्या नाड़ीचक्रा गजकरणीति निगद्यते हठैः।। 38।।

अपान वायु को उठाकर गले की भोजननालिका में लाकर पेट में पड़ी

वस्तुओं को उल्टी से बाहर निकालना गजकरणी क्रिया कहलाती है। गजकरणी क्रिया का नियमित अभ्यास करने से पेट की नस-नाड़ियों पर साधक का नियन्त्रण हो जाता है। हठयोग के विशेषज्ञ इस क्रिया को गजकरणी इसीलिये कहते हैं क्योंकि हाथी पेट में अपचन होने पर काफी पानी पीकर सूंड गले में डालकर उल्टी करके पेट साफ कर लेते हैं।

गजकरणी या कुंजर क्रिया में भी गुनगुना पानी तीन चार गिलास लगातार पीकर, पैर मिलाकर खड़े होकर और थोड़ा आगे झुक कर तथा पेट को एक हाथ से दबाकर और दूसरे हाथ की तीन अंगुलियां गले में डालकर उल्टी की जाती है।

प्राणायाम की आवश्यकता

ब्रह्मादयोऽपि त्रिदशाः पवनाभ्यास तत्पराः।
अभूवन्नन्तकभयात् तस्मात् पवनमभ्यसेत्।। 39।।

ब्रह्मा आदि सभी देवता भी मृत्यु के भय से प्राणायाम का नियमित अभ्यास करते हैं इसलिये हमें भी प्राणायाम करना चाहिये।

यावद् बद्धो मरुत् देहे यावच्चित्तं निराकुलम्।
यावद् दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत् कालभयं कुतः।।40।।

प्राणायाम के अभ्यास से जब तक प्राणवायु शरीर में स्थिर रहता है और समाधि के अभ्यास से चित्त एकाग्र रहता है तथा ध्यान और समाधि की अवस्था में हमारी आंखें भ्रूमध्य में टिकी रहती हैं तब तक मृत्यु का भय नहीं रहता।

विधिवत् प्राणसंयामैर्नाडीचक्रे विशोधिते।
सुषुम्नावदनं भित्वा सुखात् विशति मारुतः।।41।।

जालन्धर, उड्डीयान और मूलबन्ध तथा खेचरी मुद्रा के साथ विधिपूर्वक प्राणायाम का अभ्यास करने से शरीर की नस नाड़ियों का मल नष्ट हो जाता है। तब सुषुम्ना नाड़ी का मुख खुल जाने पर प्राण वायु आराम से सुषुम्ना में चलने लगता है।

मनोन्मनी अवस्था का लक्षण

मारुते मध्यसंचारे मनः स्थैर्यं प्रजायते।
यो मनः सुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी।। 42।।

प्राणवायु के सुषुम्ना नाड़ी में प्रविष्ट हो जाने पर मन एकाग्र हो जाता है। मन की निरन्तर एकाग्रता की अवस्था ही मनोन्मनी अवस्था कहलाती है।

सुषुम्ना नाड़ी, इडा और पिंगला नाड़ियों के बीच है इसलिये इस श्लोक में सुषुम्ना नाड़ी में प्राण वायु के प्रवेश को मध्य संचार कहा गया है।

तत् सिद्धये विधानज्ञाश्चित्रान् कुर्वन्ति कुम्भकान्।
विचित्र कुम्भकाभ्यासात् विचित्रां सिद्धिमाप्नुयात्।। 43।।

प्राणवायु को सुषुम्ना में चलाने के लिये प्राणायाम जानने वाले योगी तरह-तरह के कुम्भक प्राणायाम करते हैं। तरह तरह के कुम्भक प्राणायामों से विचित्र सिद्धियां मिलती हैं।

कुम्भक प्राणायामों के भेद

सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी शीतली तथा।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा प्लाविनीत्यष्टकुम्भकाः।। 44।।

सूर्यभेदन, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और प्लाविनी ये आठ प्रकार के कुम्भक प्राणायाम होते हैं।

प्राणायाम के साथ बन्धों का प्रयोग

पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालन्धराभिधः।
कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डीयानकः।। 45।।

पूरक (श्वास भरना) के बाद जालन्धर बन्ध लगाना चाहिये। कुम्भक (श्वास रोकना) के बाद और रेचक (श्वास निकालना) शुरू करते समय उड्डीयान बन्ध लगाना चाहिये। पूरक के बाद जालन्धर बन्ध लगाना और कुम्भक के बाद तथा रेचक करते हुए उड्डीयान बन्ध लगाना सभी कुम्भक प्राणायामों में करने का नियम है। नाभि को पीठ से लगाकर उड्डीयान बन्ध किया जाता है।

अधस्तात् कुंचनेनाशु कण्ठसंकोचने कृते।
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात् प्राणो ब्रह्मनाडिगः।। 46।।

नीचे अर्थात् गुदा को सिकोड़ कर मूलबन्ध लगाकर कण्ठकूप में ठोडी सटाकर अर्थात जालन्धर बन्ध लगाकर और पेट में उड्डीयान बन्ध लगाकर कुम्भक प्राणायाम करने से प्राणवायु सुषुम्ना नाड़ी में चलने लगती है। यदि उपरोक्त तीनों बन्धों के साथ खेचरी मुद्रा लगाकर कुम्भक प्राणायाम किया जाता है तो विशेष लाभ होता है।

अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्राणं कण्ठादधो नयेत्।
योगी जराविमुक्तः सन् षोडशाब्दवयो भवेत्।। 47।।

मूलबन्ध लगाकर अपान वायु को ऊपर उठाकर और प्राणवायु को कण्ठ से नीचे ले जाकर जो योगी प्राणायाम का अभ्यास करता है वह बुढ़ापे से छूटकर सोलह वर्ष की आयु वाले तरुण व्यक्ति जैसा हो जाता है।

पूरकान्ते तु कर्तव्यः- इस पैंतालीसवें श्लोक में बताया गया है कि कौन सा बन्ध कब लगाना चाहिये। **'अधस्तात् कुंचनेन'** इस छियालिसवें-श्लोक द्वारा बताया गया है कि मूलबन्ध और जालन्धर बन्ध कैसे लगाने चाहियें। **अपानमूर्ध्वमाकृष्य** में इन तीनों बन्धों का लाभ बताया गया है। उपरोक्त तीनों श्लोकों में उड्डीयान बन्ध लगाने की विधि नहीं बताई गई है। सन्त ज्ञानेश्वर ने गीता के छठे अध्याय की व्याख्या में लिखा है कि मूलबन्ध और जालन्धर बन्ध लगाने पर नाभि से नीचे का पेट स्वयं खिंचने लगता है और उड्डीयान बन्ध लग जाता है।

सूर्यभेदन कुम्भक प्राणायाम

आसने सुखदे योगी बद्ध्वा चैवासनं ततः।
दक्षनाड्या समाकृष्य बहिस्थं पवनं शनैः।। 48।।

सुखदायी आसन पर बैठकर योगी स्वस्तिक, वीर, सिद्ध या पद्मासन इनमें से कोई भी आसन लगाकर नाक के दायें सुर से अर्थात् पिंगला नाड़ी या सूर्य नाड़ी से धीरे-धीरे बाहर की वायु खींचे।

आकेशादानखाग्राच्च निरोधावधि कुम्भयेत्।
ततः शनैः सव्यनाड्या रेचयेत् पवनं शनैः।। 49।।

सिर के बालों और नाखूनों के अगले भाग तक अर्थात् सारे शरीर में भरा हुआ श्वास जब तक रोका जा सके तब तक यथाशक्ति कुम्भक करना चाहिये। फिर श्वास को नाक के बायें सुर अर्थात् इडा नाड़ी या चन्द्र नाड़ी से धीरे धीरे निकालना चाहिये।

श्वास भरना या पूरक प्राणायाम धीरे धीरे या वेग के साथ किया जा सकता है किन्तु कुम्भक के बाद रोका हुआ श्वास धीरे धीरे ही निकालना (रेचक) चाहिये। तेजी से रेचक करने से शरीर की शक्ति नष्ट हो जाती है।

कपालशोधनं वातदोषघ्नं कृमिदोषहृत्।
पुनः पुनरिदं कार्यं सूर्यभेदनमुत्तमम्।। 50।।

सूर्य भेदन प्राणायाम के अभ्यास से मस्तक के सारे विकार दूर हो जाते हैं। शरीर में वायु के प्रकोप से उत्पन्न अस्सी प्रकार के दोष नष्ट हो जाते हैं और पेट के कीड़े निकल जाते हैं इसलिये उत्तम सूर्य भेदन प्राणायाम बार-बार करना चाहिये।

प्राणायाम के प्रसंग में योगाभ्यासी को अपनी दिनचर्या पर विशेष ध्यान देना चाहिये। योगाभ्यासी को सवेरे उठकर परमात्मा और अपने गुरुदेव को स्मरण करना चाहिये। शौच, मंजन आदि करके आसनों का अभ्यास करना चाहिये। आसनों से थकान हो जाने पर शवासन करना चाहिये। कुम्भक प्राणायाम प्रारम्भ करने से पहिले विपरीत करणी मुद्रा या शीर्षासन करना चाहिये। फिर आचमन करके कुम्भक प्राणायाम का अभ्यास शुरू करना चाहिये। कुम्भक प्राणायामों की संख्या धीरे धीरे बढ़ानी चाहिये। सबसे पहिले अनुलोम-विलोम प्राणायाम करना चाहिये। इस प्राणायाम में चन्द्र नाड़ी या बायें सुर से श्वास भरकर सूर्य नाड़ी या दायें सुर से श्वास छोड़ा जाता है। अनुलोम-विलोम प्राणायाम से नाक के सुर खुल जाते हैं। इसके बाद सूर्य भेदन प्राणायाम करना चाहिये। सूर्य भेदन प्राणायाम तीनों बन्ध लगाकर करना चाहिये।

उज्जायी प्राणायाम

मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः।
यथा लगति कण्ठात्तु हृदयावधि सस्वनम्।। 51।।

मुंह बन्द करके दायें-बायें दोनों सुरों से धीरे - धीरे वायु भरनी चाहिये। श्वास भरते समय गले को सिकोड़ कर शब्द करते हुए वायु को मुंह से गले में और गले से हृदय तक ले जाना चाहिये। थोड़ी देर वायु को मुंह, गले और हृदय तक रोके रखना चाहिये।

पूर्ववत् कुम्भयेत् प्राणं रेचयेदिडया ततः।
श्लेष्मदोषहरं कण्ठे देहानल विवर्धनम्।। 52।।

श्वास भरकर थोड़ी देर तक श्वास रोक कर बायें सुर से वायु निकाल देनी चाहिये। उज्जायी कुम्भक करने से गले में कफ से हुए रोगादि नष्ट हो जाते हैं और शरीर की गर्मी बढ़ जाती है या जठराग्नि (भूख) बढ़ जाती है।

नाडीजलोदरधातुगतदोषविनाशनम्।
गच्छता तिष्ठता कार्यमुज्जाय्याख्यं तु कुम्भकम्।। 53।।

शरीर की नाड़ियों के दोष, जलोदर रोग और शरीर की धातुओं में उत्पन्न सभी विकार उज्जायी प्राणायाम से नष्ट हो जाते हैं। यह प्राणायाम बैठ कर या चलते-फिरते हुए भी किया जा सकता है।

सीत्कारी प्राणायाम

सीत्कां कुर्यात् तथा वक्त्रे घ्राणेनैव विजृम्भिकाम्।
एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः।। 54।।

दोनों ओठों के बीच जीभ लाकर सी-सी शब्द करते हुए मुंह से श्वास भरना चाहिये। थोड़ी देर श्वास रोककर नाक के दोनों सुरों से वायु निकाल देनी चाहिये। सीत्कारी प्राणायाम का अभ्यास करने से शरीर रूप और लावण्य सम्पन्न होकर कामदेव जैसा सुन्दर हो जाता है।

सीत्कारी प्राणायाम से शरीर में शीतलता आती है इसलिये यह प्राणायाम सर्दियों में नहीं करना चाहिये। कफ प्रकृति वाले मनुष्यों को भी सीत्कारी और शीतली प्राणायाम नहीं करने चाहियें।

योगिनी चक्रसामान्य सृष्टिसंहारकारकः।
न क्षुधा न तृषा निद्रा नैवालस्यं प्रजायते।। 55।।

सीत्कारी प्राणायाम के अभ्यास से योगी, योगिनियों के साथ रह सकता है। वह सृष्टि को उत्पन्न और सृष्टि का नाश कर सकता है। उसे भूख, प्यास, नींद और आलस्य नहीं सताता।

भवेत् सत्वं च देहस्य सर्वोपद्रववर्जितः।
अनेन विधिना सत्यं योगीन्द्रो भूमिमण्डले।। 56।।

सीत्कारी प्राणायाम से शरीर का बल बढ़ जाता है और साधक योगीन्द्र बन जाता है। सारी पृथ्वी पर उसे किसी भी संकट का सामना नहीं करना पड़ता।

शीतली प्राणायाम

जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत् कुम्भसाधनम्।
शनकैर्घ्राणरन्ध्राभ्यां रेचयेत् पवनं सुधीः।। 57।।

दोनों ओठों से जीभ बाहर निकालकर और इसे पक्षी की चोंच जैसा पतला और नोकीला बनाकर वायु खींचनी चाहिये। इस प्रकार पूरक करके थोड़ी देर तक कुम्भक कर नाक के दोनों सुरों से वायु को धीरे धीरे निकालना (रेचक) चाहिये।

गुल्मप्लीहादिकान् रोगान् ज्वरं पित्तं क्षुधां तृषाम्।
विषाणि शीतली नाम कुम्भिकेयं निहन्ति हि।। 58।।

पेट की गांठ (रसौली) और जिगर-तिल्ली आदि के रोग, बुखार, पित्त- विकार, भूख, प्यास, और सांप आदि विषैले जन्तुओं के विष शीतली प्राणायाम के अभ्यास से नष्ट हो जाते हैं।

भस्त्रिका प्राणायाम

ऊर्वोरुपरि संस्थाप्य शुभे पादतले उभे।
पद्मासनं भवेदेतत् सर्वपापप्रणाशनम्।। 59।।

जांघों के ऊपर पैरों के साफ तलवे रखकर बैठने से पद्मासन लग जाता है। पद्मासन में बैठने से सभी बुराइयां और रोग आदि नष्ट हो जाते हैं।

सम्यक् पद्मासनं बद्ध्वा समग्रीवोदरं सुधीः।
मुखं संयम्य यत्नेन घ्राणं घ्राणेन रेचयेत्।। 60।।

भली भांति पद्मासन लगाकर और गर्दन तथा पेट को सीधा और समान रखकर बुद्धिमान साधक मुंह बन्द करके नाक के एक सुर से श्वास भरकर दूसरे सुर से श्वास निकाल दे।

यथा लगति हृत् कण्ठे कपालावधि सस्वनम्।
वेगेन पूरयेच्चापि हृत्पद्मावधि मारुतम्।। 61।।

रेचक करते समय श्वास इस प्रकार शब्द के साथ निकालना चाहिये जिससे हृदय, गले और सिर तक रेचक का प्रभाव अनुभव हो। रेचक के बाद श्वास को फिर हृदय तक वेग से भरना चाहिये।

पुनर्विरेचयेत् तद्वत् पूरयेच्च पुनः पुनः।
यथैव लोहकारेण भस्त्रा वेगेन चाल्यते।। 62।।

जैसे लुहार धौंकनी को जल्दी-जल्दी चलाता है वैसे ही शब्द करते हुए नाक से पूरक कर रेचक करना चाहिये।

भस्त्रिका - कुम्भक

तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत् पवनं धिया।
यदा श्रमो भवेत् देहे तदा सूर्येण पूरयेत्।। 63।।

अपने शरीर के प्राणवायु का भस्त्रिका प्राणायाम की तरह समझदारी के साथ रेचक-पूरक करना चाहिये। जब शरीर भस्त्रिका प्राणायाम से थक जाये तब दायें सुर से पूरक करना चाहिये।

यथोदरं भवेत् पूर्णमनिलेन तथा लघु।
धारयेत् नासिकां मध्यतर्जनीभ्यां विना दृढम्।। 64।।

सूर्य नाड़ी या दायें सुर से श्वास वेग से भरना चाहिये जिससे पेट वायु से जल्दी ही भर जाय। पूरक करने के बाद अंगूठे से दायां सुर और अनामिका तथा कनिष्ठिका (छोटी अंगुलि) से बायां सुर अच्छी तरह बन्द करके कुम्भक करना चाहिये। नाक बन्द करने के लिये मध्यमा (बीच की अंगुलि) और तर्जनी (अंगूठे के बाद की अंगुलि) इस्तेमाल नहीं करनी चाहिये।

विधिवत् कुम्भकं कृत्वा-रेचयेत् इडयानिलम्।
वातपित्तश्लेष्महरं शरीराग्नि विवर्धनम्।। 65।।

विधिपूर्वक कुम्भक करके इडा नाड़ी अर्थात् बायें सुर से श्वास धीरे धीरे निकालना चाहिये। यह प्राणायाम वात, पित्त और कफ के दोष दूर करता है और जठराग्नि बढ़ा देता है।

उपरोक्त भस्त्रिका कुम्भक प्राणायाम की विधि यह है कि दायें हाथ की अनामिका और कनिष्ठिका इन दो अंगुलियों से नाक का बायां सुर बन्द करके दायें सुर से साधारण- भस्त्रिका प्राणायाम की तरह वेगपूर्वक रेचक-पूरक करने चाहियें जब रेचक-पूरक करते - करते थकान लगने लगे तब दायें सुर से पूरक करके और दायें सुर को अंगूठे से बन्द करके यथाशक्ति कुम्भक करना चाहिये। फिर बांया सुर खोलकर श्वास निकाल देना चाहिये। अब दांये सुर को अंगूठे से बन्द करके बायें सुर से लुहार की धौंकनी की तरह वेगपूर्वक रेचक-पूरक करने चाहियें। थकान होने पर बायें सुर से पूरक करके और बायें सुर को अनामिका तथा कनिष्ठिका अंगुलियों से बन्द करके यथाशक्ति कुम्भक करना चाहिये। फिर बायां सुर अंगुलियों से बन्द करके दायें सुर से श्वास निकाल देना चाहिये। अब दांये सुर से वेगपूर्वक रेचक-पूरक एक सौ बार करने पर थकान होने पर दांये सुर से पूरक करने के बाद एक सौ बार यथाशक्ति कुम्भक करके बायें सुर से रेचक करना चाहिये। कुम्भक करते हुए तीनों बन्ध भी लगाने चाहियें। फिर बायें सुर से एक सौ बार पूरक-रेचक करने के बाद बन्धपूर्वक कुम्भक करके दायें सुर से रेचक करना चाहिये। भस्त्रिका कुम्भक का अभ्यास यथाशक्ति करना चाहिये।

कुण्डलीबोधकं क्षिप्रं पावनं सुखदं हितम्।
ब्रह्मनाडीमुखे संस्थ कफाद्यर्गलनाशनम्।। 66।।

भस्त्रिका कुम्भक प्राणायाम के अभ्यास से कुण्डलिनी शक्ति जल्दी ही जग जाती है। यह प्राणायाम शरीर को शुद्ध करता है, शरीर के लिये हितकारी और सुखप्रद है। इसके अभ्यास से सुषुम्ना नाड़ी के मुख पर जमा कफ आदि मल नष्ट हो जाते हैं।

सम्यग्गात्रसमुद्भूतं ग्रन्थित्रय विभेदकम्।
विशेषेणैव कर्त्तव्यं भस्त्राख्यं कुम्भकं त्विदम्।। 67।।

हमारे शरीर के बीच में सुषुम्ना नाड़ी में जो तीन ग्रन्थियां (गांठे) जमी हुईं हैं उन ग्रन्थियों को भस्त्रिका कुम्भक प्राणायाम नष्ट कर देता है। इन ग्रन्थियों को ब्रह्म ग्रन्थि, विष्णु ग्रन्थि और रुद्र ग्रन्थि कहा जाता है। इसलिये इन तीन ग्रन्थियों को तोड़ने के लिये भस्त्रिका - कुम्भक प्राणायाम विशेष रूप से करना चाहिये।

यद्यपि पूर्वोक्त सभी कुम्भक प्राणायाम वर्ष की सभी ऋतुओं में लाभ करते हैं फिर भी सूर्य भेदन और उज्जायी प्राणायामों से शरीर गर्म हो जाता है इसलिये ये दोनों प्राणायाम सर्दियों में विशेषरूप से हितकारी हैं। सीत्कारी और शीतली प्राणायाम शीतलता प्रदान करते हैं इसलिये गर्मियों में इनसे विशेष लाभ होता है। भस्त्रिका कुम्भक प्राणायाम समशीतोष्ण है इसलिये यह प्राणायाम सभी ऋतुओं में लाभप्रद है। इसी प्रकार सभी कुम्भक प्राणायाम सब तरह के रोग नष्ट करते हैं। किन्तु सूर्यभेदन कुम्भक प्राणायाम विशेष रूप से वात विकारों और वातविकार से उत्पन्न रोगों को नष्ट करता है। उज्जायी कुम्भक प्राणायाम से कफ दोष से उत्पन्न रोग नष्ट होते हैं। सीत्कारी और शीतली प्राणायामों से पित्त विकार के रोग विशेष रूप से दूर होते हैं। भस्त्रिका कुम्भक प्राणायाम से वात, पित्त और कफ इन तीनों के दोषों से उत्पन्न रोग नष्ट हो जाते हैं।

भ्रामरी प्राणायाम

वेगाद् घोषं पूरकं भृङ्गनादं भृङ्गीनादं रेचकं मन्दमन्दम्।
योगीन्द्राणामेवमभ्यासयोगात् चित्ते जाता काचिदानन्दलीला।। 68।।

भौंरों की गुंजार की तरह शब्द करते हुए वेगपूर्वक पूरक करना चाहिये। फिर यथाशक्ति कुम्भक करके भौंरी की गुंजार जैसा शब्द करते हुए रेचक करना चाहिये। इस प्रकार भ्रामरी प्राणायाम का अभ्यास योगीन्द्रों के मन में अपूर्व आनन्द का संचार करता है।

मूर्च्छा प्राणायाम

पूरकान्ते गाढतरं बद्ध्वा जालन्धरं शनैः।
रेचयेत् मूर्च्छनाख्येयं मनोमूर्च्छा सुखप्रदा।। 69।।

पूरक करने के बाद कसकर जालन्धर बन्ध लगाकर धीरे धीरे रेचक

करने से मूर्च्छा प्राणायाम होता है। मूर्च्छा प्राणायाम के अभ्यास से मन में बेसुधी आ जाती है। बेसुधी की यह अवस्था मन और शरीर को अच्छी लगती है।

प्लाविनी प्राणायाम

अन्तः प्रवर्तितोदर मारुतापूरितोदरः।
पयस्यगाधेऽपि सुखात् प्लवते पद्मपत्रवत्।। 70।।

शरीर में भरी हुई वायु को पेट में भरकर योगी गहरे जल में भी कमल के पत्ते के समान आराम से तैरता रहता है।

प्लाविनी कुम्भक प्राणायाम में नाक के दोनों सुरों से यथाशक्ति पूरक किया जाता है। नाभि पर मन एकाग्र करके सारे शरीर की वायु को पेट में भरकर पेट को फुलाया जाता है और यह भावना की जाती है कि सारे शरीर का वायु पेट में जमा हो गया है। कुछ देर कुम्भक करके रेचक करना चाहिये।

प्राणायामा के भेद

प्राणायामस्त्रिधा प्रोक्तो रेचकपूरककुम्भकैः।
सहितः केवलश्चेति कुम्भको द्विविधो मतः।। 71।।

रेचक, पूरक, और कुम्भक के भेद से प्राणायाम तीन प्रकार का होता है। कुम्भक प्राणायाम दो तरह का होता है – सहित कुम्भक और केवल कुम्भक। सहित कुम्भक भी दो प्रकार का होता है रेचक पूर्वक और कुम्भक पूर्वक।

शरीर के अन्दर की वायु को रोकना प्राणायाम कहलाता है। याज्ञवल्क्य के अनुसार रेचक का लक्षण है –

बहिर्यत् रेचनं वायोः उदरात् रेचकः स्मृतः।

अर्थात् पेट की वायु को बाहर निकालना रेचक कहलाता है। श्वास लेने पर वायु फेफड़ों में भरती है और श्वास छोड़ने पर या रेचक करने पर यह वायु बाहर जाती है इसलिये पेट की वायु को बाहर निकालना असंगत लगता है।

पूरक का लक्षण इस प्रकार है –

बाह्यादापूरणं वायोरुदरे पूरको हिं सः।।

बाहर की वायु को पेट में भरना पूरक होता है। यहाँ भी पेट में वायु भरना असंगत लगता है।

कुम्भक का लक्षण है –

सम्पूर्य कुम्भवत् वायोः धारणं कुम्भको भवेत्।

घड़ा भरने की तरह वायु फेफड़ों में भरकर उसे रोके रखना कुम्भक कहलाता है।

सहित कुम्भक दो प्रकार का होता है – रेचक पूर्वक और कुम्भकपूर्वक। सहित कुम्भक का लक्षण है –

आरेच्यापूर्य वा कुर्यात् स वै सहितकुम्भकः।

रेचक करके बाहर ही श्वास रोके रखना रेचकपूर्वक सहित कुम्भक कहलाता है। पूरक करके श्वास को फेफड़ों में रोके रखना कुम्भकपूर्वक सहित प्राणायाम कहलाता है।

केवल कुम्भक में श्वास जहाँ का तहाँ रोक दिया जाता है केवल कुम्भक के लिये रेचक या पूरक करने की आवश्यकता नहीं होती।

सहित कुम्भक

यावत् केवलसिद्धिः स्यात् सहितं तावदभ्यसेत्।
रेचकं पूरकं मुक्त्वा सुखं यत् वायुधारणम्।।72।।

जब तक केवल कुम्भक प्राणायाम की सिद्धि नहीं हो जाती तबतक सहित कुम्भक प्राणायाम का अभ्यास करते रहना चाहिये। रेचक या पूरक किये बिना ही प्राणवायु को रोके रखना केवल कुम्भक प्राणायाम होता है। सुषुम्ना नाड़ी में प्राण वायु के प्रवेश करने पर पानी से भरे घड़े जैसा शब्द सुनाई देने लगता है तब केवल कुम्भक प्राणायाम सिद्ध हो जाता है।

वास्तव में केवल कुम्भक प्राणायाम सूक्ष्म प्राणायाम है। प्राणायाम का अभ्यास शुरू करने पर देश, काल और संख्या की दृष्टि से अभ्यास किया जाता है। स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास वायु नाक से लगभग 12 अंगुल तक बाहर निकालता है। नाड़ी शुद्धि के अभ्यास से प्रश्वास वायु क्रमशः 12 अंगुल से 11, 10, 9, 8 और इसी रूप से अन्त में नाक से बाहर आयेगा ही नहीं। नाक के अन्दर ही प्रश्वास वायु समाप्त हो जायेगा। इस प्रकार देश (स्थान) परिदर्शन प्राणायाम का अभ्यास किया जाता है।

काल परिदर्शन प्राणायाम के अभ्यास में प्रणव मन्त्र या गायत्री मन्त्र का जप करते हुए समय (काल) का हिसाब रखा जाता है। पूरक में चार बार, कुम्भक में 16 बार और रेचक में आठ बार मन्त्र जप किया जाता है।

संख्या परिदर्शन प्राणायाम, काल परिदर्शन के समान ही है। इसमें जप की संख्या नहीं रखनी होती अपितु श्वास-प्रश्वास की संख्या का हिसाब रखना होता है। यथाशक्ति पूरक, कुम्भक, और रेचक 1:4:2 के अनुपात से करना चाहिये और धीरे धीरे पूरक, कुम्भक, रेचक की संख्या और काल को बढ़ाना चाहिये। इस तरह लम्बी अवधि तक अभ्यास करने से प्राणायाम की जो सिद्धि होती है उसका नाम दीर्घ प्राणायाम है। प्राणायाम में जब श्वास-प्रश्वास बाहर आता ही नहीं, नाक के अन्दर ही रहता है और कुम्भक करने में अधिक कष्ट नहीं होता, तब उसे सूक्ष्म प्राणायाम कहा जाता है। केवल कुम्भक प्राणायाम यही सूक्ष्म प्राणायाम है।

प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः।
कुम्भके केवले सिद्धे रेचक पूरक वर्जिते।। 73।।

यह केवल कुम्भक प्राणायाम रेचक और पूरक के बिना किया जाता है।

न तस्य दुर्लभं किञ्चित् त्रिषु लोकेषु विद्यते।
शक्तः केवलकुम्भेन यथेष्टं वायुधारणात्।। 74।।

केवल कुम्भक के सिद्ध हो जाने पर योगी के लिये तीनों लोकों की कोई भी वस्तु दुलर्भ नहीं रहती। केवल कुम्भक प्राणायाम के अभ्यास से योगी अपनी इच्छानुसार प्राण वायु को रोक सकता है।

राजयोगपदं चापि लभते नात्र संशयः।
कुम्भकात् कुण्डलीबोधः कुण्डलीबोधतो भवेत्।। 75।।

ऐसा योगी निश्चय ही राजयोग, अर्थात् समाधि को सिद्ध कर लेता है। कुम्भक प्राणायाम के अभ्यास से कुण्डलिनी शक्ति जाग जाती है और कुण्डलिनी शक्ति के जाग जाने से -

अनर्गलासुषुम्ना च हठसिद्धिश्च जायते।
हठं विना राजयोगं राजयोगं विना हठः।।
न सिद्ध्यति ततो युग्ममानिष्पत्तिः समभ्यसेत्।। 76।।

सुषुम्ना का मुख खुल जाता है अर्थात् सुषुम्ना के मुख पर जमा कफ आदि मल दूर हो जाता है और हठाभ्यास की सिद्धि हो जाती है अर्थात् मोक्ष मिल जाता है। हठयोग के अभ्यास के बिना राजयोग सिद्ध नहीं होता और राजयोग के बिना हठयोग में सफलता नहीं मिलती। इसलिये योगी को राजयोग सिद्ध होने तक हठ योग और राजयोग दोनों का ही अभ्यास करना चाहिये।

हठयोग से राजयोग

कुम्भक प्राण रोधान्ते कुर्यात् चित्तं निराश्रयम्।
एवमभ्यासयोगेन राजयोगपदं व्रजेत्।। 77।।

कुम्भक प्राणायाम का अभ्यास करते हुए चित्त को किसी भी प्रकार की चिन्ता से मुक्त रखना चाहिये। इस प्रकार कुम्भक का अभ्यास करने से राजयोग सिद्ध हो जाता है।

हठयोग सिद्धि के लक्षण

वपुः कृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले।
अरोगता बिन्दुजयोऽग्निदीपनं नाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम्।। 78।।

हठयोग सिद्ध होने पर शरीर दुबला-पतला हो जाता है। योगी के मुख पर सन्तोष के कारण प्रसन्नता छाई रहती है। उसे अनाहत नाद स्पष्ट सुनाई देता है। उसके नेत्र अत्यन्त निर्मल हो जाते हैं। उसके शरीर में कोई रोग नहीं रहता। उसका वीर्य नष्ट नहीं होता। उसकी जठराग्नि बढ़ जाती है और सारे शरीर की नस-नाड़ियां मल रहित हो जाती हैं।

इति श्रीसहजानन्दसन्तान चिन्तामणि स्वात्माराम योगीन्द्र विरचितायां हठयोगप्रदीपिकायां प्राणायाम विधिकथनं नाम द्वितीयोपदेशः

श्री सहजानन्द की सन्तानचिन्तामणि योगीन्द्र स्वात्माराम द्वारा विरचित ग्रन्थ हठयोग प्रदीपिका में प्राणायाम का अभ्यास करने की विधि से सम्बद्ध दूसरा उपदेश समाप्त।

तृतीय उपदेश

मुद्राविधान

सभी प्रकार के योगों का आधार कुण्डलिनी

सशैलवनधात्रीणां यथाधारो ऽहिनायकः।
सर्वेषां योगतन्त्राणां तथाधारो हि कुण्डली।। 1।।

जिस प्रकार वनों और पर्वतों सहित सारी पृथ्वी का आधार शेषनाग हैं। उसी प्रकार योग के सभी उपायों का आधार कुण्डलिनी है।

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च।। 2।।

जब गुरु की कृपा से सोई हुई कुण्डलिनी जाग जाती है तब शरीर के छहों चक्र खिल जाते हैं और ग्रन्थियां खुल जाती हैं। मूलाधार, स्वधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा ये छह चक्र हमारे शरीर में हैं। ब्रह्मग्रन्थि, विष्णु ग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि ये तीन ग्रन्थियां सुषुम्ना नाड़ी में हैं।

प्राणस्य शून्यपदवी तदा राजपथायते।
तदा चित्तं निरालम्बम् तदा कालस्य वञ्चनम्।। 3।।

तब सुषुम्ना में प्राणवायु बहुत सरलता से चलने लगता है। चित्त को एकाग्र करने के लिये किसी सहारे या विषय की आवश्यकता नहीं रहती अर्थात चित्त; निर्विषय हो जाता है। इस अवस्था में योगी मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर लेता है।

सुषुम्ना के नाम

सुषुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरन्ध्रं महापथः।
श्मशानं शाम्भवी मध्यमार्गश्चेत्येक वाचकाः।।4।।

तस्मात् सर्व प्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्।
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत्।।5।।

सुषुम्ना, शून्यपदवी, ब्रह्मरन्ध्र, महापथ, श्मशान, शाम्भवी और मध्यमार्ग ये सब शब्द सुषुम्ना के पर्यायवाची हैं। अर्थात् इन शब्दों का अर्थ सुषुम्ना नाड़ी है। इसलिये सुषुम्ना के द्वार पर अर्थात् मुख पर सोई हुई कुण्डलिनी शक्ति को जगाने के लिये विभिन्न मुद्राओं का अभ्यास करना चाहिये। कुण्डलिनी शक्ति के जागने पर ही षट्चक्रों का भेदन होता है। ब्रह्म को प्राप्त करने का उपाय या द्वार सुषुम्ना है अतः इसे ब्रह्मद्वार कहते हैं।

दस महामुद्राएं

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।
उड्डयानं मूलबन्धश्च बन्धो जालन्धराभिधः।।6।।

करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम्।
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशकम्।।7।।

महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्डीयानबन्ध, मूलबन्ध, जालन्धर बन्ध, विपरीत करणी, वज्रोली और शक्तिचालन ये दस मुद्राएं हैं। इनके नियमित अभ्यास से बुढ़ापा और मृत्यु नष्ट हो जाती है।

मुद्राएं वास्तव में आसनों के ही प्रकार-भेद हैं।

शरीर के स्नायु तन्तुओं और मांसपेशियों को सबल बनाना आसनों का काम है। अन्तः स्रावी और बहिःस्रावी ग्रन्थियों को सक्रिय और सबल रखना मुद्राओं का काम है। मुद्राएं बहुत प्रकार की हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती को उनके गुरु स्वामी ज्वालानन्द पुरी ने लगभग पचास मुद्राएं सिखाईं थीं। घेरण्ड संहिता में पच्चीस मुद्राओं का वर्णन है। गोरक्षपद्धति में दस मुद्राओं का वर्णन है।

आदिनाथेनोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम्।
वल्लभं सर्व सिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि।। 8।।

शिवजी ने जो दिव्य और ऐश्वर्य प्रदान करने वाली आठ सिद्धियां बताईं हैं वे सब सिद्धियां इन मुद्राओं के अभ्यास से प्राप्त हो जाती हैं। ये सिद्धियां सभी सिद्ध योगियों को अच्छी लगती हैं। इन सिद्धियों को पाना देवताओं के लिये भी कठिन है। इन सिद्धियों के नाम हैं – अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशितत्त्व, वशित्व, और यत्रकामावसायित्व।

गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरण्डकम्।
कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा।। 9।।

इन मुद्राओं को प्रयत्नपूर्वक वैसे ही छिपा कर रखना चाहिये जैसे हीरों की पेटी को छिपाकर रखा जाता है। इन मुद्राओं का वर्णन भी किसी से नहीं करना चाहिये जैसे किसी कुलीन घर की स्त्री के साथ किये गये सम्भोग को नहीं बताया जाता है।

महामुद्रा

पादमूलेन वामेन योनिं सम्पीड्य दक्षिणम्।
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेत् दृढम्।। 10।।

बायें पैर की एड़ी से योनिस्थान (गुदा और लिंग के बीच का स्थान) को दबाना चाहिये और दायां पैर सीधा फैला कर इसकी अंगुलियों और पंजे को दोनों हाथों से पकड़ना चाहिये।

कण्ठे बन्धं समारोप्य धारयेत् वायुमूर्ध्वतः।
यथा दण्डहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते।। 11।।

अब जालन्धर बन्ध और मूलबन्ध लगाने चाहियें और प्राणवायु को सुषुम्ना में भेजने का प्रयत्न करना चाहिये। इस प्रकार महामुद्रा लगाने से कुण्डलिनी शक्ति डण्डे से मारे गये सांप की तरह सीधी हो जाती है।

ऋज्वीभूत्वा तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत्।
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया।। 12।।

महामुद्रा का अभ्यास करने से कुण्डलिनी शक्ति एकदम सीधी हो जाती है। इस अवस्था में प्राण वायु इडा और पिंगला इन दो नाड़ियों को छोड़कर सुषुम्ना में चलने लगती है।

इडा और पिंगला में प्राण वायु का चलना बन्द होने को ही यहाँ इन दोनों नाड़ियों की मरणावस्था कहा गया है। प्राण वायु के सुषुम्ना में प्रवेश करने से पहिले यह वायु इडा और पिंगला में चल रहा था। यह बात 'द्विपुटाश्रया' शब्द से कही गई है।

ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः।
महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः।। 13।।

इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता।
महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयन्ते मरणादयः।
महामुद्रा च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः।। 14।।

महामुद्रा के अभ्यास के समय किया गया कुम्भक करने पर प्राणवायु धीरे-धीरे निकालना (रेचन) करना चाहिये। बड़े बड़े सिद्ध पुरुष महामुद्रा का अभ्यास करते हैं क्योंकि इससे अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन पांच क्लेशों से उत्पन्न शोक, मोह आदि दोष और बुढ़ापा, मृत्यु आदि शरीर के दोष भी नष्ट हो जाते हैं। इसी कारण श्रेष्ठ बुद्धिमान मनुष्य इसकी प्रशंसा करते हैं और इस मुद्रा को महामुद्रा इसीलिये कहते हैं क्योंकि इसके अभ्यास से मृत्यु आदि महान दोष शान्त हो जाते हैं:

महाक्लेशान् मरणादींश्चं दोषान् मुद्रयति शमयति इति महामुद्रा।

चन्द्राङ्गे तु समभ्यस्य सूर्याङ्गे पुनरभ्यसेत्।
यावत् तुल्या भवेत् संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत्।। 15।।

बायीं ओर से महामुद्रा का अभ्यास करने के बाद दायें पैर की एड़ी से योनिस्थान को दबाकर और बायां पैर फैलाकर महामुद्रा का अभ्यास करना चाहिये। बायीं और दायीं ओर से समान संख्या में महामुद्रा का अभ्यास करना चाहिये। बायें पैर की एड़ी से योनिस्थान दबाकर कुम्भक प्राणायाम के साथ महामुद्रा का अभ्यास करने पर प्राणवायु शरीर के बायें भाग में रहता है। दायें

पैर की एड़ी से योनिस्थान दबाकर महामुद्रा का अभ्यास करने पर प्राणवायु शरीर के दायें भाग में रहता है।

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यति।। 16।।

महामुद्रा का अभ्यास करने वाले साधक को भोजन पथ्य या अपथ्य अर्थात् हितकर या हानिकर है यह विचार करने की जरूरत नहीं रहती। वह कड़वी, खट्टी, मीठी, जो भी वस्तुएं खाता है वे सब पच जाती हैं। बासी भोजन भी हजम हो जाता है। यदि साधक भयंकर विष भी खा ले तो वह भी अमृत की तरह पच जाता है।

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः।
तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां योऽभ्यसेत्।। 17।।

जो मनुष्य महामुद्रा का अभ्यास करता है उसके शरीर के यक्ष्मा, कोढ़, गुदा का फोड़ा, गांठें, अपचन आदि सभी रोग नष्ट हो जाते हैं।

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरा नृणाम्।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित्।। 18।।

मनुष्यों को बड़ी सफलता प्रदान करने वाली यह महामुद्रा बता दी गई है। इसे प्रयत्नपूर्वक गुप्त रखना चाहिये और जिस किसी भी व्यक्ति को महामुद्रा करने की विधि नहीं बतानी चाहिये।

महाबन्ध

पार्ष्णि वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत्।
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा।। 19।।

बायें पैर की एड़ी से योनिस्थान को दबाना चाहिये और दायां पैर बायें पैर की जांघ पर रखना चाहिये।

पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चिबुकं दृढम्।
निष्पीड्य वायुमाकुञ्च्य मनो मध्ये नियोजयेत्।। 20।।

पूरक प्राणायाम से प्राणवायु भरकर जालन्धर बन्ध और मूलबन्ध लगाकर मन को सुषुम्ना नाड़ी पर एकाग्र करना चाहिये।

धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः।
सव्याङ्गे तु समभ्यस्य दक्षाङ्गे पुनरभ्यसेत्।। 21।।

प्राणवायु को यथाशक्ति रोककर (कुम्भककर) धीरे-धीरे निकालना चाहिये (रेचक)। बायीं ओर से महाबन्ध का अभ्यास करने के बाद दायें पैर की एड़ी योनि पर लगाकर महाबन्ध लगाना चाहिये।

मतमत्र तु केषांचित् कण्ठबन्धं विवर्जयेत्।
राजदन्तस्थ जिह्वाया बन्धः शस्तो भवेदिति।। 22।।

कुछ लोगों का विचार है कि महाबन्ध में जालन्धर बन्ध नहीं लगाना चाहिये क्योंकि दाढ़ों से ऊपर तालु में जीभ सटाकर बन्ध लगाना जालन्धर बन्ध की अपेक्षा अच्छा होता है।

अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वं गतिनिरोधकः।
अयं खलु महाबन्धो महासिद्धि प्रदायकः।। 23।।

तालु पर जीभ लगाकर बन्ध लगाने से सुषुम्ना के अतिरिक्त शरीर की सभी नाड़ियों में प्राणवायु की ऊपर की ओर गति रुक जाती है। महाबन्ध का अभ्यास महान सिद्धियां प्रदान करता है। शरीर की सभी नाड़ियों में प्राणवायु की ऊपर की ओर गति जालन्धर बन्ध से भी रुक जाती है।

कालपाशमहाबन्ध विमोचन विचक्षणः।
त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः।। 24।।

महाबन्ध से मृत्यु का भय छूट जाता है। महाबन्ध के अभ्यास से भ्रूमध्य में इडा, पिंगला, और सुषुम्ना ये तीनों नाड़ियां मिल जाती हैं और मन, भ्रूमध्य में एकाग्र हो जाता है।

रूपलावण्यसम्पन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना।
महामुद्रा महाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ।। 25।।

जैसे किसी पुरुष के बिना रूप और सौन्दर्य से सम्पन्न युवती स्त्री का जीवन निष्फल हो जाता है वैसे ही महावेध के बिना महामुद्रा और महाबन्ध का अभ्यास व्यर्थ हो जाता है।

महावेध

महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः।
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया।। 26।।

महाबन्ध लगाकर बैठे योगी को एकाग्र मन से नाक के दोनों सुरों से पूरक करके और जालन्धर बन्ध लगाकर कुम्भक करना चाहिये।

शरीर की नाड़ियों में प्राण, अपान आदि वायुओं की ऊपर-नीचे की गति रोकने का अभिप्राय कुम्मक प्राणायाम करना है।

समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः।
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः।। 27।।

जमीन पर दोनों हाथ रखकर और हाथों के सहारे से शरीर को उठाकर दोनों नितम्बों (चूतड़) को धीरे धीरे जमीन पर मारना चाहिये। इस प्रकार महावेध का अभ्यास करने से इडा और पिंगला अर्थात् बायें और दायें सुरों में चलने वाला प्राणवायु सुषुम्ना में चलने लगता है।

सोमसूर्याग्निसम्बन्धो जायते चामृताय वै।
मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत्।। 28।।

महावेध के अभ्यास से चन्द्रमा (इडा), सूर्य (पिंगला) और अग्नि (सुषुम्ना) नाड़ियां आपस में मिल जाती हैं अर्थात् तीनों नाड़ियों का प्राणवायु एक हो जाता है। इस अवस्था में मोक्ष-प्राप्ति निश्चित होती है। इडा और पिंगला में चलने वाले प्राणवायु के अब सुषुम्ना में चले जाने के कारण इडा और पिंगला से प्राणवायु का वियोग अथवा मरण हो जाता है। मरणावस्था उत्पन्न होने के बाद प्राणवायु को धीरे धीरे निकालना (रेचक) चाहिये। रेचक नाक के दोनों सुरों से करना चाहिये।

महावेधोऽयमभ्यासात् महासिद्धिप्रदायकः।
वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः।। 29।।

महावेध का यह अभ्यास योग-मार्ग में बहुत सफलता देता है। इसके अभ्यास से शरीर की झुर्रियां, सफेद बाल और शरीर का कांपना बन्द हो जाता है। इसलिये अच्छे साधक इस मुद्रा का अभ्यास करते हैं।

एतत् त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम्।
वह्निवृद्धिकरं चैवं ह्यणिमादिगुणप्रदम्।। 30।।

महामुद्रा, महावेध और महाबन्ध इन तीन मुद्राओं के अभ्यास सं वृद्धावस्था और मृत्यु दूर रहती है। जठराग्नि बढ़ जाती है और अणिमा, महिमा आदि सिद्धियां जल्दी मिल जाती हैं। शरीर नीरोग रहता है। वीर्य नष्ट नहीं होता। अतः इन मुद्राओं को गुप्त रखना चाहिये।

अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने।
पुण्यसम्भारसंधायि पापौघभिदुरं सदा।
सम्यक् शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम्।। 31।।

ये तीनों मुद्राएं प्रतिदिन और प्रत्येक पहर में आठ तरह से की जाती हैं। इनके अभ्यास से साधक के पुण्य बढ़ते हैं और उसके पाप नष्ट हो जाते हैं। जिन साधकों को सद्गुरु की शिक्षा भली भांति मिली है उन्हें इन मुद्राओं का अभ्यास शुरू में थोड़ा थोड़ा करना चाहिये।

खेचरी मुद्रा

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी।। 32।।

सिर के छेद में जीभ को उल्या करके डालने से खेचरी मुद्रा होती है। खेचरी मुद्रा में आंखें भौंहों के बीच में टिकी रहती हैं।

हमारे काग या छोटी जीभ के पीछे नाक के दोनों सुरों के सिरे हैं। जीभ को काग के पीछे ले जाकर और इस छेद में पहुंचा कर खेचरी मुद्रा की जाती है। इस छेद में गई हुई जीभ धीरे-धीरे ऊपर बढ़ती जाती है और दोनों भौहों के बीच तक पहुंच जाती है।

छेदन चालन दोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत् तावत्।
सा यावत् भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरी सिद्धिः।। 33।।

जीभ की जड़ में नीचे का तन्तु (तांतुआ) काटकर, जीभ को हाथ की अंगुलियों से खींचकर और गाय के थन से दूध निकालने की तरह दुह कर जीभ को धीरे धीरे इतना लम्बा कर लिया जाता है कि वह उलट कर नाक के

सिरों में पहुंच कर भौहों के बीच तक पहुंचने लगती है। यह स्थिति आने पर खेचरी मुद्रा सिद्ध हो जाती है।

स्नुहीपत्र निभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम्।
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत्।। 34।।

स्नुही (सेहुण्ड) के पत्ते जैसे, बहुत तेज, चिकने और साफ पतले ब्लेड जैसे आपरेशन करने के औजार से जीभ के नीचे के तन्तु (नस) का छेदन किया जाता है। नीचे के दांतों और जीभ की जड़ में जिस पतले तन्तु से जीभ जुड़ी हुई है उसे पहिले दिन थोड़ा सा काटा जाता है। इससे खून निकलने लगता है। खून का बहना बन्द करने के लिये सेंधा नमक, हरड़ और कत्थे का चूरा लगाया जाता है। दो-तीन दिन बाद जीभ का तन्तु फिर काटा जाता है। जीभ का तन्तु काटने के बाद जीभ पर सेंधा नमक, हरड़ और कत्थे का चूरा लगाकर अंगूठे और अंगुलियों से जीभ खींची जाती है और हिलाई-डुलाई जाती है। जीभ को खींचने का अभ्यास प्रतिदिन तब तक करना होता है जब तक जीभ उलटकर छोटी जीभ के पीछे जाकर नाक के सिरे में नहीं पहुंचने लगती। जीभ का तन्तु काटने का काम किसी अनुभवी और योग्य व्यक्ति से ही कराना चाहिये क्योंकि इसमें कोई भी गलती होने से बोलने और स्वाद लेने की जीभ की शक्ति नष्ट हो जाने का खतरा होता है।

ततः सैन्धव पथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षचेत्।
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत्।। 35।।

जीभ की जड़ का तन्तु थोड़ा सा काटने के बाद सेंधा नमक और हरड़ का चूरा घाव पर लगाना चाहिये। सात दिन बाद फिर इस तन्तु को थोड़ा सा काटना चाहिये।

एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत्।
षण्मासात् रसनामूलं शिराबन्धः प्रणश्यति।। 36।।

इस प्रकार जीभ की जड़ का तन्तु काटने की प्रक्रिया नियमित रूप से छह महीनों तक करनी चाहिये। छह मास के बाद जीभ की जड़ की नाड़ी पूरी तरह कट जाती है।

कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत्।
सा भवेत् खेचरीमुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते।। 37।।

जीभ को उलट कर इडा, पिंगला और सुषुम्ना के मार्ग भ्रूमध्य (त्रिपथ) में लगाना खेचरी मुद्रा कहलाता है। इस मुद्रा को व्योमचक्र भी कहते हैं।

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति।
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः।। 38।।

जो योगी अपनी जीभ को तालु से ऊपर वाले छेद में पहुंचा कर आधे क्षण भर के लिये भी खेचरी मुद्रा लगाता है वह सांप, बिच्छू आदि के विष से छूट जाता है और उसे रोग, बुढ़ापा तथा मृत्यु भी नहीं सताती।

न रोगो मरणं तन्द्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा।
न च मूर्च्छा भवेत् तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्।। 39।।

जो योगी खेचरीमुद्रा लगाना जानता है उसे रोग, मृत्यु, आलस्य, निद्रा, भूख, प्यास और बेहोशी नहीं सताती।

पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा।
बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्।। 40।।

खेचरी मुद्रा का अभ्यास करने वाले को बीमारियां परेशान नहीं करतीं। वह कर्म फलों के बन्धन में नहीं पड़ता और न ही मृत्यु उसका कुछ बिगाड़ सकती है।

चित्तं चरति खे यस्मात् जिह्वा चरति खे गता।
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता।। 41।।

खेचरी मुद्रा लगाने से चित्त आकाश अर्थात् भौहों के बीच खाली स्थान पर एकाग्र हो जाता है और जीभ भी इसी स्थान पर लग जाती है इसलिये सिद्ध योगियों ने इसे खेचरी मुद्रा कहा है।

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः।
न तस्य क्षरते बिन्दुः कामिन्याश्लेषितस्य च।। 42।।

जो व्यक्ति जीभ ऊपर ले जाकर मस्तक के इस छेद को ढक लेता है

अर्थात् खेचरी मुद्रा लगा लेता है उसका वीर्य स्त्री का आलिंगन करने पर भी स्खलित नहीं होता।

चलितोऽपि यदा बिन्दुः सम्प्राप्तो योनिमण्डलम्।
व्रजत्यूर्ध्वं हृतः शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया।। 43।।

यदि वीर्य स्खलित हो कर नारी की योनि में पहुंच भी जाता है तब भी वह वीर्य वज्रौली मुद्रा की आकर्षण शक्ति के द्वारा खिंच कर अपने स्थान पर लौट आता है। अर्थात् सुषुम्ना के रास्ते बिन्दु स्थान पर लौट जाता है।

ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः।
मासार्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित्।। 44।।

जो योगी किसी एक आसन पर निश्चल बैठकर और खेचरी मुद्रा से जीभ को तालु के ऊपर ले जाकर सहस्रार चक्र से झरने वाले अमृतरस को पीता है वह निस्सन्देह आधे महीने में मृत्यु पर विजय पा लेता है।

नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः।
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति।। 45।।

जिस योगी का शरीर प्रतिदिन अमृतरस से भरता रहता है उसके शरीर पर तक्षक जैसे विषधर सांप के काटने पर भी कोई दुष्प्रभाव नहीं पड़ता।

इन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्त्ति च दीपकः।
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुञ्चति।। 46।।

जैसे अग्नि; लकड़ियों को और दीपक, तेल में भीगी बत्ती को नहीं छोड़ता वैसे ही अमृत रस से परिपूर्ण शरीर को जीवात्मा नहीं छोड़ता।

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम्।
कुलीनं तमहं मन्ये चेतरे कुलघातकाः।। 47।।

जो योगी सदा गोमांस खाता है और अमर वारुणी पीता है उसे मैं कुलीन मानता हूँ और दूसरे योगी कुल को कलंकित करते हैं।

गोशब्देनोदिता जिह्वा तत् प्रवेशो हि तालुनि।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम्।। 48।।

खेचरी के इस प्रकरण में गो शब्द का अभिप्राय जीभ से है। तालु के ऊपर छेद में जीभ ले जाना अर्थात् खेचरी मुद्रा लगाना यहाँ गोमांस खाना कहा गया है। खेचरी मुद्रा से बड़े से बड़े पाप भी नष्ट हो जाते हैं।

जिह्वाप्रवेशसम्भूत वह्निनोत्पादितः खलु।
चन्द्रात् स्त्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी।। 49।।

तालु के ऊपर छेद में जीभ को ले जाने से सारा तालु और भ्रूमध्य का भाग गर्म हो जाता है। इस गर्मी के कारण सहस्रार चक्र की पीयूष ग्रन्थि (Pituitary Gland) से जो अमृतरस झरता है उसे यहाँ अमरवारुणी कहा गया है।

चुम्बन्ति यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्यन्दिनी-
सक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा।
व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शस्त्रागमोदीरणम्
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धांगनाकर्षणम्।। 50।।

जीभ के अगले भाग से पीयूष ग्रन्थि से टपकने वाले अमृत रस को योगी यदि रात दिन पीता है। इस रस का स्वाद नमकीन, कड़वा, खट्टा, दूध, शहद और घी के स्वाद जैसा होता है।

इस अमृतरस का पान करने वाले योगी के शरीर में रोग और बुढ़ापा नष्ट हो जाता है। उसके शरीर पर किसी हथियार का असर नहीं होता है। उसे आठों सिद्धियां (अणिमा-महिमा आदि) मिल जाती हैं अथवा उसके जीवन की अमरता आठ गुनी बढ़ जाती है या वह देवता का पद पा लेता है। सिद्ध पुरुषों की स्त्रियां उसके प्रति आकृष्ट होती हैं।

मूर्ध्नः षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठा-
दूर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिन्तयन्।
उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबे-
न्निर्व्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति।। 51।।

जीभ को तालु के ऊपर छेद में लगाकर अर्थात् खेचरी मुद्रा लगाकर, विपरीतकरणी मुद्रा (शीर्षासन) में रहकर कुण्डलिनी शक्ति का ध्यान करते

हुए सोलह पंखुड़ियों वाले कमल अर्थात् कण्ठ में स्थित विशुद्ध चक्र से टपकने वाले अमृतरस को प्राण वायु और हठ योग के अभ्यास से प्राप्त करके निर्मल, एक धारा से झरने वाले तरंगों से परिपूर्ण चन्द्रामृत को जो योगी पीता है उसका शरीर रोगरहित और कमल नाल (बिस) जैसा मुलायम हो जाता है। ऐसा योगी दीर्घकाल तक जीवित रहता है।

यत् प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरुमूर्धान्तरस्थं-
तस्मिंस्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम्।
चन्द्रात् सारः स्त्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां-
तद् बध्नीयात् सुकरणमथो नान्यथा कार्यसिद्धिः।। 52।।

मेरु पर्वत की तरह सबसे ऊँची अर्थात् नाड़ियों में सर्वश्रेष्ठ सुषुम्ना नाड़ी (मेरु) के ऊपरी भाग के बीच में सोमरस या अमृतरस (प्रालेय) भरा हुआ है। सुषुम्ना नाड़ी के इसी मध्यभाग (विवर) में आत्मतत्त्व या आत्मा विराजमान रहता है ऐसा विद्वान कहते हैं। आत्मा, विभु है अर्थात् वह सभी स्थानों पर उपस्थित रहता है। खेचरी मुद्रा के अभ्यास से इस आत्मतत्त्व के दर्शन होते हैं। सुषुम्ना नाड़ी के ऊपरी भाग से ही गंगा, यमुना, सरस्वती आदि नाम वाली इडा, पिंगला, गान्धारी आदि नाड़ियां निकलती हैं। चन्द्रमा से शरीर का जो सार भाग (अमृतरस) टपककर जठराग्नि में पहुंच कर नष्ट हो जाता है उसके कारण मनुष्यों की मृत्यु हो जाती है। इसलिये इस अमृतरस को नष्ट न होने देने के लिये खेचरी (सुकरण) मुद्रा लगानी चाहिये। इस उपाय के अतिरिक्त किसी और उपाय से योगी को सफलता नहीं मिल सकती।

सुषिरं ज्ञानजनकं पञ्चस्त्रोतः समन्वितम्।
तिष्ठते खेचरीमुद्रा तस्मिन् शून्ये निरञ्जने।। 53।।

योगी शून्य में अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र में खेचरी मुद्रा लगाने का अभ्यास करते हैं। इस ब्रह्मरन्ध्र से इडा, पिंगला और सुषुम्ना आदि पांच प्राणवाहिनी नाड़ियों की उत्पत्ति होती हैं। यहीं पर अलौकिक आत्मसाक्षात्कार होता है। यह ब्रह्मरन्ध्र; अविद्या अर्थात् अज्ञान से उत्पन्न शोक मोह आदि से रहित (निरंजन) है।

कहीं कहीं पर **पञ्चस्त्रोतःसमन्वितम्** के स्थान पर **'सप्तस्त्रोतः समन्वितम्'** पाठ भी मिलता है।

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी।
एको देवो निरालम्ब एकावस्था मनोन्मनी।। 54।।

सम्पूर्ण सृष्टि को अपने अन्दर समेट लेने वाला और उत्पन्न करने वाला एकमात्र बीज प्रणव रूप ही है। सभी मुद्राओं में खेचरी मुद्रा सबसे प्रधान है। किसी के भी आश्रय या सहारे पर न रहने वाला (निरालम्ब) एक ही परमात्मतत्त्व है और मनोन्मनी अवस्था में ही मन एकाग्र होता है।

उड्डीयान बन्ध

बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः।
तस्मादुड्डीयानाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः।। 55।।

उड्डीयान बन्ध के लगाने से इडा और पिंगला नाड़ियों में बंधा हुआ प्राणवायु उड़कर सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाता है इसलिये योगी इस बन्ध को उड्डीयान बन्ध कहते हैं।

उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः।
उड्डीयानं तदेव स्यात्तत्र बन्धोऽभिधीयते।। 56।।

शरीर के खाली स्थानों में सदा गतिशील प्राणवायु (महाखग) उड्डीयान बन्ध लगाने से सुषुम्ना नाड़ी में निरन्तर प्रवाहित होता रहता है, इसीलिये इस बन्ध को उड्डीयान बन्ध कहते हैं। इस बन्ध को लगाने की विधि अगले श्लोक में बताई जाती है।

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत्।
उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी।। 57।।

पेट में नाभि से ऊपर और नीचे का भाग पीठ से सटाकर उड्डीयान बन्ध लगाया जाता है। पद्मासन या सिद्धासन में बैठ कर श्वास बाहर निकाल कर और श्वास को बाहर ही रोककर पेट को पीठ से लगा कर उड्डीयान बन्ध किया जाता है। उड्डीयान बन्ध के अभ्यास से मृत्यु दूर रहती है। अर्थात् यह बन्ध मृत्युरूपी हाथी के लिये शेर जैसा है।

उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा।
अभ्यसेत् सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते।। 58।।

उड्डीयान बन्ध लगाना बहुत सरल है। इस बन्ध को लगाने की विधि अपने गुरु से सीखनी चाहिये। जो व्यक्ति इस बन्ध का लगातार अभ्यास करता है वह यदि बूढ़ा भी हो गया है तो यह बन्ध लगाने से युवक जैसा बन जायेगा। यह बन्ध सरल होने के साथ साथ स्वाभाविक भी है।

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात् प्रयत्नतः।
षण्मासमभ्यसेत् मृत्युं जयत्येव न संशयः।। 59।।

श्वास निकाल कर और श्वास बाहर ही रोककर नाभि के ऊपर और नीचे के पेट को प्रयत्न पूर्वक पीठ की ओर खींचना चाहिये। इस प्रकार उड्डीयान बन्ध लगाने का अभ्यास छह मास तक करने पर साधक निश्चय ही मृत्यु पर विजय पा लेता है। इसका तात्पर्य यही है कि साधक स्वस्थ हो जाता है।

सर्वेषामेव बन्धानामुत्तमो ह्युड्डियानकः।
उड्डियाने दृढे बन्धे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत्।।60।।

उड्डीयान बन्ध सभी बन्धों में श्रेष्ठ है। कसकर उड्डीयान बन्ध लगाने का अभ्यास करने से सहज ही मोक्ष मिल जाता है।

मूलबन्ध

पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद् गुदम्।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते।। 61।।

एड़ी से योनिस्थान को दबाकर गुदा को सिकोड़ना चाहिये और अपान वायु को ऊपर उठाना चाहिये। यह मूलबन्ध लगाने की विधि है।

अधोगतमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्।
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धं हि योगिनः।। 62।।

मूलाधार चक्र को सिकोड़ने से नीचे जाने वाला अपान वायु मूलबन्ध की शक्ति से ऊपर उठने लगता है। योगी इस अभ्यास को मूलबन्ध कहते हैं।

गुदं पाष्ण्या तु सम्पीड्य वायुमाकुञ्चयेद् बलात्।
वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः।।63।।

योगबीज में मूलबन्ध लगाने की जो विधि है उसके अनुसार गुदा को

एड़ी से दबाकर और गुदा को बार बार सिकोड़ कर अपान वायु को बलपूर्वक ऊपर उठाने का प्रयत्न किया जाता है जिससे अपान वायु सुषुम्ना नाड़ी में प्रविष्ट हो सके।

प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम्।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः ।। 64 ।।

प्राण और अपान वायु, अनाहत ध्वनि (नाद) और बिन्दु (शब्द का विस्तारहीन मानसिक भाव मात्र) ये चारों मूलबन्ध के अभ्यास से परस्पर मिल जाते हैं। यह स्थिति आने पर योगाभ्यास निस्सन्देह सफल हो जाता है। भावार्थ यह है कि मूलबन्ध लगाने पर प्राणवायु और अपान वायु आपस में मिलकर सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाती हैं। इस स्थिति में अनाहत नाद प्रकट होता है। अब इस अनाहत नाद के साथ प्राण और अपान वायु हृदय से उठकर अनाहत नाद को बिन्दु के साथ मिलाकर मस्तक में चले जाते हैं और योगसिद्धि हो जाती है।

इस स्थल पर टीकाकारों ने बिन्दु शब्द का अर्थ अनुस्वार क्यों किया है इसका स्पष्टीकराण नहीं दिया गया है।

बिन्दु का शाब्दिक अर्थ अनुस्वार है। योग की परिभाषा में बिन्दु का अर्थ वीर्य प्रचलित है किन्तु इस प्रसंग में बिन्दु का अर्थ वीर्य नहीं है और टीकाकारों ने भी यह अर्थ नहीं किया है।

इस सन्दर्भ में धारणा के सम्बन्ध में श्री स्वामी हरिहरानन्द आरण्य के ये विचार मननीय हैं –

धारणा प्रधानतः दो प्रकार की होती है –

तत्त्वज्ञानमय तथा वैषयिक धारणा।

वैषयिक धारणाओं में शब्द तथा ज्योति की धारणा प्रधान होती है। इनमें हार्दज्योति का अवलम्बन करके बुद्धितत्त्व की धारणा (अर्थात् ज्योतिष्मती प्रवृत्ति) करना प्रधान है। इनकी साधना निःशब्द स्थान पर (गिरी कन्दर आदि में) करनी चाहिये। निःशब्द स्थान में चित्त स्थिर करने से, विशेषकर कुछ प्राणायाम करने से नाना प्रकार के अभ्यन्तरस्थ नाद (प्रायः पहिले दायें कान में) सुनाई पड़ते हैं। शंखनाद, घण्टानाद, करतालनाद, मेघनाद आदि ही अनाहत नाद कहलाते हैं। अभ्यस्त होने पर वे सारे शरीर में, हृदय में, मस्तक

में और सुषुम्ना के भीतर सुने जाते हैं। इन आध्यात्मिक देशों (स्थानों) में उनका श्रवण करते करते क्रमशः बिन्दु में पहुंचना पड़ता है। शब्द वस्तुतः क्रिया की धारा है। **अतः शब्द में चित्त स्थिर होने पर दैशिक विस्तारज्ञान का लोप हो जाता है। वही बिन्दु कहलाता है। शब्द का विस्तारहीन मानसिक भावमात्र ही बिन्दु है।** अतः उसके द्वारा मन में पहुंचना होता है। इस प्रकार इस मार्ग के द्वारा उच्च तत्त्व में जाना पड़ता है। शास्त्र में कहा है 'नाद के अन्तर्गत बिन्दु और बिन्दु के अन्तर्गत मन है। वह मन जब विलीन हो जाता है तभी विष्णु का परम पद प्राप्त होता है।' निम्नलिखित उद्धरणों में यही भाव है –

अनाहतस्य शब्दस्य ध्वनिर्य उपलभ्यते।
ध्वनेरन्तर्गतं ज्ञेयं ज्ञेयस्यान्तर्गतं मनः।
मनस्तत्र लयं याति तद् विष्णोः परमं पदम्।। हठ० प्र० 4/100

अन्तरङ्ग समुद्रस्य रोधे वेलायतेऽपि वा।
ब्रह्म प्रणव संलग्न नादो ज्योतिर्मयात्मकः।। नादबिन्दूपनिषत् 46

मनस्तत्र लयं याति तद् विष्णोः परमं पदम्।
तावदाकाश संकल्पो यावच्छब्दः प्रवर्तते।। नादबिन्दूपनिषद 47
ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिर्ज्योतिरन्तर्गतं मनः।
तन्मनो विलयं याति तद् विष्णोः परमं पदम्।। घेरण्ड 5/81

अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात्।। 65।।

मूलबन्ध का लगातार अभ्यास करने से प्राण और अपान वायु मिलकर एक हो जाते हैं। योगी के शरीर में मल-मूत्र बनना कम हो जाता है। वृद्ध व्यक्ति भी युवक जैसा शक्ति सम्पन्न हो जाता है।

अपाने ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमण्डलम्।
तदाऽनलशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽऽहता।।66।।

मूलबन्ध लगाने से नीचे जानेवाली अपान वायु के ऊपर उठने पर नाभि के नीचे त्रिकोण में स्थित अग्नि (जठराग्नि) अपानवायु से प्रदीप्त हो जाती है।

ततो यातो वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम्।
तेनात्यन्तप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा।।67।।

अपान वायु से देह के इस त्रिकोण की अग्नि के प्रदीप्त होने पर अपान वायु और अग्नि ऊपर उठकर प्राण वायु से मिल जाते हैं। प्राणवायु से मिलकर शरीर की यह अग्नि और अधिक प्रदीप्त हो जाती है।

तेन कुण्डलिनी सुप्ता संतप्ता सम्प्रबुद्ध्यते।
दण्डाहता भुजङ्गीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत्।।68।।

शरीर की इस अत्यन्त प्रज्ज्वलित अग्नि के ताप से सोई हुई कुण्डलिनी शक्ति जागकर उसी प्रकार सीधी हो जाती है जैसे डण्डे की मार से सर्पिणी फुफकार मारकर सीधी हो जाती है।

बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत्।
तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा।।69।।

डण्डे की मार से सीधी हुई सर्पिणी जैसे अपने बिल में घुस जाती है उसी प्रकार जागी हुई कुण्डलिनी शक्ति सीधी होकर सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाती है। अतः योगियों को मूलबन्ध का अभ्यास सदैव करना चाहिये।

जालन्धर बन्ध

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम्।
बन्धो जालन्धराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः।।70।।

कण्ठ (गले) को सिकोड़ कर ठोड़ी को कसकर कण्ठकूप में लगाना चाहिये। इसके अभ्यास से बुढ़ापा और मृत्यु दूर रहती है। यह जालन्धर बन्ध कहलाता है।

बध्नाति हि शिराजालमधोगामि नभोजलम्।
ततो जालन्धरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः।।71।।

जालन्धर बन्ध लगाने से नाड़ियों का जाल एक स्थान पर अर्थात् गले में बंध जाता है। नाड़ियों का मार्ग गले में रुक जाने के सहस्रार से टकपने वाला अमृत नीचे नहीं जा पाता। नाड़ियों के जाल (समूह) को एक जगह बांध देने

के कारण यह बन्ध जालन्धर बन्ध कहलाता है। इस बन्ध का अभ्यास करने से गले के और थायराइड ग्रन्थि के सभी तरह के रोग नष्ट हो जाते हैं।

जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसंकोच लक्षणे।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति।। 72।।

गले को सिकोड़ कर जालन्धर बन्ध लगाने पर सहस्रार से टपकने वाला अमृत रस जठराग्नि में पड़कर नष्ट नहीं हो जाता। यह बन्ध लगाने से प्राणवायु में भी कोई दोष या विकार नहीं आता है।

कण्ठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तम्भयेत् दृढम्।
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधार बन्धनम्।। 73।।

कण्ठ या गला सिकोड़ कर जालन्धर बन्ध कस कर लगाने से इडा और पिंगला ये दो नाड़ियां मुख्य रूप से बंध जाती हैं। जालन्धर बन्ध लगाने का स्थान विशुद्ध चक्र है जिसे मध्यचक्र भी कहते हैं। जालन्धर बन्ध लगाने से शरीर के जिन सोलह स्थानों पर मन केन्द्रित किया जाता है वे भी बंध जाते हैं। मन लगाने के सोलह स्थान इस प्रकार हैं – पैर का अंगूठा, टखना और एड़ी, घुटना, जांघ, सीवनी (मूलाधार या योनिस्थान), लिंग (स्वाधिष्ठान), नाभि (मणिपूर), हृदय (अनाहत), कण्ठ (विशुद्ध), छोटी जीभ (लम्बिका, कौआ), नासिका का अग्रभाग, भ्रूमध्य (आज्ञा चक्र), माथा, सिर, ब्रह्मरन्ध्र। कुछ के मत में जिह्वाग्र, नेत्र और तालु (ऊध्वर्दन्ताधार) भी इनमें सम्मिलित हैं। तान्त्रिकों के अनुसार मूलाधार आदि सात चक्र तथा बिन्दु, अर्द्धेन्दु, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिका, समनी और ध्रुवमण्डल षोडशाधार हैं।

मूलस्थानं समाकुञ्च्य उड्डियानं तु कारयेत्।
इडां च पिङ्गलां बद्ध्वा वाहयेत् पश्चिमे पथे।। 74।।

मूलाधार बन्ध और उड्डीयान बन्ध लगाकर, इडा और पिंगला इन दोनों नाड़ियों को जालन्धर बन्ध के द्वारा बन्द करके प्राण-वायु को सुषुम्ना नाड़ी में ले जाना चाहिये।

अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम्।
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा।। 75।।

इस प्रकार तीनों बन्ध लगाकर प्राणवायु को सुषुम्ना में प्रवाहित करने

का अभ्यास करने से प्राणवायु का लय हो जाता है अर्थात् प्राण वायु सुषुम्ना में पहुंचकर स्थिर हो जाती है। ऐसी अवस्था आ जाने पर शरीर की मृत्यु नहीं होती और बुढ़ापा तथा सारे रोग दूर हो जाते हैं।

लयावस्था में चित्त में कोई भी वासना नहीं उठती और चित्त भी सभी विषयों को भूल जाता है। **अपुनर्वासनोत्थानाल्लयो विषय विस्मृतिः।।** हठ० प्र० 4/34।।

बन्धत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम्।
सर्वेषां हठतन्त्राणां साधनं योगिनो विदुः।। 76।।

ये तीनों बन्ध बहुत लाभदायक और उत्तम हैं। महान सिद्धि प्राप्त योगी भी इनका नियमित अभ्यास करते हैं। योगी जानते हैं कि इन तीनों बन्धों के द्वारा हठयोग की सारी क्रियाएं की जाती हैं।

यत् किञ्चित् स्त्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिणः।
तत् सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः।। 77।।

दिव्यस्वरूप चन्द्रमा से जो थोड़ा सा अमृत रस झरता है वह सब सूर्य जला देता है, इसीलिये शरीर में बुढ़ापा आ जाता है। तालुमूल में (ब्रह्मरन्ध्र) चन्द्रमा का स्थान है और नाभि में सूर्य का। सहस्त्रार की पीयूष ग्रन्थि से टपकने वाले अमृत रस को योगी खेचरी मुद्रा के द्वारा ग्रहण करते रहते हैं इसीलिये उन्हें ध्यान-समाधि की अवस्था में भूख-प्यास नहीं सताती।

गोरक्षनाथ के अनुसार भी-

नाभिदेशे स्थितो नित्यं भास्करो दहनात्मकः।
अमृतात्मास्थितो नित्यं तालुमूले च चन्द्रमा।
वर्षत्यधोमुखश्चन्द्रो ग्रसत्यूर्ध्वमुखो रविः।
करणं तच्च कर्तव्यं येन पीयूषमाप्यते।।

अर्थात् नाभि में जलाने वाला सूर्य रहता है और तालुमूल में अमृत का स्रोत चन्द्रमा। चन्द्रमा अपने मुख से जो अमृतरस बरसाता है उसे ऊपर मुख किये हुए सूर्य जला डालता है, इसलिये यह अमृतरस नष्ट न होने देने के लिये विपरीत करणी मुद्रा करनी चाहिये।

विपरीतकरणी मुद्रा का अभ्यास प्रतिदिन करने वाले की जठराग्नि बहुत बढ़ जाती है, इसलिये ऐसे साधक को पर्याप्त भोजन करना चाहिये।

विपरीतकरणी मुद्रा

तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुख वञ्चनम्।
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थ कोटिभिः।। 78।।

ऐसा एक दिव्य उपाय है जिसके अभ्यास से सूर्य की अग्नि से चन्द्रमा से झरते हुए अमृत रस को बचाया जा सकता है। यह उपाय सद्गुरु से जानना चाहिये। करोड़ों शास्त्रों के अर्थ जानने से भी यह उपाय नहीं जाना जा सकता।

ऊर्ध्वं नाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशि।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते।। 79।।

नाभि को ऊपर करके और तालु को नीचे लाकर सूर्य को ऊपर और चन्द्रमा को नीचे लाया जाता है। यह विपरीत करणी मुद्रा सद्गुरु से सीखनी पड़ती है।

विपरीत करणी मुद्रा इन दिनों दो प्रकार से सिखाई जाती है। कुछ लोग शीर्षासन को ही विपरीतकरणी मुद्रा मानते हैं। कुछ के अनुसार अर्धसर्वाङ्गासन विपरीतकरणी मुद्रा है।

नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी।
आहारो बहुलस्तस्य सम्पाद्यः साधकस्य च।। 80।।

अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत् क्षणात्।
अधः शिरश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात् प्रथमे दिने।। 81।।

यदि साधक विपरीतकरणी के नियमित अभ्यास के समय थोड़ा भोजन करेगा तो जठराग्नि उसके शरीर को कुछ ही दिनों में जला डालेगी अर्थात् उसका शरीर सूख जायेगा। विपरीत करणी मुद्रा में सिर नीचा करके और पैर ऊपर करके पहिले दिन थोड़ी देर रुकना चाहिये। टीकाकारों ने विपरीत करणी मुद्रा करने की जिस विधि का उल्लेख किया है वह शीर्षासन की विधि ही है। इस श्लोक से भी यही प्रकट होता है।

क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेत् च दिने दिने।

वलितं पलितं च षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते।
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत् स तु कालजित्।। 82।।

विपरीतकरणी मुद्रा का अभ्यास प्रतिदिन थोड़ा थोड़ा बढ़ाना चाहिये। छह महीने तक विपरीतकरणी का अभ्यास करने के बाद शरीर की झुर्रियां और सफेद बाल दिखाई नहीं देते। जो साधक प्रतिदिन एक पहर तक विपरीतकरणी करता है वह मृत्यु को भगा देता है।

वज्रोलि मुद्रा

स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना।
वज्रोलिं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम्।। 83।।

जो योगी वज्रोलि मुद्रा का अभ्यास करना जानता है वह योगाभ्यास के लिये उपयुक्त नियमों का पालन न करके और अपनी मर्जी से रहकर भी अणिमा आदि सिद्धियां पाने का अधिकारी होता है।

तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित्।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी।। 84।।

वज्रोलि के अभ्यास के लिये दो वस्तुओं की आवश्यकता होती है – दूध की और अपने वश में रहने वाली नारी की। ये दोनों ही वस्तुएं कठिनाई से मिलती हैं।

वज्रोलि मुद्रा का अभ्यास लिंग या उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय) से सबसे पहिले वायु, फिर पानी और इसके बाद दूध खींचकर किया जाता है। दूध खींचने का अभ्यास हो जाने के बाद दूध से घनी तरल वस्तु तेल को खींचा जाता है। तेल के बाद शहद जैसे घने और भारी पदार्थ को खींचा जाता है और फिर पारे को। ये सभी पदार्थ न्यौली घुमाकर और शिश्न (मूत्रेन्द्रिय) में शुरू में रबर का पतला कैथेटर और अभ्यास बढ़ने पर धातु का मोटा कैथेटर डालकर खींचे जाते हैं। थोड़ी देर बाद ही इन्हें शरीर से निकाल दिया जाता है। वज्रोलि का अभ्यास करने के बाद मयूरासन में कुछ देर तक रहने से अन्दर रुका हुआ पानी, दूध, आदि निकल जाता है। इस मुद्रा के अभ्यास में तनिक सी भी गलती या असावधानी होने से स्वास्थ्य सदा के लिये नष्ट हो जाता है। वैसे भी वज्रोलि मुद्रा के अभ्यास में प्रतिक्षण पथ भ्रष्ट होने की आशंका बनी रहती है।

वज्रोलि, सहजौली और अमरौली मुद्राएं वाममार्गियों और तान्त्रिकों में प्रचलित हैं। अध्यात्म के क्षेत्र में इन्हें नहीं अपनाया जाता।

मेहनेन शनैः सम्यक् उर्ध्वाकुञ्चनमभ्यसेत्।
पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोली सिद्धिमाप्नुयात्।। 85।।

शिश्न (मूत्रेन्द्रिय) के द्वारा वायु, पानी, दूध, आदि वस्तुएं न्यौली करके खींचने का अभ्यास धीरे - धीरे करना चाहिये। नियमित अभ्यास करने से स्त्री या पुरुष वज्रोलि मुद्रा में सफलता पा लेते हैं। वज्रोलि मुद्रा के द्वारा सम्भोग के बाद स्त्री की योनि में पहुंचे हुए वीर्य को फिर खींचा जाता है।

यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकन्दरे।
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात्।। 86।।

पतली और साफ रबर की या धातु की पतली नली शिश्न में डालकर शिश्न के छेद में फूंक मार कर वायु प्रविष्ट कराये।

नली में मुंह लगाकर फूंक मारने की अपेक्षा न्यौली से वायु खींचना अधिक उपयोगी होता है।

नारीभगे पतत् बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत्।
चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत्।। 87।।

स्त्री की योनि में गिरे हुए वीर्य को वज्रोलि मुद्रा के द्वारा खींच लेना चाहिये। यदि अपना वीर्य क्षरित होने लगे तो उसे भी स्त्री योनि में पहुंचने से पहिले ही वज्रोलि मुद्रा से खींच लेना चाहिये।

एवं संरक्षयेत् बिन्दुं मृत्युं जयति योगवित्।
मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्।। 88।।

इस प्रकार वज्रोलि से अपने वीर्य की रक्षा करने वाला योगी मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है क्योंकि वीर्य को नष्ट करने से मृत्यु हो जाती है और वीर्य को शरीर में सुरक्षित रखने से दीर्घायु होती है।

सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दुधारणात्।
यावद् बिन्दुः स्थिरो देहे तावत् कालभयं कुतः।। 89।।

बिन्दु या वीर्य की रक्षा करने से शरीर से सुगन्ध आने लगती है। जब तक शरीर में वीर्य संचित रहता है तब तक मृत्यु नहीं होती।

चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम्।
तस्मात् शुक्रं च मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः।। 90।।

मनुष्यों का वीर्य; मन के वश में रहता है और हमारे जीवन का आधार वीर्य है। इसलिये हमें मन और वीर्य की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये। मन में काम वासना के विचार आने पर ही शरीर में उत्तेजना आती है और वीर्य नष्ट हो जाता है।

ऋतुमत्या रजोप्येवं बीजं बिन्दुं च रक्षयेत्।
मेढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यास योगवित्।। 91।।

ऋतुमती स्त्री के रज और बीज की भी वीर्य की तरह रक्षा करनी चाहिये। वज्रोलि को अच्छी तरह करने वाला अपने शिश्न से रज और बीज (वीर्य) को भी खींच लेता है। वज्रोलि की यह प्रक्रिया अटपटी लगती है। वैसे भी यह श्लोक प्रक्षिप्त है।

सहजोली

सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः।
जले सुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसम्भवम्।। 92।।

सहजोली और अमरोली मुद्राएं भी वज्रोलि मुद्रा के भेद ही हैं। इन तीनों मुद्राओं का परिणाम एक ही होता है। गाय के गोबर की राख को पानी में मिलाकर।

वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वाङ्गलेपनम्।
आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात्।। 93।।

स्त्री और पुरुष वज्रोलि के लिये सम्भोग करने के बाद पानी में मिली यह राख शरीर पर मलें।

सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा।
अयं शुभकरो योगो भोगयुक्तोऽपि मुक्तिदः।। 94।।

सहजोलि की यह विधि योगियों को सदा श्रद्धा के साथ देखनी चाहिये। यह योग विधि कल्याणकारी है। सहजोलि भोगयुक्त होने पर भी मोक्ष दिलाती है।

अयं योगः पुण्यवतां धीराणां तत्त्वदर्शिनाम्।
निर्मत्सराणां सिद्ध्येत् न तु मत्सरशालिनाम्।। 95।।

यह सहजोलि और वज्रोली योग पुण्यशाली, धैर्यशाली, तत्त्वदर्शी और ईर्ष्यारहित, साधकों को सफलता प्रदान करता है। ईर्ष्यालु व्यक्ति इससे लाभ नहीं उठा सकते।

अमरोली

पित्तोल्वणत्वात् प्रथमाम्बुधारां विहाय निःसारतयान्त्यधारा।
निषेव्यते शीतलमध्यधारा कापालिके खण्डमतेऽमरोली।। 96।।

पित्त अधिक होने के कारण वीर्य की पहली धारा को और कोई सार न रह जाने के कारण वीर्य की अन्तिम धारा को छोड़कर बीच की ठण्डी धारा को खण्ड-कापालिक सम्प्रदाय वाले पीते हैं। यह क्रिया अमरोली कहलाती है।

अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन् दिने दिने।
वज्रोलीमभ्यसेत् सम्यगमरोलीति कथ्यते।। 97।।

जो साधक इस अमरी को प्रतिदिन पीता है और नाक में डालता है तथा भलीभांति वज्रोली का अभ्यास करता है। उसकी ये सब क्रियाएं अमरोली कहलाती हैं।

अभ्यासान्निसृतां चान्द्रीं विभूत्या सह मिश्रयेत्।
धारयेदुत्तमांगेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते।। 98।।

अमरोली के अभ्यास से निकले वीर्य को राख में मिलाकर अपने सिर, माथे, आंखों, गले, कन्धों और हृदय पर लगाने से दिव्यदृष्टि हो जाती है।

पुंसो बिन्दुं समाकुञ्च्य सम्यगभ्यासपाटवात्।
यदि नारी रजो रक्षेत् वज्रोल्या सापि योगिनी।। 99।।

यदि कोई स्त्री भी वज्रोली के द्वारा पुरुष का वीर्य खींच लेती है और अपने रज को सुरक्षित रखती है तो वह भी योगिनी होती है।

तस्याः किंचित् रजो नाशं न गच्छति न संशयः।

तस्याः शरीरे नादश्च बिन्दुतामेव गच्छति।। 100।।

वज्रोली का अभ्यास करने वाली स्त्री का रज निस्सन्देह नष्ट नहीं होता। ऐसी स्त्री के शरीर का अनाहत नाद बिन्दु बन जाता है।

स बिन्दुस्तद्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहगौ।
वज्रोल्याभ्यासयोगेन सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः।। 101।।

यह वीर्य और रज वज्रोली के अभ्यास से अपने शरीर में मिलकर सम्पूर्ण सिद्धियां प्रदान करते हैं।

रक्षेदाकुञ्चनादूर्ध्वं या रजः सा हि योगिनी।
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद् ध्रुवम्।। 102।।

जो स्त्री वज्रोली के अभ्यास से अपना रज ऊपर खींचकर इसकी रक्षा करती है वह योगिनी ही होती है। ऐसी स्त्री भूत और भविष्य की घटनाएं जान लेती है और उसकी गति आकाश में भी होती है।

देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्यभ्यासयोगतः।
अयं पुण्यकरो योगो भोगे भुक्तेऽपि मुक्तिदः।। 103।।

वज्रोली का अभ्यास करने से साधक देहसिद्धि को अर्थात् रूप, लावण्य, शक्ति और शरीर की वज्र जैसी दृढ़ता को प्राप्त कर लेता है। वज्रोली योग, पुण्य करने वाला और भोग करने पर भी मुक्ति प्रदान करने वाला है।

शक्तिचालन

कुण्डलिनी के नाम

कुटिलाङ्गी कुण्डलिनी भुजङ्गी शक्तिरीश्वरी।
कुण्डल्यरुन्धती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः।। 104।।

कुटिलांगी, कुण्डलिनी, भुजंगी, शक्ति, ईश्वरी, कुण्डली और अरुन्धती ये सब शब्द पर्यायवाची हैं अर्थात कुण्डलिनी के नाम हैं।

उद्घाटयेत् कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात्।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत्।। 105।।

जैसे चाबी से दरवाजा खोल दिया जाता है उसी प्रकार कुण्डलिनी को जगाकर योगी अपने लिये मोक्ष का द्वार खोल लेता है।

येन स्थानेन गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम्।
मुखेनाच्छाद्य तद् द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी।। 106।।

जिस सुषुम्ना मार्ग से रोग, शोक आदि से रहित परमेश्वर के धाम ब्रह्मरन्ध्र में पहुंचा जाता है उस सुषुम्ना नाड़ी के मुख को बन्द करके कुण्डलिनी शक्ति सोई हुई है।

कन्दोर्ध्वं कुण्डली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम्।
बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित्।। 107।।

कुण्डलिनी शक्ति कन्द के ऊंपर सोई हुई है। यह शक्ति योगियों को मोक्ष के मार्ग पर ले जाती है और मूर्खों को जन्म-मरण के बन्धन में डाले रखती है। इस शक्ति का रहस्य जानने वाला ही योगी है।

कुण्डली कुटिलाकारा सर्पवत् परिकीर्तिता।
सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः।। 108।।

योगियों का कहना है कि यह कुण्डलिनी शक्ति सांप की तरह टेढ़ी-मेढ़ी है। जो योगी इस शक्ति को जगा देता है वह निश्चय ही मुक्त हो जाता है।

गंगायमनुयोर्मध्ये बालरण्डां तपस्विनीम्।
बलात्कारेण गृह्णीयात् तद् विष्णोः परमं पदम्।। 109।।

गंगा और यमुना अर्थात् इडा और पिंगला इन दो नाड़ियों के बीच में बाल विधवा तपस्विनी कुण्डलिनी, सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग में रास्ता रोककर सोई पड़ी है। इस कुण्डलिनी शक्ति को जो योगी हठयोग के अभ्यास से जगा देता है वह परम ब्रह्म के पद को प्राप्त कर लेता है।

इडा भगवती गंगा पिंगला यमुना नदी।
इडा पिंगलयोर्मध्ये बालरण्डा च कुण्डली।। 110।।

यहाँ गंगा नदी से अभिप्राय इडा नाड़ी का है और यमुना से पिंगला का। इडा और पिंगला नाड़ियों के बीच बालविधवा कुण्डलिनी है।

पुच्छे प्रगृह्य भुजङ्गीं सुप्तामुद्बोधयेच्च ताम्।
निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात्।। 111।।

इस सोती हुई सांप जैसी कुण्डलिनी शक्ति की पूंछ पकड़ कर इसे जगाना पड़ता है। यह शक्ति जागने पर सुषुम्ना के रास्ते ऊपर ब्रह्मरन्ध्र की ओर उठने लगती है।

अवस्थिता चैव फणवती सा प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रम्।
प्रपूर्य सूर्यात् परिधानयुक्त्या प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया।। 112।।

मूलाधार में स्थित इस सांप जैसी कुण्डलिनी शक्ति को सवेरे, शाम प्रतिदिन आधे पहर तक शक्तिचालन मुद्रा के द्वारा जगाने का प्रयत्न करना चाहिये। शक्तिचालन मुद्रा में प्राणवायु; सूर्य अर्थात् पिंगला नाड़ी से भरा जाता है। शक्तिचालन परिधान युक्ति से करना चाहिये।

श्लोक में परिधान युक्ति को नहीं बताया गया है किन्तु परिधान का अर्थ अधोवस्त्र अर्थात् नीचे पहिनने का कपड़ा लंगोट, जांघिया आदि होता है। परिधान युक्ति गुरु मुख से जाननी चाहिये।

कन्द का स्थान

ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरांगुलम्।
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टिताम्बरलक्षणम्।। 113।।

मूलाधार से एक बालिश्त ऊपर अर्थात नाभि और लिंगमूल के बीच में चार अंगुल चौड़ा मुलायम और सफेद लपेटे हुए कपड़े जैसा कन्द स्थान है। गोरक्षशतक में कन्द स्थान के बारे में कहा गया है –

ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कन्दयोनिः खगाण्डवत्।
तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्त्राणां द्विसप्ततिः।। गोरक्ष 1/24।।

लिंगमूल से ऊपर और नाभि से नीचे पक्षी के अण्डे जैसा कन्द है। इस कन्द से बहत्तर हजार नाड़ियां निकल कर सारे शरीर में फैली हुई हैं।

याज्ञवल्क्य के अनुसार कन्द का स्थान इस प्रकार है –

गुदात्तु द्वयंगुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्वयंगुलादधः।
देहमध्यं तनोर्मध्ये मनुजानामितीरितम्।।

कन्दस्थानं मनुष्याणां देहमध्यान्नवाङ्गुलम्।
चतुरंगुलिविस्तारमायामं च तथाविधम्।।
अण्डाकृतिवदाकार भूषितं च त्वगादिभिः।
चतुष्पदां तिरश्चां च द्विजानां तुन्दमध्यगम्।।

गुदा से दो अंगुल ऊपर और लिंगमूल से दो अंगुलि नीचे मनुष्यों के शरीर का मध्य भाग होता है। शरीर के बीच से नौ अंगुल ऊपर मनुष्यों में कन्द होता है। यह कन्द चार अंगुल चौड़ा और चार अंगुलि लम्बा होता है। यह कन्द अण्डे जैसा है। इस पर पतली त्वचा है। चौपायों, पशुओं और पक्षियों के पेट के बीच में कन्द होता है।

सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद् दृढम्।
गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत्।। 114।।

वज्रासन में बैठकर दोनों पैरों को एड़ियों से कुछ ऊपर दोनों हाथों से कसकर पकड़ना चाहिये। फिर कन्दस्थान को जोर से दबाना चाहिये।

वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा तु कुण्डलीम्।
कुर्यादनन्तरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत्।। 115।।

वज्रासन में बैठा हुआ योगी शक्तिचालन मुद्रा से कुण्डलिनी को चलाकर और भस्त्रिका प्राणायाम करके कुण्डलिनी को जल्दी ही जगा देता है।

भानोराकुञ्चनं कुर्यात् कुण्डलीं चालयेत्ततः।
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः।। 116।।

नाभि में स्थित सूर्य को सिकोड़े अर्थात् उड्डीयान बन्ध लगाकर कुण्डलिनी शक्ति को जगाये। शक्ति चालन मुद्रा का अभ्यास करने वाला योगी यदि मौत के मुंह में भी पड़ा हो तो उसे मृत्यु का डर नहीं सताता।

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ।
ऊर्ध्वमाकृष्यते किंचित् सुषुम्नायां समुद्गता।। 117।।

दो मुहुर्त तक निडर होकर शक्तिचालन मुद्रा का अभ्यास करने से कुण्डलिनी शक्ति सुषुम्ना नाड़ी में कुछ ऊपर चली जाती है।

तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्नायां मुखं ध्रुवम्।
जहाति तस्मात् प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः।। 118।।

कुण्डलिनी शक्ति; सुषुम्ना के मुख से हट जाती है और प्राण वायु; सुषुम्ना नाड़ी में अपने आप चलने लगता है।

तस्मात् संचालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुन्धतीम्।
तस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते।। 119।।

कुण्डलिनी शक्ति आराम से सोई पड़ी है। उसे प्रतिदिन जगाने का प्रयत्न शक्तिचालन मुद्रा से करना चाहिये। शक्तिचालन के इस अभ्यास से योगी का शरीर सभी रोगों से छुटकारा पा जाता है।

येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम्।
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया।। 120।।

जो योगी कुण्डलिनी शक्ति को जगा देता है उसे सिद्धियां मिल जाती हैं। बहुत क्या कहना ऐसा योगी मृत्यु पर आसानी से विजय पा लेता है।

ब्रह्मचर्यरतस्यैव नित्यं हितमिताशिनः।
मण्डलाद् दृश्यते सिद्धिः कुण्डल्यभ्यासयोगिनः।। 121।।

ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले, हितकारी और नपा-तुला भोजन करने वाले, कुण्डलिनी शक्ति को जगाने का अभ्यास करने वाले योगी को चालीस दिन में प्राणायाम में सफलता मिल जाती है।

कुण्डलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद् विशेषतः।
एवमभ्यसतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः।। 122।।

शक्तिचालन मुद्रा से कुण्डली को जगाने का अभ्यास करके योगी को विशेष रूप से भस्त्रिका प्राणायाम करना चाहिये। यह अभ्यास नित्य करने वाले संयमी साधक को मृत्यु का भय नहीं सताता।

द्वासप्ततिसहस्त्राणां नाडीनां मलशोधने।
कुतः प्रक्षालनोपायः कुण्डल्भ्यसनादृते।। 123।।

शरीर की बहत्तर हजार नाड़ियों में जमा मैल को कुण्डली शक्ति चलाने के अभ्यास के बिना साफ नहीं किया जा सकता।

इयं तु मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनाम्।
आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरला भवेत्।। 124।।

इडा और पिंगला के बीच यह सुषुम्ना नाड़ी; आसन, प्राणायाम, और मुद्राओं के नियमित अभ्यास से सीधी हो जाती है। यहाँ पर सुषुम्ना नाड़ी से तात्पर्य सुषुम्ना नाड़ी का मुख बन्द करके सोई पड़ी लपेटे मारे हुए कुण्डलिनी शक्ति से है जैसा कि इसी उपदेश के श्लोक 109 में 'गंगायमुनयोर्मध्ये' कहा गया है।

अभ्यासे तु विनिद्राणां मनो धृत्वा समाधिना।
रुद्राणी वा परा मुद्रा भद्रां सिद्धिं प्रयच्छति।। 125।।

आलस्य त्याग कर, मन एकाग्र कर समाधि का अभ्यास करने वाले योगी को शाम्भवी मुद्रा से या उन्मनी अवस्था से कल्याणकारिणी सिद्धि मिलती है।

राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा।
राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न शोभते।। 126।।

राजयोग अर्थात् समाधि के अभ्यास के बिना पृथ्वी अर्थात् निश्चल रह कर कोई आसन लगाकर बैठना और निशा अर्थात् कुम्भक प्राणायाम करना तथा तरह तरह की मुद्राओं का अभ्यास भी व्यर्थ है क्योंकि हठयोग की आसन, प्राणायाम, और मुद्रा आदि क्रियाओं का उद्देश्य समाधि सिद्धि ही है।

मारुतस्य विधिं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत्।
इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा।। 127।।

सभी तरह के प्राणायामों का अभ्यास मन एकाग्र करके करना चाहिये। बुद्धिमान पुरुष को योगाभ्यास के समय मन एकाग्र रखना चाहिये।

इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शम्भुना।
एकैका तासु यमिनां महासिद्धि प्रदायिनी।। 128।।

आदिनाथ शिवजी ने इन दस मुद्राओं का उपदेश दिया है। इनमें से प्रत्येक मुद्रा महान सफलता प्रदान करती है।

उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते साम्प्रदायिकम्।
स एव श्रीगुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः।। 129।।

योगियों की गुरु परम्परा से प्राप्त इन महामुद्रा आदि मुद्राओं का जो व्यक्ति उपदेश करता है वही हमारा गुरु, स्वामी और साक्षात् ईश्वर है।

तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः।
अणिमादिगुणैः सार्धं लभते कालवञ्चनम्।। 130।।

ऐसे गुरु का कहना मानकर और मन एकाग्र कर मुद्राओं का अभ्यास करने से अणिमा - महिमा आदि सिद्धियों के साथ योगी मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है।

सुषुम्ना और कुण्डलिनी

सुषुम्ना नाड़ी क्या है?

इसके बारे में चार प्रकार के मत हैं। श्रुति के अनुसार हृदय से ऊपर गई नाड़ी विशेष ही सुषुम्ना है। तन्त्रशास्त्र के 'षट्चक्र निरूपण' ग्रन्थ में तीन प्रकार के मत हैं। किसी मत में रीढ़ या पीठ की हड्डी में सुषुम्ना है और उसके दोनों ओर इडा और पिंगला हैं-

"मेरोर्बाह्यप्रदेशे शशिमिहिरशिरे सव्यदक्षे निषण्णे, मध्ये नाडी सुषुम्ना।"

दूसरे तन्त्र में

मेरोर्वामे स्थिता नाडी इडा चन्द्रामृते शिवे।
दक्षिणे सूर्यसंयुक्ता पिङ्गला नाम नामतः।।
तद् बाह्ये तु तयोर्मध्ये सुषुम्ना वह्निसंयुता।।

इस मत में तीनों नाड़ियों को ही मेरु (मेरुदण्ड - रीढ़ की हड्डी) के बाहर कहा गया है। मतान्तर में मेरु के बीच में ही ये तीनों नाड़ियां रहती हैं-

"मेरोर्मध्यपृष्ठगतास्तिस्त्रो नाड्यः प्रकीर्त्तिताः।" (निगमतत्त्वसार)।

शरीर की चीर-फाड़ करके इन नाड़ियों को देख पाने की सम्भावना नहीं है। वस्तुतः मस्तिष्क या सहस्रार से जो स्नायुएं मेरु दण्ड के बीच और बाहर होकर मलद्वार तक फैली हुईं हैं, जिनके द्वारा बोध (ज्ञान) और चेष्टा होती है,

वे सुषुम्ना, इडा तथा पिंगला हैं। कुण्डलिनी शक्ति का विचार करने पर यह स्पष्ट होगा।

कुण्डली, कुण्डलिनी, कुल कुण्डलिनी, नागिनी, भुजगाङ्गना, बालविधवा, तपस्विनी आदि बहुत से नाम कुण्डलिनी को दिये गये हैं।

कुण्डलिनी - कुण्डलिनी का स्वरूप समझने के लिये उसके बारे में कई वचन उद्धृत किये जा रहे हैं -

"चित्रिणी शून्यविवरे.............भुजङ्गी विहरन्तीति च।"

सुषुम्ना के अन्दर चित्रिणी नाडी के छेद में कुण्डलिनी विहार करती है।

"कूजन्ति कुलकुण्डली च मधुरं .... श्वासोच्छ्वास विभञ्जनेन जगतां जीवो यया धार्यते, सा मूलाम्बुज गह्वरे विलसति।।"

कुण्डलिनी मधुर शब्द करती है नादरूप से, (वाक्य के मूल रूप से) और वह श्वास-प्रश्वास चलाने के द्वारा संसार के जीवों को प्राण धारण कराती है तथा वह मूलाधार पद्म के कुहर में प्रकाशित होती है।

"ध्यायेत् कुण्डलिनीं देवीं...........विश्वातीतां ज्ञानरूपां चिन्तयेदूर्ध्ववाहिनीम्।"

विश्वातीत या अबाह्य ज्ञानरूपा, ऊर्ध्ववाहिनी कुण्डलिनी देवी का ध्यान करना चाहिये।

"कला कुण्डलिनी सैव नादशक्ति शिवोदिता।"

वह कुण्डलिनीरूप कला ही नादशक्ति है।

"शून्यरूपः शिवः साक्षाद् बिन्दुः परमकुण्डली।"

साक्षात् शून्यरूप शिव ही परम कुण्डलिनी है।

वृत्तः कुण्डलिनीशक्तिर्गुणत्रय समन्वितः।
शून्यभागं महेशानि शिवशक्त्यात्मकं प्रिये।।

त्रिगुणसमन्वित कुण्डलीशक्तिरूप जो वृत्त या बिन्दु है वह शून्य और शिवशक्त्यात्मक है।

अन्त के इन दोनों उद्धरणों में परमकुण्डलिनी की बात कही गई है। कुण्डलिनी शक्ति यह नाम इसलिये है कि वह सुप्तावस्था में सांप की तरह

कुण्डली लगाए रहती है। सुप्त कुण्डलिनी मूलाधार में साढ़े तीन लपेटें (सार्ध, त्रिवलयेनावेष्ट्य) की कुण्डली मार कर रहती है। उसे जगाकर सहस्रार में ले जाना और बिन्दुरूप शिव के साथ युक्त करना ही कुण्डली योग है।

अतः इडा, पिंगला, सुषुम्ना आदि नाड़ियां जिस प्रकार रीढ़ के बीच में और बाहर हुईं, (जो मस्तिष्क से गुदा तक फैली हुई हैं) उसी प्रकार कुण्डलिनी इन नाड़ियों के बीच बोध (ज्ञान) और चेष्टा करने वाली शक्ति हुई। साधारण अवस्था में वह सुप्त या देह के काम में लगी हुई है। कुण्डलिनी योग का उद्देश्य है – कुण्डलिनी को मस्तिष्क में ले जाना। मस्तिष्क में ले जाने की यह क्रिया धारणा तथा प्राणायाम के द्वारा की जाती है। उसके साधन स्वरूप दो प्रधान उपाय हैं – हठयोग पहिला और लययोग दूसरा।

देव, देवी, विद्युत् आदि, रंग इत्यादि अनेक रूपों तथा नाद के द्वारा धारणा की जाती है। हठयोग में मूलबन्ध, उड्डीयान बन्ध आदि द्वारा मांस पेशियों और स्नायुओं का संकोच करके कुण्डलिनी को जगाना पड़ता है।

इति श्री स्वात्माराम योगीन्द्र विरचितायां हठयोगप्रदीपिकायां मुद्राविधानंनाम तृतीयोपदेशः।

श्रीस्वात्मारामयोगीन्द्र द्वारा लिखित ग्रन्थ हठयोगप्रदीपिका में मुद्रा विधान नाम का तीसरा उपदेश समाप्त।

चतुर्थ उपदेश

समाधि या राजयोग

नमः शिवाय मुरवे नाद बिन्दुकलात्मने।
निरञ्जनं पदं याति नित्यं यत्र परायणः।। 1।।

मैं शिव स्वरूप गुरुदेव को प्रणाम करता हूँ। ये शिव नाद (अनाहत ध्वनि), बिन्दु (घनीभूत नाद) और कला (नाद के अंशभूत) स्वरूप हैं। इन नाद-बिन्दु-कलात्मक शिव में प्रतिदिन ध्यान लगाने से योगी सांसारिक माया और मोह के जाल से रहित शुद्ध परब्रह्म पद को पा लेता है।

अथेदानीं प्रवक्ष्यामि समाधिक्रममुत्तमम्।
मृत्युघ्नं च सुखोपायं ब्रह्मानन्दकरं परम्।। 2।।

अब मैं समाधि के उत्कृष्ट उपाय बताता हूँ। इन उपायों को अपनाकर योगी मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है अर्थात् अपनी इच्छा से देह त्यागता है। तत्त्वज्ञान हो जाने के कारण उसके मन की सभी वासनाएं नष्ट हो जाने से वह जीवन्मुक्ति का सुख पा जाता है और प्रारब्ध के कर्म नष्ट हो जाने के कारण जीव और ब्रह्म के बीच ऐक्य हो जाने पर ब्रह्मानन्द प्राप्त कर विदेहमुक्त हो जाता है।

समाधि के पर्यायवाचक शब्द

राजयोगः समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी।
अमरत्वं लयस्तत्त्वं शून्याशून्यं परं पदम्।। 3।।
अमनस्कं तथाद्वैतं निरालम्बं निरञ्जनम्।
जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः।। 4।।

राजयोग, समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, लय, तत्त्व, शून्याशून्य,

परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालम्ब, निरञ्जन, जीवन्मुक्ति, सहजा और तुरीया अवस्था ये सब समाधि के नाम हैं।

समाधि–अवस्था

सलिले सैन्धवं यद्वत् साम्यं भजति योगतः।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते।।5।।

यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते।
तदा समरसत्वं च समाधिरभिधीयते।।6।।

तत्समं च द्वयोरैक्यं जीवात्मपरमात्मनोः।
प्रनष्टसर्वसंकल्पः समाधिः सोऽभिधीयते।।7।।

जिस प्रकार नमक, पानी में घुलकर सारे पानी को नमकीन कर देता है और पानी तथा नमक मिलकर एक हो जाते हैं उसी प्रकार आत्मा और मन के बीच एकता स्थापित हो जाने पर समाधि लग जाती है।

प्राण के सूक्ष्म हो जाने पर मन को आत्मतत्त्व में लगाने पर मन; आत्मा के आकार या रूप वाला हो जाता है या आत्मा जैसा ही हो जाता है। इस अवस्था को समाधि कहते हैं।

मन को परमात्म तत्त्व में लगाने से साधक के मन के सभी संकल्प विकल्प नष्ट हो जाते हैं और परमात्मा के साथ जीवात्मा का संयोग या ऐक्य हो जाता है। जीवात्मा और परमात्मा के संयोग या ऐक्य की यह अवस्था समाधि कहलाती है।

सद्गुरु की महिमा

राजयोगस्य माहात्म्यं को वा जानाति तत्त्वतः।
ज्ञानं मुक्तिः स्थितिः सिद्धिर्गुरुवाक्येन लभ्यते।।8।।

राजयोग का महत्व कौन भलि प्रकार जानता है? क्योंकि ज्ञान अर्थात् अपने स्वरूप का वास्तविक ज्ञान, मुक्ति या विदेहमुक्ति, स्थिति अर्थात् निर्विकार स्वरूपावस्थिति वाली जीवन्मुक्ति और सिद्धि अर्थात् अणिमा आदि सिद्धियां गुरु के उपदेश से ही मिलती हैं।

दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम्।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना।।9।।

सद्गुरु की कृपा के बिना सांसारिक विषय भोग छोड़ना बड़ा कठिन है। तत्त्वदर्शन अर्थात् आत्मा और परमात्मा का साक्षात् दर्शन भी बड़ा कठिन है। सहजावस्था अर्थात् समाधि की अवस्था प्राप्त कर पाना भी बड़ा कठिन है। ये सब लक्ष्य गुरु की कृपा से ही प्राप्त होते हैं।

विविधैरासनैः कुम्भैर्विचित्रैः करणैरपि।
प्रबुद्धायां महाशक्तौ प्राणः शून्ये प्रलीयते।। 10।।

अनेक प्रकार के आसनों, प्राणायामों और मुद्राओं के नियमित अभ्यास से कुण्डलिनी शक्ति के जागने पर प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्र में पहुंच कर लीन हो जाता है।

उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्त निःशेषकर्मणः।
योगिनः सहजावस्था स्वयमेव प्रजायते।। 11।।

कुण्डलिनी शक्ति के जाग जाने पर और शारीरिक तथा मानसिक सभी प्रकार के काम (कर्म) त्याग देने पर योगी अनायास ही सहजावस्था को प्राप्त कर लेता है।

सिद्धासन या पद्मासन आदि किसी आसन में स्थिर रहकर बैठने से शरीर के सभी कार्य छूट जाते हैं। प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और सम्प्रज्ञात समाधि के अभ्यास से मन के सारे व्यवहार या कर्म समाप्त हो जाते हैं।

सुषुम्नावाहिनी प्राणे शून्ये विशति मानसे।
तदा सर्वाणि कर्माणि निर्मूलयति योगवित्।। 12।।

प्राणवायु के सुषुम्ना नाड़ी में प्रवाहित होने पर तथा मन के देश, काल, वस्तु आदि से रहित या शून्य, ब्रह्मपद में विलीन होने पर योगी; शरीर, मन और बुद्धि के सभी व्यापारों या कार्यों को नष्ट कर देता है।

अमराय नमस्तुभ्यं सोऽपि कालस्त्वया जितः।
पतितं वदने यस्य जगदेतच्चराचरम्।। 13।।

हे चिरजीवि योगी! आपको प्रणाम है। आपने मृत्यु पर विजय पा ली है। इस मृत्यु के मुख में यह सारा चल और अचल जगत पड़ा हुआ है।

चित्ते समत्वमापन्ने वायौ व्रजति मध्यमे।
तदामरोली वज्रोली सहजोली प्रजायते।। 14।।

चित्त जिस वस्तु का ध्यान कर रहा है उसमें एकाग्र हो जाने पर चित्त उसी वस्तु के आकार वाला या उसी ध्येय वस्तु के समान हो जाता है। चित्त की यह अवस्था ध्यान की स्थिति में होती है। इसलिये चित्त के ध्यानमग्न हो जाने पर और प्राणवायु के सुषुम्ना में प्रवाहित होने पर वज्रोली, सहजोली और अमरोली स्वयं सिद्ध हो जाती है।

ज्ञानं कुतो मनसि सम्भवतीह तावत्प्राणोऽपि जीवति मनो म्रियते न यावत्।
प्राणो मनो द्वयमिदं विलयं नयेद् यो मोक्षं स गच्छति नरो न कथंचिदन्यः।। 15।।

जब तक इन्द्रियां, प्राण और मन नहीं मरते तबतक तत्त्वज्ञान कैसे हो सकता है? जो योगी प्राण और मन का लय कर लेता है वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है। प्राण और मन का लय किये बिना मोक्ष सम्भव नहीं है।

ब्रह्मरन्ध्र में पहुंच कर प्राण का चेष्टा रहित हो जाना प्राण का लय कहलाता है। अथवा ब्रह्म के अतिरिक्त और किसी विषय या वस्तु में मन का न लगना ही मन के लय की अवस्था होती है। इडा और पिंगला नाड़ियों में प्राणवायु के प्रवाहित होने पर शरीर की सभी इन्द्रियां अपने अपने काम करती रहती हैं। किन्तु जब प्राणवायु; सुषुम्ना के मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र में पहुंच जाता है तब प्राण का लय हो जाता है। इसी प्रकार जब मन एकाग्र होकर परमात्म चिन्तन में लगा रहता है तब मन, परमात्मतत्त्व में लय हो जाता है। इस स्थिति में मन के सारे संकल्प-विकल्प नष्ट हो जाते हैं।

आंख, कान, नाक, आदि इन्द्रियों के द्वारा रूप, शब्द, गन्ध आदि अपने अपने विषयों का अनुभव करना या इन विषयों को ग्रहण करना, इन्द्रियों का जीवित रहना कहलाता है। इसी प्रकार इडा और पिंगला नाड़ियों में प्राणवायु का श्वास-प्रश्वास के रूप में चलते रहना प्राणवायु का जीवित रहना माना जाता है। अनेक प्रकार के विषय भोगों और इच्छाओं आदि के बारे में सोचते रहना मन का जीवन कहा जाता है। जब इन्द्रियां अपने-अपने विषयों को अनुभव करना या ग्रहण करना बन्द कर देती हैं, तब इन्द्रियों की मरणावस्था हो जाती है। जब प्राणवायु; इडा और पिंगला का मार्ग छोड़कर सुषुम्ना में चलने लगता है तब प्राण की मरणावस्था हो जाती है और जब मन के सारे संकल्प-विकल्प समाप्त हो जाते हैं तब मन की मरणावस्था हो जाती है। मन,

प्राण और इन्द्रियों की मरणावस्था होने पर लय की अवस्था उत्पन्न हो जाती है और इस लयावस्था में योगी को परमात्म तत्त्व का ज्ञान हो जाता है।

सुषुम्ना के मार्ग से प्राणवायु के ब्रह्मरन्ध्र में पहुंचने पर प्राण का लय हो जाता है। तब प्राणवायु की गति बन्द हो जाती है। हठयोग प्रदीपिका के अनुसार **"अपुनर्वासनोत्थानाल्लयो विषय विस्मृतिः"** 4/34 अर्थात् चित्त में किसी भी वासना का न उठना और सभी विषयों को भूल जाना लय कहलाता है। आलस्य और नींद के कारण भी चित्त में वृत्तियां उठनी बन्द हो जाती हैं किन्तु मन की यह अवस्था सुषुप्ति जैसी होती है। इस अवस्था में ब्रह्मानन्द का भान नहीं होता।

प्राण और मन का लय

ज्ञात्वा सुषुम्नासद्भेदं कृत्वा वायुं च मध्यगम्।
स्थित्वा सदैव सुस्थाने ब्रह्मरन्ध्रे निरोधयेत्।। 16।।

योगी को हमेशा उपद्रवों आदि से रहित धार्मिक राजा के राज्य में रहना चाहिये। उसे अपने गुरु से सुषुम्ना नाड़ी खोलने का और सुषुम्ना नाड़ी में प्राणवायु को भेजने का उपाय जान कर सुषुम्ना में प्राणवायु को लाकर और प्राणवायु को ब्रह्मरन्ध्र में पहुंचा कर ब्रह्मरन्ध्र में ही रोक देना चाहिये। ऐसा करने से प्राण का लय हो जाता है और प्राण का लय हो जाने पर मन का भी लय हो जाता है। मन और प्राण का लय हो जाने पर योगी की समाधि लग जाती है। समाधि की अवस्था में योगी अपने अन्तःकरण में परम तत्त्व को साक्षात् करता है और वह जीवित रहते हुए ही मुक्त हो जाता है।

प्राण के लय से काल जय

सूर्याचन्द्रमसौ धत्तः कालं रात्रिंदिवात्मकम्।
भोक्त्री सुषुम्ना कालस्य गुह्यमेतदुदाहृतम्।। 17।।

सूर्य और चन्द्रमा, दिन और रात बनाते हैं। किन्तु सुषुम्ना नाड़ी काल को या मृत्यु को नष्ट कर देती है। यह गुप्त बात हमने बता दी है।

हमारे शरीर में प्राणवायु बारी-बारी से इडा और पिंगला नाड़ियों में अर्थात् चन्द्र (बायें सुर) और सूर्य (दायें सुर) में चलता रहता है। नाक के बायें स्वर का प्राणवायु ठण्डा होता है और दायें स्वर का गर्म। इसी लिये

शीतल प्राणवायु वाले स्वर को चन्द्र स्वर और गर्म प्राणवायु वाले स्वर को सूर्य स्वर कहा जाता है। सामान्य व्यक्तियों का श्वास लगभग ढाई घण्टे बाद एक स्वर के बाद दूसरे स्वर में चलने लगता है। योग की परिभाषा में जब प्राणवायु सूर्य नाड़ी या पिंगला नाड़ी में चलता है तब दिन होता है और चन्द्र नाड़ी या इडा नाड़ी में प्राण चलने पर रात। इन पांच घण्टों में एक दिन रात हो जाती है। किन्तु सुषुम्ना नाड़ी में प्राण वायु के चलने पर रात और दिन नहीं होते इसीलिये इस श्लोक में कहा गया-है कि सुषुम्ना काल को या मृत्यु को नष्ट कर देती है। सुषुम्ना के रास्ते प्राणवायु के ब्रह्मरन्ध्र में पहुंच जाने पर प्राणवायु का लय हो जाता है। प्राणवायु जितने समय तक ब्रह्मरन्ध्र में टिका रहता है योगी की आयु उतनी ही बढ़ जाती है। इस प्रकार लम्बी अवधि तक समाधि में रहकर योगी अपनी मृत्यु का समय जान लेता है और मृत्यु की घड़ी आने पर वह अपने प्राण को ब्रह्मरन्ध्र में पहुंचा कर मृत्यु को घड़ी को टाल देता है तथा अपनी इच्छा से देह त्याग करता है।

द्वासप्तति सहस्त्राणि नाडीद्वाराणि पञ्जरे।
सुषुम्ना शाम्भवी शक्तिः शेषास्त्वेव निरर्थकाः।। 18।।

हमारे शरीर रूपी पिंजरे में बहत्तर (72) हजार नाड़ियां हैं। इन नाड़ियों से वायु शरीर में प्रवेश करता है। इन नाड़ियों में से सुषुम्ना नाड़ी, शाम्भवी शक्ति है अर्थात् सुषुम्ना में प्राणवायु के प्रवाहित होने पर योगी समाधि में लीन होकर आत्मसाक्षात् करता है। अन्य नाड़ियों का समाधि के लिये और ब्रह्मसाक्षात्कार के लिये विशेष प्रयोजन नहीं होता इसलिये योगी के लिये इन नाड़ियों का विशेष प्रयोजन नहीं होता इसीलिये योगी के लिये इडा, पिंगला, आदि नाड़ियां व्यर्थ ही हो जाती हैं।

वायुः परिचितो यस्मादग्निना सह कुण्डलीम्।
बोधयित्वा सुषुम्नायां प्रविशेदनिरोधतः।। 19।।

प्राणायाम का नियमित और दीर्घ समय तक अभ्यास करने से प्राणवायु जठराग्नि के साथ मिलकर कुण्डलिनी शक्ति को जगा देता है और कुण्डलिनी शक्ति सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाती है। इसलिये योगी को कुण्डलिनी शक्ति को जगाकर इस शक्ति को सुषुम्ना में बेरोकटोक पहुंचाने का अभ्यास करना चाहिये।

सुषुम्नावाहिनी प्राणे सिद्ध्यत्येव मनोन्मनी।
अन्यथा त्वितराभ्यासाः प्रयासायैव योगिनाम्।। 20।।

प्राणवायु के सुषुम्ना में पहुंचने पर योगी मनोन्मनी अवस्था में पहुंच जाता है अर्थात् उसकी समाधि लग जाती है। सुषुम्ना में प्राणवायु के प्रवाहित न होने पर सारे योगाभ्यास व्यर्थ ही हो जाते हैं।

पवनो बध्यते येन मनस्तेनैव बध्यते।
मनश्च बध्यते येन पवनस्तेन बध्यते।। 21।।

योगी प्राणायाम आदि के अभ्यास से जब प्राणवायु पर अधिकार प्राप्त कर लेता है तब वह मन पर भी नियन्त्रण कर लेता है। इसी प्रकार जिस उपाय से योगी मन को वश में करता है उसी उपाय से वह प्राण को भी वश में कर लेता है। प्राणवायु या मन इनमें से किसी एक पर भी नियन्त्रण हो जाने से दूसरा स्वयं वश में आ जाता है।

हेतुद्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरणः।
तयोर्विनष्ट एकस्मिंस्तौ द्वावपि विनश्यतः।। 22।।

चित्त की चंचलता या प्रवृत्ति के दो ही कारण होते हैं वासना और प्राणवायु। अर्थात् हमारा मन अनेक प्रकार की वासनाओं के संस्कारों के कारण उन-उन वासनाओं को याद करके चंचल बना रहता है। प्राणवायु के इडा और पिंगला में चलते रहने पर हमारी इन्द्रियां भी अपने-अपने रूप, रस, गन्ध आदि विषयों का भोग करती रहती हैं। इसलिये यदि प्राणवायु पर नियन्त्रण कर लिया जाता है तो इन्द्रियां अपने विषयों की ओर नहीं जातीं और इन्द्रियों के शान्त हो जाने पर मन भी शान्त हो जाता है। इसलिये प्राणवायु को वश में कर लेने पर मन भी वश में हो जाता है। और मन की वासनाएं भी शान्त हो जाती हैं।

इसी प्रकार यदि वैराग्य की भावना और प्रत्याहार का अभ्यास करके मन में निरन्तर उठती रहने वाली वासनाओं और कामनाओं को शान्त कर दिया जाता है तो तरह-तरह की बातों और भोग-विषयों के प्रति मन की दौड़ बन्द हो जाती है। मन के शान्त हो जाने पर इन्द्रियां भी अपने-अपने विषयों से मुंह

मोड़ लेती हैं। इन्द्रियों की यह अनावश्यक हलचल बन्द हो जाने पर प्राणवायु की उत्तेजना स्वयमेव घट जाती है और प्राणवायु शान्त होकर सूक्ष्म रूप से इडा और पिंगला नाड़ियों में समान गति से चलते लगता है।

मनो यत्र विलीयेत पवनस्तत्र लीयते।
पवनो लीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते।। 23।।

जब मन का लय हो जाता है तब प्राणवायु भी शान्त हो जाती है। प्राणवायु के शान्त हो जाने पर मन भी शान्त हो जाता है।

मन में तरह-तरह के विचार और इच्छाएं उठने पर मन इन कामनाओं को पूरा करने के उपाय सोचने लगता है। तरह-तरह के उपाय सोचते रहने पर मन की उत्तेजना बढ़ती जाती है और मन के उत्तेजित होने पर प्राणवायु या श्वास-प्रश्वास भी तेजी से चलने लगता है। इस प्रकार मन की चंचलता बढ़ने से प्राण की चंचलता भी बढ़ जाती है। प्राण की चंचलता बढ़ने या श्वास-प्रश्वास की गति बढ़ने से आयु घटने लगती है। इसलिये कभी पूरी न होने वाली इच्छाओं के बारे में सोचना बन्द करके हम अपना स्वास्थ्य ठीक रख सकते हैं। प्राणायाम के अभ्यास से मन शान्त होने लगता है। मन और प्राण का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनमें से एक के अशान्त या चंचल होने पर दूसरा भी अशान्त हो उठता है। प्राणायाम के अभ्यास से मन शान्त होने पर धारणा और ध्यान का अभ्यास करने में भी सहायता मिलती है।

दुग्धाम्बुवत् सम्मिलितावुभौ तौ तुल्यक्रियौ मानसमारुतौ हि।
यतो मरुत्तत्र मनःप्रवृत्तिर्यतो मनस्तत्र मरुत् प्रवृत्तिः।। 24।।

मन और प्राणवायु आपस में दूध और पानी की तरह घुले-मिले हुए हैं। एक के चंचल होने पर दूसरा भी चंचल हो उठता है और शान्त होने पर शान्त। इसलिये इनकी प्रवृत्ति या गति सदा एक जैसी बनी रहती है। मन जिस विषय में या वस्तु में लगता है उसी विषय या वस्तु में प्राणवायु भी लग जाता है।

तत्रैकनाशादपरस्य नाशः एकप्रवृत्तेरपरप्रवृत्तिः।
अध्वस्तयोश्चेन्द्रियवर्गवृत्तिः प्रध्वस्तयोमोक्षपदस्य सिद्धिः।। 25।।

मन या प्राण इनमें से किसी एक का नाश अर्थात् लय (शान्त या स्थिर)

हो जाने पर दूसरे का भी नाश या लय हो जाता है। यदि प्राण और मन शान्त नहीं रहते तो शरीर की सारी इन्द्रियां भी अपने-अपने विषयों और कामों की ओर दौड़ती रहती हैं। इन्द्रियों के अपने विषयों में प्रवृत्त होने पर मन और प्राण की अशान्ति और अधिक बढ़ जाती है। यदि मन और प्राण शान्त हो जाते हैं तो इनकी शान्ति या लय की अवधि बढ़ने लगती है। मन की शान्ति बढ़ने पर मन की एकाग्रता भी बढ़ती जाती है। एकाग्रता बढ़ने पर ध्यान और समाधि का अभ्यास बढ़ने लगता है और समाधि सिद्ध होने पर परम तत्त्व को साक्षात् कर योगी मुक्त हो जाता है।

मोक्ष

संसार के अनेकविध कामों में और वस्तुओं में फंसे रहना बन्ध है और अपनी कामनाओं और वासनाओं को नष्ट करना मोक्ष। यही विचार महोपनिषद् में इन शब्दों में व्यक्त किया गया है -

पदार्थभावनादार्ढ्यं बन्ध इत्यभिधीयते।
वासनातानवं ब्रह्मन् मोक्ष इत्यभिधीयते।। म० उ० 2/41

सांसारिक पदार्थों में लगाव ही बन्ध है और वासनाओं को नष्ट करना मोक्ष।

जीव को अपने विशुद्ध, चिन्मात्र, नित्य, शुद्ध, बुद्ध स्वरूप 'प्रकृति-पुरुष' का बोधरूप आत्मसाक्षात्कार होने पर जीव का ममत्व या अहंभाव या 'आत्मभाव-भावना' नष्ट हो जाती है और जीव (पुरुष) को अलौकिक अपूर्वता की अनुभूति होती है। तब जीव इसी अपूर्व अनुभूति की अवस्था में स्थित रहता है। यही स्थिति जीव की मुक्ति है। सांख्य के अनुसार यथार्थ बोध से मोक्ष होता है -

ज्ञानान्मुक्तिः।। सांख्य 3/23

वैराग्य

मोक्ष प्राप्ति के लिये वैराग्य भावना का निरन्तर अभ्यास करना पड़ता है। वैराग्य की भावना बढ़ने पर मन और प्राण की चंचलता भी घटने लगती है। वैराग्य का अर्थ यही है कि दिखाई देने वाले सभी सांसारिक भोग-ऐश्वर्यों और सुनने में आये पारलौकिक स्वर्ग आदि के सुखों तथा विदेहभाव, प्रकृतिलय

आदि सिद्धियों इन सभी प्रकार के विषयों के प्रति मन में कोई आकर्षण या लगाव न होना। मन में सांसारिक वासनाओं और इच्छाओं का न होना और इन सभी तरह की कामनाओं और विषय भोगों के प्रति उदासीनता तथा विरक्ति। जड़ पदार्थों; मकान, धन-दौलत, पद-प्रतिष्ठा और चेतन पदार्थों, सगे-सम्बन्धियों आदि किसी के साथ भी किसी प्रकार का राग, मोह, ममता न रहना तथा द्वेष का भी अभाव हो जाना।

वैराग्य की चार अवस्थाएं होती हैं, यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय और वशीकार।

यतमान वैराग्य

यह वैराग्य की पहली अवस्था होती है। इस अवस्था में योगी सांसारिक भोग विषयों से इन्द्रियों का आकर्षण रोकने का यत्न करता है। चित्त में रहने वाले राग-द्वेष आदि दोष ही इन्द्रियों को उनके विषयों में लगाते हैं। इन दोषों को दूर करने के लिये प्रयत्नपूर्वक चिन्तन कर योगी यतमान वैराग्य की अवस्था में यही प्रयत्न करता है कि राग-द्वेष आदि चित्त के दोष दूर होकर इन्द्रियां अपने-अपने विषयों की ओर न दौड़ें।

व्यतिरेक वैराग्य

यतमान वैराग्य के अभ्यास से चित्त किसी विषय के प्रति उदासीन हो जाता है किन्तु किसी अन्य विषय के प्रति चित्त का लगाव बना रहता है। यतमान वैराग्य के अभ्यास से चित्त के जो दोष या मल छूट गये हैं, या निवृत्त हो गये हैं और जो दोष या मल अभी भी चित्त में विद्यमान हैं इन दोनों प्रकार के दोषों का अर्थात् छूटे हुए और न छूटे हुए दोषों को अलग-अलग जानने का (व्यतिरेक का) प्रयत्न वैराग्य की इस दूसरी अवस्था व्यतिरेक वैराग्य में किया जाता है। व्यतिरेक (अलग-अलग ज्ञान) वैराग्य के इस अभ्यास के द्वारा योगी को पता चलता जाता है कि उसके चित्त में दोष या मल कितने कम हो गये हैं और कितने मल रह गये हैं।

एकेन्द्रिय वैराग्य

इन्द्रियों को वश में करने का अभ्यास करते रहने के कारण सभी इन्द्रियां सांसारिक बाह्य विषयों से पूरी तरह उदासीन हो जाती हैं। किन्तु मन में विषयों

के प्रति उत्सुकता के रूप में कुछ लगाव शेष रह जाता है। केवल मन में या एक ही इन्द्रिय मन में विषयों के प्रति राग रह जाने के कारण वैराग्य की इस तीसरी अवस्था को एकान्त वैराग्य या एकेन्द्रिय वैराग्य कहा जाता है।

वशीकार वैराग्य

एकेन्द्रिय वैराग्य के बाद जब जितेन्द्रिय योगी को इच्छापूर्वक राग को निवृत्त नहीं करना पड़ता तथा चित्त और सभी इन्द्रियां लौकिक तथा पारलौकिक विषयों से अपने आप ही निवृत्त हो जाती हैं तब उस अवस्था को अपर वैराग्य का पूर्णता रूप वशीकार वैराग्य कहते हैं। वशीकार वैराग्य की अवस्था में योगी के लिये न तो कुछ हेय अर्थात् छोड़ने योग्य या उपादेय अर्थात् उपयोग करने योग्य और न ही त्याग और ग्रहण (लेना) करने योग्य रह जाता है। इस अवस्था में योगी की विषयों की ओर परम उपेक्षा होती है। ऐसे विरक्त चित्त योगी द्वारा पुरुष का दर्शन करने का अभ्यास करते-करते दर्शन की शुद्धि उत्पन्न होती है। ऐसी उत्कृष्ट बुद्धि वाला योगी सत्व, रज, और तम इन तीनों गुणों के प्रति भी विरक्त हो जाता है। वशीकार वैराग्य या परवैराग्य; ज्ञान प्रसाद मात्र होता है। ज्ञान प्रसाद का अर्थ है ज्ञान की चरम शुद्धि। मनुष्य का सम्पूर्ण ज्ञान ही दुःख दूर करने का प्रमुख या गौण कारण होता है। जिस ज्ञान से दुःख की एकान्त या अत्यन्त निवृत्ति (छुटकारा) होती है वही चरम ज्ञान होता है। उससे अधिक और कुछ जानने के लिये नहीं रह जाता। परवैराग्य से दुःख की एकान्त तथा अत्यन्त निंवृत्ति होती है। इसलिये परवैराग्य ही ज्ञान की चरम अवस्था या चरम शुद्धि है। परवैराग्य, ज्ञान स्वरूप होता है, क्योंकि उसमें किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति नहीं रहती। प्रवृत्ति न रह जाने पर चित्त एकाग्र या समाहित रहता है और केवल पुरुषख्याति (प्रकृति और पुरुष के बारे में विवेकज्ञान) ही बची रहती है अतः प्रवृत्ति शून्य या प्रवृत्ति से रहित ज्ञान प्रसाद मात्र होता है। चित्त की जो अवस्था प्रवृत्ति से रहित है या जाड्यहीन है वह प्रकाश या ज्ञान है। प्रवृत्ति शून्यता या ज्ञान प्रसाद मात्रता की इस अवस्था में पहुंचे हुए योगी या आत्मज्ञानी योगी (प्रत्युदितख्याति योगी) इस प्रकार सोचते हैं कि जो कुछ पाना था वह सब पा लिया है। क्षीण करने या छोड़ने योग्य सभी विषय छूट चुके हैं, श्लिष्ट पर्व या अविरल-भव-संक्रम

अर्थात् जन्म-मरण का निरन्तर प्रवाह छिन्न-भिन्न हो चुका है, जिसके छिन्न-भिन्न न होने से जीव आवागमन (जन्म-मरण) में फंसे रहते हैं। ज्ञान की पराकाष्ठा (चरम सीमा) वैराग्य है और वैराग्य के बिना मोक्ष होना असम्भव है। परवैराग्य के सम्बन्ध में उपनिषद का वचन है:-

अथ धीरा अमृततत्त्व विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते।

कठोपनिषद् 2/1/2

अर्थात् ज्ञानी पुरुष अमृततत्त्व को जानकर अनित्य वस्तुओं (सांसारिक वस्तुओं) में से कुछ भी सार वस्तु (नित्य वस्तु) की आकांक्षा नहीं करते हैं अर्थात् वे परवैराग्य के कारण मुक्त होते हैं।

महाभारत में मोक्ष और ब्रह्मज्ञानी के बारे में कहा गया है कि –

कामबन्धनमेवैकं नान्यदस्तीह बन्धनम्।
कामबन्धनमुक्तो हि ब्रह्मभूयाय कल्पते।। शान्ति० 251/7

इस संसार में कामनाएं ही एकमात्र बन्धन का कारण हैं इनके सिवाय कोई दूसरा बन्धन नहीं है। कामनाओं के बन्धन से छूट कर मनुष्य ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेता है।

कामतो मुच्यमानस्तु धूम्राभ्रादिव चन्द्रमा।
विरजा: कालमाकाङ्क्षन् धीरो धैर्येण वर्तते।। शान्ति० 251/8

कामनाओं से मुक्त हुआ और रजोगुण से रहित धीर पुरुष काले बादलों में से निकले हुए चन्द्रमा की तरह निर्मल होकर धैर्यपूर्वक काल की प्रतीक्षा करता है।

स कामकान्तो न हि कामकाम:।
स वै कामात् स्वर्गमुपैति देही।। शान्ति० 251/10

ऐसे धीर पुरुष के पास ही भोग आना चाहते हैं परन्तु वह भोगों की कामना नहीं करता। काम भोग चाहने वाला पुरुष स्वर्ग में जाता है।

विशोको निर्मम: शान्त:प्रसन्नात्मा विमत्सर:।
षड्भिर्लक्षणवानेतै: समग्र: पुनरेष्यति।। शान्ति० 251/14

शोकरहित, ममतारहित, शान्त, प्रसन्नचित्त, ईर्ष्यारहित और सन्तोषयुक्त इन छह लक्षणों वाला मनुष्य ज्ञान से पूरी तरह तृप्त होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

निष्प्रचारं मनः कृत्वा प्रतिष्ठाप्य च सर्वशः।
यामयं लभते तुष्टिं सा न शक्याऽऽत्मनोऽन्यथा।। शान्ति० 251/17

अपने मन को इधर-उधर भटकने से रोककर, मन को आत्मा में पूरी तरह लगा देने पर मनुष्य को जिस सन्तोष और सुख की प्राप्ति होती है वह किसी और उपाय से नहीं मिल सकता।

येन तृप्यत्यभुञ्जानो येन तृप्यत्यवित्तवान्।
येनास्नेहो बलं धत्ते यस्तं वेद स वेदवित्।। शान्ति० 251/18

मनुष्य भोजन के बिना भी जिससे सन्तुष्ट हो जाता है। निर्धन होकर भी जिससे सन्तुष्ट रहता है और जिसका सहारा मिलने पर घी आदि खाये बिना भी मनुष्य बल अनुभव करता है उस ब्रह्म को जो जानता है वही ब्रह्मज्ञानी है।

संगुप्तान्यात्मनो द्वाराण्यपिधाय विचिन्तयन्।
यो ह्यास्ते ब्राह्मणः शिष्टः स आत्मरतिरुच्यते।। शान्ति० 251/19

जो अपनी इन्द्रियों के द्वारों को अच्छी तरह बन्द करके नित्य ब्रह्म का चिन्तन करता रहता है। वही श्रेष्ठ ब्राह्मण आत्माराम कहलाता है।

समाहितं परे तत्त्वे क्षीणकाममवस्थितम्।
सर्वतः सुखमन्वेति वपुश्चान्द्रमसं यथा।। शान्ति० 251/20

जो व्यक्ति अपनी कामनाओं को नष्ट करके परम तत्त्व परमात्मा का एकाग्र मन से चिन्तन करता है उसका सुख शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की भांति सब ओर से निरन्तर बढ़ता रहता है।

रसस्य मनसश्चैव चञ्चलत्वं स्वभावतः।
रसो बद्धं मनो बद्धं किन्न सिद्ध्यति भूतले।। 26।।

पारा और मन स्वभाव से ही चंचल हैं। पारे को और मन को बांध लेने पर अर्थात् वश में कर लेने पर पृथ्वी पर ऐसा कौन सा काम है जो सफलता पूर्वक न किया जा सके?

मूर्च्छितो हरते व्याधीन् मृतो जीवयति स्वयम्।
बद्धः खेचरतां धत्ते रसो वायुश्च पार्वति।। 27।।

हे पार्वती! विशेष प्रकार की ओषधियों से पारे की चंचलता रोक देने पर (मूर्च्छित) पारा रोगों को नष्ट कर देता है। जलाया हुआ या भस्म (मृत) किया

हुआ पारा ओषधियों के साथ सेवन करने से दीर्घायु प्रदान करता है। मूर्च्छित और भस्म किये हुए पारे की गोलियां बनाकर सेवन करने से आकाश में पहुंचा जा सकता है। इसी प्रकार प्राणवायु को मूर्च्छित कर देने से अर्थात् कुम्भक प्राणायाम के बाद रेचक न करने से प्राणवायु रोगों को नष्ट कर देता है। ब्रह्मरन्ध्र में लीन (मृत) प्राणवायु अपनी शक्ति से योगी को दीर्घजीवी बना देता है तथा धारणा, ध्यान आदि से भ्रूमध्य आदि स्थानों पर प्राणवायु को रोक देने पर योगी आकाश में गति कर सकता है।

मनः स्थैर्ये स्थिरो वायुस्ततो बिन्दुः स्थिरो भवेत्।
बिन्दुस्थैर्यात् सदा सत्त्वं पिण्डस्थैर्यं प्रजायते।। 28।।

मन के एकाग्र होने पर प्राणवायु की गति रुक जाती है अर्थात् प्राणवायु वश में हो जाता है। प्राणवायु पर वश हो जाने पर वीर्यपात रुक जाता है। वीर्य नष्ट न होने से शरीर में शक्ति और ओज आता है तथा दीर्घायु मिलती है।

इन्द्रियाणां मनोनाथो मनोनाथस्तु मारुतः।
मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः।। 29।।

हमारी आंख, कान आदि इन्द्रियां मन के अधीन रहती हैं। मन, प्राणवायु के अधीन रहता है। प्राणवायु; मन के लय के अधीन रहता है और मन का लय नाद के अधीन होता है।

सोऽयमेवास्तु मोक्षाख्यो मास्तु वापि मतान्तरे।
मनः प्राणलये कश्चिदानन्दः सम्प्रवर्तते।। 30।।

मनोन्मनी अवस्था या मन का लय ही मोक्ष कहलाता है। कुछ लोग मन के लय को मोक्ष नहीं मानते, क्योंकि सुषुप्ति अवस्था में भी मन का लय होता है। फिर भी मन और प्राण के लय होने पर अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता है।

प्रनष्टश्वासनिश्वासः प्रध्वस्तविषयग्रहः।
निश्चेष्टो निर्विकारश्च लयो जयति योगिनाम्।। 31।।

श्वास-प्रश्वास नष्ट हो जाने पर अर्थात् समाधि अवस्था में प्राणवायु की गति अत्यन्त सूक्ष्म हो जाने पर, इन्द्रियों द्वारा अपने-अपने विषयों को ग्रहण करना बन्द कर देने पर, शरीर और मन की चंचलता और राग-द्वेष आदि दोष

दूर हो जाने पर लयावस्था को प्राप्त योगी का अन्तःकरण सबसे अच्छी अवस्था में होता है।

उच्छिन्नसर्वसंकल्पो निःशेषाशेषचेष्टितः।
स्वावगम्यो लयः कोऽपि जायते वागगोचरः।। 32।।

मन के सारे संकल्प-विकल्प नष्ट हो जाने पर और शरीर की सभी गतिविधियां और क्रिया-कलाप समाप्त हो जाने पर योगी, लय की जिस अवस्था को अनुभव करता है उसको वाणी से नहीं बताया जा सकता।

यत्र दृष्टिर्लयस्तत्र भूतेन्द्रियसनातनी।
सा शक्तिर्जीवभूतानां द्वे अलक्ष्ये लयं गते।। 33।।

अन्तःकरण के ब्रह्म के ध्यान में लग जाने पर मन और बुद्धि ब्रह्म में ही लीन हो जाती हैं और लयावस्था आ जाती है। पृथ्वी आदि पांच महाभूत और हमारी इन्द्रियां शाश्वत हैं अर्थात् अविद्या के कारण सदा बनी रहती हैं। इसी प्रकार प्राणियों की शक्ति अर्थात् विद्या ये दोनों ही अर्थात् विद्या और अविद्या लयावस्था में दिखाई न देने वाले ब्रह्म में लय हो जाती हैं।

लय का स्वरूप

लयो लय इति प्राहुः कीदृशं लयलक्षणम्।
अपुनर्वासनोत्थानाल्लयो विषयविस्मृतिः।। 34।।

लोग लय की अवस्था की चर्चा तो करते हैं किन्तु सम्भवतः यह नहीं जानते की लयावस्था के लक्षण क्या होते हैं या लयावस्था को प्राप्त योगी के मन की स्थिति क्या होती है। मन में किसी भी तरह की वासनाओं का फिर कभी न उठना और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि सभी विषयों को तथा जिन विषयों पर ध्यान लगाया जाता है उन सबको भूल जाना ही लयावस्था है।

लय योग

लय योग, मन्त्र योग, राजयोग और हठयोग इन चार प्रकार के योग-मार्गों का आविष्कार अलग अलग समय में भिन्न-भिन्न महायोगियों ने किया था। वेद व्यास आदि कई ऋषि लय योग के उपदेष्टा हैं। इनके अनुसार हमारे शरीरों में तीन मुख्य शक्तियां हैं -

ऊर्ध्वशक्ति, मध्यशक्ति और अधः शक्ति।

ऊर्ध्व शक्ति के निपातन (नीचे लाने) से और अधः शक्ति के संकोचन से मध्य शक्ति का उद्‌बोधन होता है। इस प्रक्रिया से सात्विक आनन्द का प्रवाह प्राप्त होता है या अनुभव होता है। इस सात्विक आनन्द की उपलब्धि के लिये शरीर के इन चक्रों पर ध्यान करना होता है - स्वाधिष्ठान चक्र, नाभिचक्र (मणिपूर), हृदय चक्र (अनाहत), कण्ठचक्र (विशुद्धि) तालु चक्र, भ्रूचक्र (आज्ञा), ब्रह्म रन्ध्र चक्र और ब्रह्मचक्र। इन चक्रों में ध्यान करने से आनन्द मिलने लगता है। इसके अभ्यास से भी मोक्ष लाभ होता है।

हर प्रकार के योग में ही लय का सम्बन्ध है। लय के बिना योग होता ही नहीं। प्रश्न है कि किसका लय? इसका उत्तर है चित्त का लय। महर्षि पतञ्जलि ने चित्त के लय पर बहुत ज़ोर दिया है। योग की सफल और अलौकिक क्षमता में कोई भी सन्देह नहीं है। योगी लोग बहुज्ञ (ज्ञानी), दीर्घजीवी और सदा प्रसन्न चित्त रहते हैं। भोजन न करने से या श्वास-रोकने से भी इनकी जीवन रक्षा होती है। ये सब बातें नितान्त अविश्वसनीय नहीं हैं।

नादानुसन्धान

बद्ध जीव श्वास-प्रश्वास के अधीन होकर निरन्तर इडा-पिंगला के मार्ग में चल रहा है। उसका सुषुम्ना पथ प्रायः बन्द है। इसलिये साधारण मनुष्य की या बद्ध जीव की इन्द्रियां और चित्त सब बहिर्मुख हैं। जो अखण्ड नाद, जगत् के अन्तस्थल में, आकाश मण्डल में निरन्तर ध्वनित हो रहा है उसे हम चित्त और प्राणों की विक्षिप्तता के कारण सुन नहीं पाते। परन्तु जिस समय गुरुकृपा से तथा क्रिया-विशेष के द्वारा सुषुम्ना-मार्ग खुल जाता है उस समय प्राण; स्थिर और सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त होकर सुषुम्ना-पथ में प्रविष्ट होते हैं और उस शून्य पथ (सुषुम्ना पथ) से मन अनाहत ध्वनि सुनता है। इस अनाहत-ध्वनि का निरन्तर अनुसरण करते करते मन धीरे-धीरे निर्मल और शान्त अवस्था को प्राप्त करता है। जब मन पूर्णरूपेण स्थिर हो जाता है तब फिर नाद ध्वनि सुनाई नहीं पड़ती। उस समय चिदात्मक आत्मा अपने स्वरूप में स्थिर होकर बाह्य प्रकृति के स्पर्श से मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

पातञ्जल योग के '**योगश्चित्तवृत्ति निरोधः॥**' 1/2॥

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।। 1/3।।

इन प्रारम्भिक सूत्रों की यही संक्षिप्त व्याख्या है।

नाद मूलतः एक होने पर भी औपाधिक सम्बन्ध के कारण विभिन्न स्तरों में विभक्त है। योगियों ने साधारणतः इस प्रकार के सात स्तरों का उल्लेख किया है। शास्त्र जिसको ओंकार अथवा प्रणव का स्वरूप कहते हैं वही उपाधि रहित शब्द तत्त्व है। वैयाकरणों ने तथा किसी-किसी प्राचीन साधक सम्प्रदाय ने 'स्फोट' नाम से इसकी व्याख्या की है। यह स्फोट ही अखण्ड-सत्तारूप ब्रह्म तत्त्व का वाचक है अर्थात् इसी से ब्रह्मभाव की स्फूर्ति होती है।

तस्य वाचकः प्रणवः। (पा० यो० 1/27)

प्रणव ईश्वर का वाचक है, इस बात का भी तात्पर्य यही है। वाचक स्फोट शब्द, ब्रह्म के रूप में और वाच्य सत्ता, परब्रह्म के रूप में वर्णन की गई है। इसलिये एक प्रकार से ब्रह्म ही ब्रह्म का प्रकाशक है, यह कहा जा सकता है। स्वप्रकाश ब्रह्म अपने स्वरूप के अतिरिक्त और किसी पदार्थ के द्वारा प्रकाशित नहीं हो सकता। परन्तु स्फोट का शब्दतत्त्व जब तक जीव के लिये अव्यक्त रहता है तबतक उसके द्वारा कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इसलिये योगी यथाविधि ध्वनि और नाद का अवलम्बन करके इसको अभिव्यक्त करते हैं। कुण्डलिनी का उद्बोधन भी कुछ अंशों में इसी कार्य के समान है। मूलाधार से नाद उठना आरम्भ होता है और सहस्रार में पहुंच कर लय को प्राप्त हो जाता है। साधक का मन इस नाद के साथ युक्त होने पर अनायास ब्रह्मपद तक उठकर चिन्मय आकार धारण करता है और चैतन्य के अन्दर अपने आप को मिला देता है।

शाम्भवी मुद्रा

वेदशास्त्र पुराणानि सामान्यगणिका इव।
एकैव शाम्भवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव।। 35।।

चारों वेदों, छहों शास्त्रों और अट्ठारह पुराणों के बारे में अनेक लोग जानते हैं इसलिये वेद, शास्त्र और पुराण साधारण वेश्या के समान हैं किन्तु शाम्भवी मुद्रा ही एकमात्र ऐसी मुद्रा है जिसे कुलीन घर की बहू के समान छिपा कर रखा जाता है।

अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता।
एषा सा शाम्भवी मुद्रा वेदशास्त्रेषु गोपिता।। 36।।

शाम्भवी मुद्रा से प्राणलय होता है और प्राणलय से चित्त का लय होता है। शरीर के मूलाधार से लेकर सहस्रार चक्र या ब्रह्मरन्ध्र तक किसी भी आन्तरिक चक्र पर अन्तःकरण एकाग्र करके और आंखों की पलकें झपके बिना ही किसी बाह्यलक्ष्य पर दृष्टि एकाग्र कर ध्यान करने का अभ्यास शाम्भवी मुद्रा कहलाता है। वेदों में और शास्त्रों में यह मुद्रा गुप्तरूप से वर्णित है।

अन्तर्लक्ष्य विलीन चित्तपवनो योगी यदा वर्त्तते-
दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि।
मुद्रेयं खलु शाम्भवी भवति सा लब्ध्वा प्रसादाद्गुरोः-
शून्याशून्यविलक्षणं स्फुरति तत्तत्त्वं परं शाम्भवम्।। 37।।

अपने शरीर के अन्दर किसी चक्र में योगी का मन एकाग्र हो जाने पर ध्येय लक्ष्य में प्राणवायु सहित मन लीन हो जाता है और उसकी अपलक तथा स्थिर दृष्टि, आंखें खुली रहने पर भी बाह्य जगत् की या नीचे पड़ी किसी वस्तु को भी नहीं देखतीं। ऐसी शाम्भवी मुद्रा को गुरु की कृपा से पाकर योगी शाम्भवी मुद्रा के निरन्तर अभ्यास के बाद अपने अन्तःकरण में स्फुरित (प्रकट) अत्यन्त कल्याणकारी तत्त्व परब्रह्म को साक्षात् करता है। यह तत्त्व बड़ा विचित्र है। यह न तो शून्य है और न ही अशून्य अर्थात् ध्येयाकार वृत्ति होने के कारण शून्य से विचित्र और अन्त में ध्येयाकार वृत्ति का भी अभाव हो जाने के कारण अशून्य से भी विलक्षण वास्तविक परम तत्त्व है।

श्रीशाम्भव्याश्च खेचर्या अवस्थाधामभेदतः।
भवेच्चित्तलयानन्दः शून्ये चित् सुखरूपिणी।। 38।।

शाम्भवी मुद्रा और खेचरी मुद्रा इन के बीच अवस्था और स्थान का भेद होने पर भी इन दोनों मुद्राओं के अभ्यास से शून्य, चित् और सुख स्वरूप ब्रह्म में चित्त के लय होने पर अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति होती है।

शाम्भवी मुद्रा में आंखें अपलक खुली रहती हैं इस कारण शाम्भवी मुद्रा की स्थिति बाहर की है किन्तु खेचरी मुद्रा में बन्द आंखें भ्रूमध्य में लगी रहती हैं। शाम्भवी मुद्रा में ध्यान, हृदय आदि किसी आन्तरिक लक्ष्य पर लगाया जाता है जबकि खेचरी मुद्रा में मन, भ्रूमध्य पर एकाग्र किया जाता है। इस प्रकार इन दोनों मुद्राओं के अभ्यास में मन और आंखों की स्थिति और स्थान

अलग-अलग होते हैं किन्तु इन दोनों मुद्राओं के अभ्यास से साधक को देश, काल, वस्तु और सीमा (परिच्छेद) से शून्य अथवा सजातीय, विजातीय या स्वगत के भेद से शून्य (रहित) चैतन्य और आनन्द स्वरूप आत्मतत्त्व में चित्त के लय होने का आनन्द मिलता है।

उन्मनी मुद्रा

तारे ज्योतिषी संयोज्य किञ्चिदुन्नमयेद् भ्रुवौ।
पूर्वयोगं मनो युञ्जन्नुन्मनीकारकः क्षणात्।। 39।।

नाक के अगले भाग पर जो चमक दिखाई देती है वहाँ पर दृष्टि एकाग्र करके दोनों भौंहों को थोड़ा सा उठाना चाहिये तथा पूर्वोक्त शाम्भवी मुद्रा की तरह मन को शरीर के अन्दर किसी चक्र आदि पर एकाग्र करना चाहिये। इस तरह का अभ्यास उन्मनी मुद्रा कहलाता है। उन्मनी मुद्रा का अभ्यास करने से उन्मनी अवस्था जल्दी ही आ जाती है।

केचिदागमजालेन केचिन्निगमसंकुलैः।
केचित्तर्केण मुह्यन्ति नैव जानन्ति तारकम्।। 40।।

कुछ लोग शास्त्रों को पढ़कर उनमें लिखी बातों में उलझे रहते हैं। कुछ वैदिक विद्वान कर्मकाण्ड के जाल में फंसे रहते हैं और कुछ वैशेषिक, न्याय आदि दर्शनों के जानकार तरह-तरह की युक्तियों-प्रत्युक्तियों में उलझे रहते हैं। ये शास्त्र विद्, निगम विद् और तार्किक लोग शास्त्रों की बातों में, कर्मकाण्डों में और तर्क-वितर्क में उलझ कर अपने लक्ष्य को भूल जाते हैं और संसार सागर से तर जाने का उपाय नहीं जान पाते। किन्तु उन्मनी मुद्रा के निरन्तर अभ्यास से साधक भवसागर को पार कर लेता है।

अर्धोन्मीलितलोचनः स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षण-
श्चन्द्रार्कावपि लीनतामुपनयन्निष्पन्दभावेन यः।
ज्योतीरूपमशेषबीजमखिलं देदीप्यमानं परं -
तत्त्वं तत् पदमेति वस्तु परमं वाच्यं किमत्राधिकम्।। 41।।

आधी खुली आंखों से नाक के अगले भाग पर दृष्टि जमाकर, या नाक से बारह अंगुलि दूर तक एकटक दृष्टि लगाकर तथा शरीर, इन्द्रियों और मन को

निश्चल या स्थिर रखकर, चन्द्र और सूर्य नाड़ियों में बहने वाले प्राणवायु को भी लीन करके अर्थात् बहुत सूक्ष्म बनाकर नाक के अन्दर ही हल्का श्वास-प्रश्वास करते हुए मन को एकाग्र करके योगी; ज्योति स्वरूप अर्थात् सारे संसार को प्रकाशित करने वाली सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पादक, प्रत्येक दृष्टि से परिपूर्ण, स्वयं प्रकाशमान, सारे विश्व की साक्षी स्वरूप उस सर्वोत्कृष्ट वास्तविक सत्ता को साक्षात् प्राप्त करता है। इस सत्ता के बारे में इससे अधिक और क्या कहा जा सकता है?

दिवा न पूजयेल्लिङ्गं रात्रौ चैव न पूजयेत्।
सर्वदा पूजयेल्लिङ्गं दिवारात्रिनिरोधतः।। 42।।

दिन में अर्थात् जब रजोगुण प्रधान सूर्य (पिंगला नाड़ी या दायां स्वर) स्वर चल रहा हो तब सृष्टि के सभी पदार्थों आदि के मूल कारण परमात्मतत्त्व का चिन्तन या योगाभ्यास नहीं करना चाहिये। रात्रि में भी अर्थात् जब तमः प्रधान चन्द्रस्वर (इडा नाड़ी या बांया स्वर) चल रहा हो तब भी योगाभ्यास नहीं करना चाहिये। दिन और रात अर्थात् सूर्य और चन्द्र दोनों स्वरों का निरोध करके सुषुम्ना के समय जो पिंगला और इडा रूपी दिन और रात दोनों का सन्धि समय है उसमें सदा योगाभ्यास करना चाहिये।

इस श्लोक में **दिवारात्रि निरोधतः** का अर्थ है कि सूर्य और चन्द्र दोनों स्वरों के बन्द हो जाने पर अर्थात् प्राणवायु के सुषुम्ना में प्रवाहित होने पर योगाभ्यास करना चाहिये। क्योंकि सुषुम्ना में प्राणवायु के चलने पर मन स्थिर हो जाता है। सुषुम्ना में प्राणवायु के प्रवाहित होने की यही पहिचान है कि जब दोनों स्वर समान रूप से अथवा एक - एक क्षण में बदलते हुए चलते हैं तब प्राणवायु सुषुम्ना में चलने लगता है।

'पवन विजय स्वरोदय' में भी उपरोक्त श्लोक मिलता है।

खेचरी मुद्रा

सव्यदक्षिणनाडिस्थो मध्ये चरति मारुतः।
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन् स्थाने न संशयः।। 46।।

जब प्राणवायु बायीं और दायीं नाड़ियों के बीच सुषुम्ना में चलने लगता है तब उसी स्थान पर खेचरी मुद्रा निस्सन्देह स्थिर हो जाती है।

इडापिङ्गलयोर्मध्ये शून्यं चैवानिलं ग्रसेत्।
तिष्ठते खेचरीमुद्रा तत्र सत्यं पुनः पुनः।। 44।।

इडा और पिंगला नाड़ियों अर्थात् नाक के बायें और दायें स्वरों के बीच में जो शून्य या खाली स्थान है अर्थात् आकाश (हृदाकाश) है वहाँ पर पहुंच कर प्राणवायु स्थिर हो जाता है। इसका यही तात्पर्य है कि इडा और पिंगला नाड़ियों में बारी-बारी से चलने वाला प्राणवायु सुषुम्ना में पहुंचकर सुषुम्ना के मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र में पहुंच जाता है। इसी हृदाकाश में या खाली स्थान पर खेचरी मुद्रा लगाई जाती है यह तथ्य है।

खेचरी मुद्रा में जीभ को पलट कर कोमल तालु और नाक के स्वरों के रास्ते भ्रूमध्य में लगाया जाता है। भ्रूमध्य में जो खाली स्थान या आकाश है वहाँ पर जीभ लगाने का अभ्यास खेचरी मुद्रा कहलाता है। इसी खाली स्थान के ऊपर ब्रह्मरन्ध्र है। आधुनिक शल्य चिकित्सा (सर्जरी) में मस्तिष्क का ऑपरेशन करने के लिये नाक के स्वरों और कोमल तालु का यही रास्ता अपनाया जाता है। इस तरह के ऑपरेशन पहिले सिर की हड्डी काटकर किये जाते थे।

सूर्याचन्द्रमसोर्मध्ये निरालम्बान्तरं पुनः।
संस्थिता व्योमचक्रे या सा मुद्रा नाम खेचरी।। 45।।

सूर्य और चन्द्र नाड़ियों या नाक के दायें और बायें स्वरों के बीच जो आधार या आश्रय (सहारे) से रहित खाली स्थान है वहाँ पर जीभ को ले जाने की क्रिया खेचरी मुद्रा कहलाती है।

व्योम चक्र अर्थात कई आकाशों का समूह। हठयोग के अनुसार हमारे शरीर में पांच आकाश हैं जो भ्रूमध्य में मिलते हैं। ये इस प्रकार हैं -

1. श्वेत वर्ण का ज्योतिरूप आकाश। 2. रक्तवर्ण का प्रकाशरूप आकाश। 3. धूम्रवर्ण (धुएं के रंग) का महाकाश। 4. नीलवर्ण (नीले रंग) का तत्त्वाकाश और 5. विद्युत वर्ण का सूर्य आकाश।

सोमाद्यत्रोदिता धारा साक्षात् सा शिववल्लभा।
पूरयेदतुलां दिव्यां सुषुम्नां पश्चिमे मुखे।। 46।।

खेचरी मुद्रा का अभ्यास देर तक करने से भ्रूमध्य से लेकर सहस्त्रार तक बहुत गर्म हो जाता है। शरीर में उत्पन्न इस गर्मी से चन्द्रमा अर्थात् तालु मूल से अमृत की धारा बहने लगती है। इसीलिये खेचरी मुद्रा शिव जी को बहुत प्रिय है। अमृत की इस धारा से निर्मल और शरीर की सभी नाड़ियों में सर्वश्रेष्ठ सुषुम्ना नाड़ी को नाक के बायें स्वर के द्वारा प्राणवायु से भरना चाहिये।

पुरस्ताच्चैव पूर्येत निश्चिता खेचरी भवेत्।
अभ्यस्ता खेचरी मुद्राप्युन्मनी सम्प्रजायते।। 47।।

खेचरी मुद्रा के द्वारा नाक के दायें स्वर में बहने वाली प्राणवायु भी सुषुम्ना में पहुंचानी चाहिये। इडा और पिंगला नाड़ियों में चलने वाली प्राणवायु को सुषुम्ना में प्रविष्ट कराने से खेचरी मुद्रा निश्चय ही सिद्ध हो जाती है। खेचरी मुद्रा का नियमित अभ्यास करने से चित्त की उन्मनी अवस्था हो जाती है। भाव यह है कि सुषुम्ना में प्राणवायु की गति होने पर मन एकाग्र हो जाता है। मन की एकाग्रता बढ़ने पर मन जहाँ एकाग्र किया गया है वहां पर अर्थात् अपने ध्येय में लीन हो जाता है। मन का यह लय ही उन्मनी भाव या तुरीयावस्था कहलाती है।

भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं मनस्तत्र विलीयते।
ज्ञातव्यं तत् पदं तुर्यं तत्र कालो न विद्यते।। 48।।

भौहों के बीच शिवजी का स्थान है। शिव अर्थात् सुख स्वरूप आत्मा इसी स्थान पर विराजमान है। इस स्थान पर मन लीन हो जाता है अर्थात् मन की एकाग्रता बहुत बढ़ जाने पर मन की वृत्ति शिवाकार अर्थात् आनन्दस्वरूप हो जाती है। यही अवस्था तुरीयावस्था होती है। तुरीयावस्था में पहुंचे हुए योगी को मृत्यु का भय नहीं रहता।

साधारणा मनुष्य की आत्मा की तीन अवस्थाएं होती हैं जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। किन्तु जब वह इन तीनों अवस्थाओं को पार कर जाता है तब वह तुरीयावस्था या चौथी अवस्था में पहुंच जाता है। तुरीयावस्था को प्राप्त आत्मा, ब्रह्म के साथ तदाकार अर्थात् ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।

तुर्यगाभूमि

योग की सात ज्ञानभूमियों में 'तुर्यगा' अन्तिम और सातवीं भूमि (अवस्था)

है। इस अवस्था को प्राप्त योगी सदैव ध्यानमग्न रहता है। संसार का कोई भी विषय, पदार्थ या व्यक्ति उसकी समाधि भंग नहीं कर सकता। इस भूमि में पहुंचा योगी स्वयं भी अपनी समाधि भंग नहीं कर सकता। इस ज्ञान भूमि को प्राप्त योगी 'ब्रह्मविद् वरिष्ठ' अर्थात सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी कहलाता है। वह जीवन्मुक्त हो जाता है और अपने में ही मग्न रहता है।

श्रुति में इस स्थिति का वर्णन इन शब्दों में किया गया है –

आत्मक्रीड आत्मरतिरेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः।

जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त योगी अपने में ही सन्तुष्ट रहता है। उसे किसी से राग या द्वेष नहीं होता।

गीता में जीवन्मुक्त योगी की इस अवस्था का वर्णन इस प्रकार है –

'**आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।।**' गीता 2/55

सुषुम्ना में प्राण चलने से चन्द्र और सूर्य नाड़ियों में प्राण वायु की गति रुक जाती है। इसलिये कहा गया है :- **भोक्त्री सुषुम्ना कालस्य।**

अभ्यसेत् खेचरीं तावद्यावत् स्याद्योगनिद्रितः।
सम्प्राप्तयोग निद्रस्य कालो नास्ति कदाचन।। 49।।

खेचरी मुद्रा तब तक लगाये रखनी चाहिये जब तक साधक योग निद्रा में न पहुंच जाये अर्थात् उसके चित्त की सभी वृत्तियों का निरोध न हो जाय। योगनिद्रा में लीन योगी को कभी भी मृत्यु का भय नहीं सताता।

निरालम्बं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।
स बाह्याभ्यन्तरे व्योम्नि घटवत्तिष्ठति ध्रुवम्।। 50।।

चित्त को किसी भी प्रकार की वृत्ति के सहारे (आलम्बन) से अलग करके योगी को कुछ भी नहीं सोचना चाहिये। उसे परवैराग्य के अभ्यास से खेचरी मुद्रा के द्वारा उत्पन्न मन की ब्रह्माकार वृत्ति को भी त्याग देना चाहिये। जैसे आकाश के नीचे रखे खाली घड़े में उसके बाहर और अन्दर सभी जगह आकाश ही रहता है उसी प्रकार खेचरी मुद्रा में चित्त के सभी आलम्बन

(सहारे) छोड़ देने पर योगी अन्दर से और बाहर से सभी दृष्टियों से ब्रह्म भाव से परिपूर्ण रहता है।

बाह्यवायुर्यथा लीनस्तथा मध्ये न संशयः।
स्वस्थाने स्थिरतामेति पवनो मनसा सह।। 51।।

खेचरी मुद्रा में शरीर से बाहर रहने वाला वायु जैसे शरीर के अन्दर नहीं आता अर्थात् बाहर ही रहता है उसी प्रकार शरीर में रहने वाला प्राणवायु भी बाहर न जा सकने के कारण देह में ही लीन हो जाता है। खेचरी मुद्रा में मन की एकाग्रता बढ़ने के साथ-साथ प्राण वायु सूक्ष्म होता जाता है। सूक्ष्म हो जाने पर प्राण, मन को साथ लेकर अपने स्थान ब्रह्मरन्ध्र में पहुंच कर कर स्थिर हो जाता है।

एवमभ्यसमानस्य वायुमार्गे दिवानिशम्।
अभ्यासाज्जीर्यते वायुर्मनस्तत्रैव लीयते।। 52।।

इस प्रकार खेचरी मुद्रा का रात-दिन अभ्यास कर प्राणवायु को सुषुम्ना में पहुंचाया जाता है। इस प्रकार के अभ्यास से प्राण वायु क्षीण अर्थात् सूक्ष्म होता जाता है और प्राणवायु के साथ मन भी वहीं (सुषुम्ना के रास्ते ब्रह्मरन्ध्र में) लीन हो जाता है।

अमृतैः प्लावयेद्देहमापादतलमस्तकम्।
सिद्ध्यत्येव महाकायो महाबलपराक्रमः।। 53।।

खेचरी मुद्रा के निरन्तर अभ्यास से चन्द्रमा से निकले अमृत रस से योगी का शरीर सिर से पांव के तलुओं तक भर जाता है। ऐसे श्रेष्ठ शरीर और अत्यधिक बल तथा पराक्रम से युक्त योगी अमृत के स्नान से पवित्र और सिद्ध हो जाता है।

सूक्ष्म प्राण

खेचरी मुद्रा के इस वर्णन में 51 और 52 श्लोकों में प्राण वायु के स्थिर होने या क्षीण होने की बात कही गई है। प्राणवायु के क्षीण या सूक्ष्म अथवा स्थिर होने पर मन की एकाग्रता इतनी अधिक बढ़ने का उल्लेख भी किया गया है कि मन, प्राण के साथ लीन हो जाता है।

गीता में इस स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया गया है –

स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवो।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तर चारिणौ।। 5/27।।

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनि मोक्षपरायणः।
विगतेच्छा भय क्रोधो यः सदा मुक्त एव सः।। 5/28।।

बाहर के अर्थात् संसार के भोग विषयों के बारे में न सोचता हुआ, अपने नेत्रों की दृष्टि भौंहों के बीच माथे पर टिका कर, अपने श्वास और प्रश्वास को इतना सूक्ष्म करके कि हल्का श्वास-प्रश्वास नाक में ही चलता रहे, अपनी सभी इन्द्रियों, मन और बुद्धि को वश में रखने वाला, किसी भी प्रकार की कामना, भय और क्रोध से रहित, मोक्ष के लिये सदा प्रयत्नशील और मौन रहने वाला विवेकशील पुरुष सदा मुक्त ही होता है।

उपरोक्त वर्णन में प्राण वायु के सुषुम्ना मार्ग में प्रविष्ट होकर ब्रह्मरन्ध्र में पहुंचाने की स्थिति का जो दिग्दर्शन हठयोग प्रदीपिका में है वह समान ही है।

शक्तिमध्ये मनः कृत्वा शक्तिं मानसमध्यगाम्।
मनसा मन आलोक्य धारयेत् परमं पदम्।। 54।।

कुण्डलिनी शक्ति में मन एकाग्र करके और कुण्डलिनी शक्ति को मन से परिपूर्ण करके अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति पर ध्यान केन्द्रित कर कुण्डलिनी शक्ति को मन के साथ मिलाकर सोई हुई कुण्डलिनी को जगाकर, मन अर्थात् अन्तःकरण से बुद्धि को देखकर अर्थात् मन के द्वारा बुद्धि को वश में रखकर मन में परमात्मा के सर्वोत्कृष्ट स्वरूप का ध्यान करना चाहिये।

खमध्ये कुरु चात्मानमात्ममध्ये च खं कुरु।
सर्वं च खमयं कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्।। 55।।

ख अर्थात् पूर्ण ब्रह्म में अपने आत्मा का स्वरूप मिला देना चाहिये और और अपने आत्मस्वरूप में पूर्ण ब्रह्म को मिला देना चाहिये। इस प्रकार अपने को और समस्त जगत को ब्रह्ममय या ब्रह्म से परिपूर्ण बनाकर कुछ भी नहीं सोचना चाहिये।

'अहं ब्रह्माऽस्मि', 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' इन महावाक्यों की भावना निरन्तर करने से साधक का मन, बुद्धि और आत्मा, ब्रह्ममय बन जाता है। उसे सब ओर ब्रह्म का अस्तित्त्व अनुभव होने लगता है।

अन्तः शून्यो बहि शून्यः शून्यः कुम्भ इवाम्बरे।
अन्तःपूर्णो बहिपूर्णः पूर्णः कुम्भ इवार्णवे।। 56।।

इस श्लोक में समाधि में लीन योगी की स्थिति का वर्णन किया गया है। जैसे खुले आकाश के नीचे रखा घड़ा अन्दर से और बाहर से खाली होता है वैसे ही समाधि में लीन योगी के अन्तःकरण में ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई वृत्ति बची नहीं रहती। ऐसे योगी को अपने से बाहर भी ब्रह्म की अनुभूति या साक्षात् के सिवाय और किसी सांसारिक पदार्थ का भान नहीं होता, इसलिये उसका अन्तःकरण और बहिरिन्द्रियां ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य सभी पदार्थों से रहित या शून्य होती हैं। इसी प्रकार समुद्र में डूबा हुआ घड़ा अन्दर और बाहर से जल से परिपूर्ण होता है उसी प्रकार समाधिस्थ योगी का अन्तःकरण और बाह्येन्द्रियां ब्रह्मभाव की अनुभूति से परिपूर्ण हो जाती हैं। समाधि में बैठे योगी को ब्रह्म की सत्ता के सिवाय किसी अन्य पदार्थ या शक्ति की अनुभूति या ज्ञान नहीं होता।

सप्तधा प्रान्तभूमिप्रज्ञा

इस श्लोक में समाधि की सबसे ऊँची अवस्था वाली बुद्धि का वर्णन किया गया है। इस स्थिति में बुद्धि की सात प्रकार की अवस्थाएं 'सप्तधा प्रान्तभूमि प्रज्ञा' होती हैं। निर्मल विवेकख्याति उदय होने से योगी का चित्त अशुद्धि रूप आवरण मलों के नष्ट हो जाने से सांसारिक ज्ञानों को उत्पन्न न कराने वाली बुद्धि की उत्कृष्ट अवस्था होती है। इन सात भूमियों या उत्कृष्ट बुद्धि के स्तरों में से पहली चार कार्य **विमुक्ति प्रज्ञा** के अन्तर्गत हैं और अन्तिम तीन प्रान्तभूमि की अवस्थाएं चित्त से विमुक्त कराने वाली हैं अतः वे **'चित्तविमुक्ति प्रज्ञा'** कहलाती हैं। इन भूमियों में से प्रथम चार **'कार्यविमुक्ति प्रज्ञा'** के अन्तर्गत इस प्रकार हैं –

1. **हेयशून्य अवस्था :** जो कुछ हेय अर्थात् छोड़ने योग्य था उसे जान

लिया। अब कुछ जानने योग्य शेष नहीं रहा अर्थात् जितना त्रिगुणमय दृश्य-जगत् है वह सब परिणाम, ताप और संस्कार दुःखों तथा गुणवृत्ति विरोध से दुःखरूप ही है अतः छोड़ने योग्य (हेय) है, यह मैंने जान लिया '**परिज्ञातं हेयं नास्य पुनः परिज्ञेयमस्ति।**'

2. **हेयहेतुक्षीण अवस्था :** जो दूर करना था अर्थात् द्रष्टा और दृश्य का संयोग जो हेय हेतु है वह दूर कर दिया अब कुछ दूर करने योग्य नहीं बचा।
3. **प्राप्यप्राप्त अवस्था :** जो साक्षात् करना था वह साक्षात् कर लिया अर्थात् निरोध समाधि से 'हान' को पहिचान लिया है। अब कुछ देखने योग्य नहीं रहा '**साक्षात्कृतं निरोध समाधिना हानम्।**'
4. **चिकीर्षाशून्य अवस्था :** जो कुछ कार्य सम्पादन करना था वह काम पूरा कर लिया अर्थात् हान का उपाय निर्मल विवेकख्याति सम्पादित कर ली है, अब सम्पादन करने योग्य कुछ नहीं बचा।

   '**भावितो विवेकख्यातिरूपो हानोपायः।**'

   यह प्रज्ञा; परवैराग्य की पराकाष्ठा है अथवा बुद्धि के व्यापार की प्रान्त रेखा (प्रान्त भूमि) है।

प्रान्तभूमि प्रज्ञा की अन्तिम तीन अवस्थाएं चित्त से विमुक्त कराने वाली हैं अतः वे '**चित्तविमुक्ति प्रज्ञा**' कहलाती हैं।

5. **चित्तसत्त्वकृतार्थता :** चित्त ने भोग और अपवर्ग देने का अपना अधिकार पूरा करा दिया। अब चित्त का कोई अधिकार नहीं बचा '**चरिताधिकारा बुद्धि :।**'
6. **गुणलीनता:** पर्वत की चोटी से गिरे हुए पत्थर बिना रुके जैसे पृथ्वी पर आकर चूर-चूर हो जाते हैं उसी तरह चित्त को बनाने वाले सत्त्व, रज और तम गुण अपने कारण में लीन होने को हैं, क्योंकि अब तीन गुणों का कोई प्रयोजन शेष नहीं रह जाता।

   गुणा गिरिशिखरकूट च्युता इव ग्रावाणो निरवस्थानाः-
   स्वकारणे प्रलयाभिमुखाः सह तेनास्तं गच्छन्ति।
   न चैषां प्रविलीनानां पुनरस्त्युत्पादः प्रयोजनाभावादिति।।
7. **आत्मस्थिति :** तीनों गुणों के सम्बन्ध से परे होकर पुरुष, परमात्मस्वरूप में स्थित हो रहा है। अब कुछ शेष नहीं रहा।

एतस्यामवस्थायां गुणसम्बन्धातीतः।
स्वरूपमात्र ज्योतिरमलः केवली पुरुष इति।।

इन सात प्रकार की प्रान्तभूमि प्रज्ञा को अनुभव करता हुआ योगी कुशल (जीवन्मुक्त) कहलाता है। तथा चित्त के अपने कारण में लीन होने पर भी कुशल (विदेहमुक्त) कहलाता है। जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त योगी, गुणों के सम्बन्ध से रहित अर्थात् गुणातीत, केवल, शुद्ध आत्मस्वरूप में स्थित होते हैं। अतः जीवन्मुक्त योगी विदेहमुक्त अवस्था को भी प्रत्यक्ष कर लेता है।

बाह्यचिन्ता न कर्तव्या तथैवान्तरचिन्तनम्।
सर्वचिन्तां परित्यज्य न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।। 57।।

समाधिस्थ योगी को बाह्य संसार के विषय-भोगों के बारे में नहीं सोचना चाहिये। उसे मन में निरन्तर उठने वाली कल्पनाओं, आशाओं और कामनाओं के बारे में भी नहीं सोचना चाहिये। बाह्यसंसार की और मन की सभी प्रकार की चिन्ताएं और संकल्प-विकल्प त्यागकर योगी को परवैराग्य के द्वारा आत्माकार वृत्ति को भी त्याग देना चाहिये। आत्माकार वृत्ति त्याग देने पर स्वरूपावस्थिति रूप जीवन्मुक्ति हो जाती है।

संकल्पमात्रकलनैव जगत् समग्रं-
संकल्पमात्रकलनैव मनोविलासः।
संकल्पमात्र मतिमुत्सृज़ निर्विकल्प-
माश्रित्य निश्चयमवाप्नुहि राम शान्तिम्।। 58।।

मन में तरह तरह की कल्पनाएं और कामनाएं करने के कारण ही हम इस संसार के सारे काम-काज कर रहे हैं और इन्हीं मानसिक संकल्प विकल्पों के द्वारा तरह तरह की आशाएं कर रहे हैं और सपने देख रहे हैं। इसलिये साधक को मन के सारे संकल्प-विकल्प त्याग करके अर्थात् आत्मा को ही कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी न समझकर मन, बुद्धि और अन्तःकरण को परमात्मतत्त्व में लगा कर हे राम। स्वात्माराम योगी तुम शान्ति को प्राप्त करो।

कर्पूरमनले यदवत् सैन्धवं सलिले यथा।
तथा संधीयमानं च मनस्तत्त्वे विलीयते।। 59।।

जैसे कपूर को आग में डालने पर कपूर आग से मिलकर अपना रूप छोड़ देता है और आग ही बन जाता है। जैसे सेंधा नमक पानी में घुलकर अपना आकार त्याग कर पानी जैसा हो जाता है। उसी तरह परम तत्त्व अर्थात् आत्मतत्त्व में मन को लगा देने से मन भी आत्माकार अर्थात् परमात्मतत्त्वमय हो जाता है।

ज्ञेयं सर्वं प्रतीतं च ज्ञानं च मन उच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं समं नष्टं नान्यः पन्था द्वितीयकः।। 60।।

इस जगत में जो कुछ भी जानने योग्य (ज्ञेय) लग रहा है वह सब और इन पदार्थों का ज्ञान; मन के संकल्प-विकल्पों के कारण ही हो रहा है। किन्तु मन के परमात्मतत्त्व में लीन हो जाने पर यह सारा दृश्य जगत (ज्ञेय) और इसका ज्ञान एक ही साथ नष्ट हो जाता है। सांसारिक पदार्थों और उनके ज्ञान के नष्ट हो जाने पर योगी के अन्तःकरण में ब्रह्मभाव के अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु या भावना शेष नहीं रह जाती।

मनोदृश्यमिदं सर्वं यत् किञ्चित् सचराचरम्।
मनसो ह्युन्मनीभावाद् द्वैतं नैवोपलभ्यते।। 61।।

इस संसार में जो कुछ चल और अचल पदार्थ दीख रहे हैं वे सब मन की कल्पनाएं ही हैं। मन की उन्मनी अवस्था अर्थात् मन का लय हो जाने पर ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई दूसरी वस्तु नहीं दिखाई देती।

ज्ञेयवस्तु परित्यागाद् विलयं याति मानसम्।
मनसो विलये जाते कैवल्यमवशिष्यते।। 62।।

इस दृश्य जगत की जानने योग्य (ज्ञेय) वस्तुओं का विचार अपने मन से निकाल देने पर मन परम-ब्रह्म में लीन हो जाता है। मन के ब्रह्म तत्त्व में लीन (लय) हो जाने पर कैवल्य अर्थात् आत्मा का अद्वितीय (दूसरे से रहित) शुद्ध स्वरूप बच रहता है।

एवं नानाविधोपायाः सम्यक् स्वानुभवान्विताः।
समाधिमार्गाः कथिताः पूर्वाचार्यैर्महात्मभिः।। 63।।

प्राचीन काल के आचार्यों और महात्माओं ने अपने अनुभवों के आधार पर समाधि लगाने के अनेक उपाय भली भांति बताये हैं।

सुषुम्नायै कुण्डलिन्यै सुधायै चन्द्रजन्मने।
मनोन्मन्यै नमस्तुभ्यं महाशक्त्यै चिदात्मने।। 64।।

सुषुम्ना नाड़ी को, कुण्डलिनी शक्ति को, भ्रूमध्य से अर्थात् चन्द्र से उत्पन्न अमृत को, मनोन्मनी अर्थात् तुरीयावस्था को, चैतन्य स्वरूप को और शरीर, मन, इन्द्रिय, आदि जड़ वस्तुओं में चैतन्य उत्पन्न करने वाली सर्वोत्कृष्ट महती-शक्ति को हम प्रणाम करते हैं।

नाद की उपासना

अशक्यतत्त्वबोधानां मूढानामपि सम्मतम्।
प्रोक्तं गोरक्षनाथेन नादोपासनमुच्यते।। 65।।

जिन लोगों को तत्त्व ज्ञान नहीं हो सकता ऐसे मूर्ख व्यक्तियों के लिये भी उपयोगी अनाहत नाद की उपासना विधि बताई जाती है। यह विधि योगी गोरक्षनाथ जी ने बताई है।

श्री आदिनाथेन सपादकोटिलयप्रकाराः कथिता जयन्ति।
नादानुसन्धानकमेकमेव मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम्।। 66।।

शिव जी ने चित्त को लीन (लय) करने के सवा करोड़ उपाय बताये हैं और ये सभी उपाय बहुत अच्छे हैं। किन्तु हम नादानुसन्धान को ही चित्त लय का सबसे मुख्य उपाय मानते हैं।

मुक्तासने स्थितो योगी मुद्रां संधाय शाम्भवीम्।
शृणुयाद् दक्षिणे कर्णे नादमन्तस्थमेकधीः।। 67।।

सिद्धासन में बैठकर योगी को शाम्भवी मुद्रा लगाकर और मन एकाग्र कर सुषुम्ना नाड़ी के अन्दर उठने वाले नाद को दायें कान में सुनने का प्रयत्न करना चाहिये।

श्रवणपुटनयनयुगलघ्राणमुखानां निरोधनं कार्यम्।
शुद्धसुषुम्नासरणौ स्फुटममलः श्रूयते नादः।। 68।।

दोनों कानों, आंखों, नाक के स्वरों को हाथों के अंगूठों और अंगुलियों

से बन्द करके प्राणायाम के अभ्यास से शुद्ध अर्थात् मलरहित सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग में उठने वाला शुद्ध नाद भली भांति सुनाई देता है। षण्मुखी मुद्रा में जिस प्रकार कान, आंख, नाक, और मुख को अंगूठों और अंगुलियों से बन्द किया जाता है उसी प्रकार नाद सुनने के लिये भी करना चाहिये।

आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयोऽपि च।
निष्पत्तिः सर्वयोगेषु स्यादवस्था चतुष्टयम्।। 69।।

चित्त वृत्ति निरोध के सभी उपायों में नाद की ये चार अवस्थाएं होती हैं- आरम्भावस्था, घटावस्था, परिचयावस्था और निष्पत्ति अवस्था।

आरम्भावस्था

ब्रह्मग्रन्थेर्भवेद् भेदो ह्यानन्दः शून्यसम्भवः।
विचित्रः क्वणको देहेऽनाहतः श्रूयते ध्वनिः।। 70।।

प्राणायाम के अभ्यास से अनाहत चक्र (हृदय चक्र) में स्थित ब्रह्मग्रन्थि जब खुल जाती है तब शून्य अर्थात् हृदाकाश में उठने वाला आनन्ददायक अनाहत नाद सुनाई देता है। यह अनाहत नाद आभूषणों की झंकार जैसा विचित्र होता है और शरीर के मध्य में सुनाई देता है।

दिव्यदेहश्च तेजस्वी दिव्यगन्धस्त्वरोगवान्।
सम्पूर्णहृदयः शून्ये आरम्भो योगवान् भवेत्।। 71।।

शून्य अर्थात् हृदाकाश में नाद आरम्भ हो जाने पर अर्थात् हृदय में अनाहत नाद प्रतीत होने पर योगी का हृदय आनन्द से और प्राणवायु से परिपूर्ण हो जाता है। ऐसे योगी का शरीर दिव्य, तेजस्वी, रोगरहित और दिव्य गन्ध से युक्त हो जाता है।

घटावस्था

द्वितीयायां घटीकृत्य वायुर्भवति मध्यगः।
दृढासनो भवेद् योगी ज्ञानी देवसमस्तदा।। 72।।

नादानुसन्धान की दूसरी अवस्था में प्राणवायु और अपानवायु मिलकर नाद और बिन्दु से तथा आत्मा और परमात्मा से संयुक्त होकर कण्ठ स्थान में

पहुंच जाते हैं और हृदय की ब्रह्मग्रन्थि से उठकर कण्ठ में स्थित विष्णु ग्रन्थि को भेदते हैं। तब नगाड़े बजने जैसा शब्द सुनाई देता है।

दृढ़ आसन अर्थात् स्थिर आसन में बैठा हुआ योगी ज्ञानवान और रूप, लावण्य, बढ़ जाने के कारण देवताओं के समान हो जाता है। राजयोग के अनुसार भी प्राण और अपान वायु; नाद और बिन्दु से तथा आत्मा और परमात्मा से जब मिल जाते हैं तब घटावस्था होती है:-

प्राणापानौ नादबिन्दू जीवात्मपरमात्मनोः।
मिलित्वा घटते यस्मात् तस्मात् स घट उच्यते।।

नादानुसन्धान की द्वितीय अवस्था को घटावस्था इसीलिये कहा जाता है क्योंकि इस अवस्था में प्राण, अपान, नाद, बिन्दु, आत्मा और परमात्मा परस्पर मिल (घट) जाते हैं।

विष्णुग्रन्थेस्ततो भेदात् परमानन्दसूचकः।
अतिशून्ये विमर्दश्च भेरीशब्दस्तथा भवेत्।। 73।।

हृदय की ब्रह्मग्रन्थि खुल जाने के बाद नादानुसन्धान की घटावस्था में कण्ठ में स्थित विष्णुग्रन्थि, कुम्भक प्राणायाम के अभ्यास से खुल जाती है। इस अवस्था में परम आनन्द की अनुभूति होती है। यह परमानन्द भविष्य में प्राप्त होने वाले ब्रह्मानन्द की सूचना देता है। घटावस्था में अतिशून्य में अर्थात् कण्ठ के खाली स्थान पर कई तरह के बाजों की मिली जुली ध्वनि तथा नगाड़े का शब्द सुनाई देता है।

परिचयावस्था

तृतीयायां तु विज्ञेयो विहाये मर्दलध्वनिः।
महाशून्यं तदा याति सर्वसिद्धिसमाश्रयम्।। 74।।

नादानुसन्धान की तीसरी अवस्था में अर्थात् परिचय अवस्था में भ्रूमध्य के आकाश (विहाय) में मर्दल (ढोल) की ध्वनि सुनाई देती है। इस अवस्था में प्राणवायु महाशून्य में अर्थात् भ्रूमध्य आकाश में पहुंच जाता है। प्राणवायु, महाशून्य अर्थात् अणिमा, महिमा आदि सभी सिद्धियों के आश्रय स्थल में

पहुंच जाता है। महाशून्य में संयम करने से अणिमा आदि सिद्धियां प्राप्त होने का संकेत योग के ग्रन्थों में पाया जाता है।

चित्तानन्दं तदा जित्वा सहजानन्द सम्भवः।
दोषदुःखजराव्याधि क्षुधा निद्रा विवर्जितः।। 75।।

रुद्रग्रन्थिं यदा भित्वा शर्वपीठगतोऽनिलः।

योगी को अनाहत नाद की ध्वनि सुनाई पड़ने पर उसके मन में जो आनन्द अनुभव होता है वह आनन्द परिचयावस्था के अनाहत नाद को सुनकर स्वाभाविक आत्मानन्द में बदल जाता है। परिचयावस्था में प्राण जब आज्ञा चक्र की रुद्रग्रन्थि को भेदकर शर्वपीठ (शिवस्थान) अर्थात् भ्रूमध्य में पहुंच जाता है तब योगी वात, पित्त और कफ शरीर के इन तीन दोषों से छुटकारा पा जाता है। शारीरिक और मानसिक दुःख, बुढ़ापा, रोग, भूख और नींद भी उसे नहीं सताती।

निष्पत्ति अवस्था

निष्पत्तौ वैणवः शब्द क्वणद् वीणाक्वणो भवेत्।। 76।।

प्राण के ब्रह्मरन्ध्र में पहुंचने पर निष्पत्ति अवस्था आती है। परिचयावस्था और निष्पति अवस्था की **ज्योत्स्ना** टीका के अनुसार 75 और 76 श्लोकों के उपरोक्त अर्थ हैं। किन्तु श्लोक 76 की पहली पंक्ति को परिचयावस्था से मिलाकर अर्थ करना संगत नहीं प्रतीत होता। इसलिये इस प्रकरण के अन्य श्लोकों की भांति श्लोक 76 में निष्पत्ति अवस्था का ही वर्णन है न कि परिचयावस्था का। अतः श्लोक 76 को निष्पत्ति अवस्था से सम्बद्ध मानने से निम्नलिखित अर्थ युक्तिसंगत प्रतीत होता है –

रुद्रग्रन्थिं यदा भित्वा शर्वपीठ गतोऽनिलः।
निष्पत्तौ वैणवः शब्दः क्वणद् वीणाक्वणो भवेत्।। 76।।

आज्ञाचक्र या भ्रूमध्य की रुद्रग्रन्थि को भेद कर जब प्राण शर्वपीठ अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र में पहुंचता है तब नादानुसन्धान की चौथी और अन्तिम निष्पत्ति

अवस्था होती है। निष्पत्ति अवस्था में योगी को सिर में बांसुरी और वीणा बजने का शब्द सुनाई देता है।

एकीभूतं तदा चित्तं राजयोगाभिधानकम्।
सृष्टिसंहारकर्तासौ योगीश्वरसमो भवेत्।। 77।।

निष्पत्ति अवस्था में चित्त एक ही विषय या ध्येय पर एकाग्र हो जाता है। एकीभूत (एकाग्र) चित्त में ध्येय वस्तु अर्थात् विषय और ध्येय वस्तु के ज्ञान (विषयी) में भेद नहीं प्रतीत होता। चित्त की यह एकाग्रता ही राजयोग कहलाती है। इस स्थिति को प्राप्त योगी ईश्वर जैसा शक्ति सम्पन्न हो जाता है और वह संसार का निर्माण या संहार कर सकता है।

अस्तु वा मास्तु वा मुक्तिरत्रैवाखण्डितं सुखम्।
लयोद्भवमिदं सौख्यं राजयोगादवाप्यते।। 78।।

राजयोगमजानन्तः केवलं हठकर्मिणः।

एतानभ्यासिनो मन्ये प्रयास फलवर्जितान्।। 79

नादानुसन्धान से मोक्ष मिले या न मिले किन्तु इससे अखण्ड सुख इसी जन्म में मिलता है। नादानुसन्धान के द्वारा लय को प्राप्त चित्त का यह आनन्द राजयोग से अर्थात् चित्त की एकाग्रता से मिलता है। जो साधक, राजयोग को जाने बिना हठयोग की षट्कर्म, आसन, प्राणायाम और मुद्रा आदि क्रियाएं ही करते रहते हैं ऐसे साधकों का प्रयत्न निष्फल होता है।

उन्मन्यवाप्तये शीघ्रं भ्रूध्यानं मम सम्मतम्।
राजयोगपदं प्राप्तुं सुखोपायोऽल्पचेतसाम्।
सद्यः प्रत्ययसंधायी जायते नादजो लयः।। 80।।

मैं स्वात्माराम योगी उन्मनी अवस्था जल्दी ही प्राप्त करने के लिये भ्रूमध्य में ध्यान लगाना अच्छा मानता हूँ। भ्रूमध्य में ध्यान लगाने से कम बुद्धि वाले भी राजयोग का पद अर्थात् तुरीयावस्था बड़ी सरलता से प्राप्त कर सकते हैं। नादानुसन्धान से अर्थात् शरीर में अनाहत नाद सुनने का अभ्यास करने से उत्पन्न चित्त का लय जल्दी ही विश्वास उत्पन्न करा देता है।

नादानुसन्धानसमाधिभाजां योगीश्वराणां हृदि वर्धमानम्।
आनन्दमेकं वचसामगम्यं जानाति तं श्री गुरुनाथ एव।। 81।।

नादानुसन्धान के अभ्यास से उत्पन्न समाधि में मग्न रहने वाले योगीश्वरों के हृदयों में निरन्तर बढ़ने वाले अनुपम आनन्द को केवल सद्‌गुरु ही जानते हैं क्योंकि इस आनन्द का वर्णन वाणी से नहीं किया जा सकता।

कर्णौ पिधाय हस्ताभ्यां यो शृणोति ध्वनिं मुनिः।
तत्र चित्तं स्थिरीकुर्यात् यत् स्थिरपदं व्रजेत्।। 82।।

हाथ के अंगूठों से कान बन्द करके जो मुनि अनाहत नाद को सुनता है उसे इसी नाद पर मन एकाग्र करना चाहिये। नाद में मन तब तक लगाये रखना चाहिये जब तक कि तुरीयावस्था नहीं आ जाती।

अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिम्।
पक्षाद्विक्षेपमखिलं जित्वा योगी सुखी भवेत्।। 83।।

अनाहत नाद सुनने का अभ्यास करते रहने से योगी को बाहर की आवाजें सुनाई नहीं देतीं। अनाहत नाद में एक पक्ष अर्थात् पन्द्रह दिन तक चित्त लगाने से मन के सारे विक्षेप (चित्त की चंचलता) नष्ट कर योगी सुख अनुभव करता है।

श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान्।
ततोऽभ्यासे वर्धमाने श्रूयते सूक्ष्मसूक्ष्मकः।। 84।।

अनाहत नाद के प्रारम्भिक अभ्यास में तरह तरह की आवाजें जैसे बादलों की गरज, और नगाड़े बजने की आवाजें सुनाई देती हैं। नादानुसन्धान का अभ्यास बढ़ने पर सूक्ष्म से सूक्ष्मतर ध्वनियां सुनाई देने लगती हैं।

आदौ जलधिजीमूत भेरी झर्झर सम्भवः।
मध्ये मर्दल शंखोत्था घण्टाकाहलजास्तथा।। 85।।

नादानुसन्धान के प्रारम्भ में बादलों और समुद्र की गरज, और भेरी, झांझ आदि की ध्वनि सुनाई देती है। इन ध्वनियों से पता चलता है कि प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्र में जाने लगा है। जब प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्र के मध्य में पहुंचने लगता है तब ढोल, शंख, घण्टे और काहल (बड़ा ढोल) आदि बाजों की ध्वनि सुनाई देती है।

अन्ते तु किंकिणीवंशवीणाभ्रमरनिःस्वनाः।
इति नानाविधा नादाः श्रूयन्ते देहमध्यगाः।। 86।।

ब्रह्मरन्ध्र में प्राणवायु के बहुत समय रुके रहने पर पायल, बांसुरी, वीणा, भौरों की गुंजार आदि ध्वनियां सुनाई देती हैं। इस शरीर में अनेक प्रकार की अनाहत ध्वनियां नादानुसन्धान के अभ्यास में सुनाई देती हैं।

महति श्रूयमाणेऽपि मेघभेर्यादिके ध्वनौ।
तत्र सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरं नादमेव परामृशेत्।। 87।।

बादलों और नगाड़ों (धौंसों) की गम्भीर और साफ आवाजें सुनाई देने पर भी साधक को सूक्ष्म से और अधिक सूक्ष्म अनाहत नाद सुनने का प्रयत्न करना चाहिये।

घनमुत्सृज्य वा सूक्ष्मे सूक्ष्ममुत्सृज्य वा घने।
रममाणमपि क्षिप्तं मनो नान्यत्र चालयेत्।। 88।।

मन यदि गम्भीर नाद को छोड़कर सूक्ष्म नाद में या सूक्ष्म ध्वनि से हटकर गम्भीर ध्वनि में लगता है तो भी चित्त के चंचल (क्षिप्त) होने पर फिर से चित्त को गम्भीर या सूक्ष्म नाद में ही लगाना चाहिये और कहीं नहीं।

यत्र कुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मनः।
तत्रैव सुस्थिरीभूय तेन सार्धं विलीयते।। 89।।

शुरू में मन चाहे किसी भी तरह के गम्भीर या सूक्ष्म अनाहत नाद में क्यों न लगे। मन इसी नाद में अच्छी तरह लगा रहने पर इसी नाद में लय या लीन हो जाता है। किसी भी नाद में मन लगाने से इन्द्रियां अपने विषयों से दूर होने लगती हैं अर्थात् प्रत्याहार का अभ्यास होने लगता है। प्रत्याहार का अभ्यास बढ़ने पर मन उसी अनाहत नाद में लगा रहता है। इस प्रकार मन में धारणा का अभ्यास शुरू हो जाता है। धारणा का अभ्यास दृढ़ होने पर ध्यान लगने लगता है और ध्यान दृढ़ होने पर समाधि लगने पर मन का लय हो जाता ।

मकरन्दं पिबन् भृङ्गो गन्धं नापेक्षते यथा।
नादासक्तं तथा चित्तं विषयान्न हि कांक्षते।। 90।।

जैसे भौंरा फूलों का रस पीते हुए फूलों की गन्ध की ओर ध्यान नहीं देता। वैसे ही अनाहत नाद में लगा चित्त सांसारिक भोग-विषयों की ओर नहीं दौड़ता।

मनो मत्तगजेन्द्रस्य विषयोद्यानचारिणः।
नियन्त्रणे समर्थोऽयं निनादनिशितांकुशः।। 91।।

जैसे किसी मतवाले हाथी को पैने अंकुश से वश में किया जाता है उसी प्रकार सांसारिक भोग-ऐश्वर्यों और रूप, रस, गन्ध आदि विषयों से भरे इस जगत के बाग में स्वच्छन्द होकर घूमने वाले हाथी जैसे मतवाले मन पर नियन्त्रण करने के लिये अनाहत नाद का अंकुश ही सबसे अच्छा उपाय है।

बद्धं तु नादबन्धेन मनः संत्यक्तचापलम्।
प्रयाति सुतरां स्थैर्यं छिन्नपक्षः खगो यथा।। 92।।

अनाहत नाद के बन्धन में बंधा हुआ चित्त चंचलता छोड़कर कटे पंख वाले पक्षी की तरह एक जगह रुक जाता है।

साधक को प्राणायाम के अभ्यास से प्राणवायु को वश में करना चाहिये और प्रत्याहार साधना से इन्द्रियों को। इसके बाद चित्त को अनाहत नाद आदि किसी कल्याणकारी आलम्बन (सहारा) में लगा कर धारणा का अभ्यास करना चाहिये।

सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा।
नाद एवानुसन्धेयो योगसाम्राज्यमिच्छता।। 93।।

संसार के सभी बाह्य विषयों और वस्तुओं के बारे में सोचना बन्द करके और मन में प्रतिक्षण उठने वाले संकल्प-विकल्पों या वृत्तियों का सावधान मन से प्रयत्न पूर्वक त्याग कर के अनाहत नाद सुनने का ही प्रयत्न करना चाहिये। ऐसा प्रयत्न करने पर ही योग का साम्राज्य अर्थात् राजयोग या समाधि लाभ प्राप्त होगा।

नादोऽन्तरङ्गसारङ्ग बन्धने वागुरायते।
अन्तरङ्गकुरङ्गस्य वधे व्याधायतेऽपि च।। 94।।

जैसे शिकारी जाल में हरिण को फंसा कर उसकी भाग दौड़ रोक देते हैं उसी तरह हमारे अन्तःकरण या मन रूपी हरिण को बांधने के लिये अनाहत नाद उत्तम उपाय है। इतना ही नहीं अपितु इस अन्तःकरण रूपी हरिण को नष्ट करने या लय करने का उपाय भी अनाहत नाद ही है।

अन्तरङ्गस्य यमिनो वाजिनः परिघायते।
नादोपास्तिरतो नित्यमवधार्या हि योगिना।। 95।।

योगी के अन्तरंग अर्थात् चित्त या मन की चंचलता पर लगाम लगाने के लिये अनाहत नाद वैसा ही उपाय है जैसे कि घोड़े की भागदौड़ बन्द कर देने के लिये घुड़साल के दरवाजे बन्द करना। इसलिये योगी को प्रतिदिन अनाहत नाद की उपासना या अभ्यास करना चाहिये।

बद्धं विमुक्तचाञ्चल्यं नादगन्धकजारणात्।
मनः पारदमाप्नोति निरालम्बाख्य खेऽटनम्।। 96।।

जैसे पारे को गन्धक के साथ भस्म करके पारे की चंचलता नष्ट कर के गोलियां बना ली जाती हैं और बंधे हुए इस पारे का ईन्धन के रूप में प्रयोग कर बाह्य अन्तरिक्ष यान उड़ाये जाते हैं उसी प्रकार अनाहत नाद रूपी गन्धक से मन की चंचलता नष्ट हो जाने पर मन, पारे की गोलियों की तरह अनाहत नाद में ही बंधा रहता है। इस प्रकार अनाहत नाद में लीन मन आधारहीन ब्रह्म रूपी अनन्त आकाश में पहुंच जाता है अर्थात् समाधि मग्न मन निरालम्ब ब्रह्म के आकार वाला हो जाता है।

नादश्रवणतः क्षिप्रमन्तरङ्ग भुजङ्गमः।
विस्मृत्य सर्वमेकाग्रः कुत्रचिन्न हि धावति।। 97।।

सांप की तरह हमारा अत्यन्त चंचल मन अनाहत नाद को सुनकर सब कुछ भूल जाता है और जल्दी ही एकाग्र हो जाता है और वह किसी अन्य विषय की ओर नहीं दौड़ता।

विष्णु पुराण में समाधि का लक्षण इस प्रकार बताया गया है –

तस्यैव कल्पनाहीनं स्वरूपग्रहणं हि यत्।
मनसा ध्यान निष्पाद्यः समाधिः सोऽभिधीयते।।

उसी ब्रह्म का निराकार स्वरूप मन में धारण करके ब्रह्म के इसी स्वरूप पर ध्यान लगाने का अभ्यास करते करते समाधि लगने लगती है।

विष्णु पुराण का समाधि का उपरोक्त लक्षण महर्षि पतञ्जलि के समाधि लक्षण जैसा ही है –

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपपशून्यमिव समाधिः।। पा० यो० 3/33

वह ध्यान ही समाधि कहलाता है जब उसमें ध्येय, केवल अर्थमात्र से भासता है और ध्यान का स्वरूप, शून्य जैसा हो जाता है।

काष्ठे प्रवर्तितो वह्निः काष्ठेन सह शाम्यति।
नादे प्रवर्तितं चित्तं नादेन सह लीयते।। 98।।

जैसे लकड़ी में लगी आग लकड़ी के जल जाने पर बुझ जाती है उसी तरह अनाहत नाद में लगा हुआ चित्त, इस नाद में ही लीन हो जाता है।

नाद में लगे मन की राजसिक और तामसिक वृत्तियां नष्ट हो जाने पर मन में सात्विक वृत्तियां और संस्कार ही बचे रहते हैं।

मैत्रायणी उपनिषद में यही भाव इन शब्दों में प्रकट किये गये हैं –

यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति।
तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति।। मैत्रा० उ० 4/3

लकड़ियां जल जाने पर जैसे आग अपने ही आप बुझ जाती है वैसे ही चित्त की वृत्तियां नष्ट हो जाने पर चित्त अपने ध्येय ब्रह्म में ही लीन हो जाता है।

घण्टादिनादसक्त स्तब्धान्तःकरण हरिणश्च।
प्रहरणमपि सुकरं शरसन्धानप्रवीणश्चेत्।। 99।।

घण्टे, शंख, ढोल, बादल आदि की ध्वनि वाले अनाहत नाद में लीन होने से स्थिर चित्त रूपी हरिण को मार गिराना सरल हो जाता है यदि साधक बाण का निशाना लगाने में कुशल हो।

भावार्थ यह है कि घण्टे आदि के शोर से आश्चर्य में भरकर रुके हुए हरिण को जैसे निशाने बाज शिकारी आसानी से मार डालंता है वैसे ही घण्टे, बादल, ढोल के शब्द जैसे अनाहत नाद में लीन चित्त की अनेकविध वृत्तियों को नष्ट कर देना सरल होता है यदि साधक शिकारी के तीर की तरह तेज चलने वाले प्राणवायु को सुषुम्ना के मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र में पहुंचाना जानता है।

अनाहतस्य शब्दस्य ध्वनिर्य उपलभ्यते।
ध्वनेरन्तर्गतं ज्ञेयं ज्ञेयस्यान्तर्गतं मनः।
मनस्तत्र लयं याति तद् विष्णोः परमं पदम्।। 100।।

अनाहत नाद की जो ध्वनि सुनाई देती है उस ध्वनि के अन्दर ज्ञेय (जानने योग्य) अर्थात् अपने प्रकाश से ज्योतिर्मय चैतन्य ब्रह्म है और इस ज्ञेय अर्थात् ब्रह्म तत्त्व के अन्दर मन है। मन इसी जानने योग्य (ज्ञेय) ब्रह्मतत्त्व में लीन हो जाता है। यही ब्रह्मतत्त्व किसी भी प्रकार की उपाधि से रहित होने के कारण विष्णु अर्थात् विभुरूप (सर्वव्यापक) परमात्मा का परम पद है।

भावार्थ यह है कि अनाहत नाद में लगा मन परमात्मा का ध्यान करते-करते अपने ध्येय परमात्म तत्त्व में ही लीन हो जाता है अर्थात् पर वैराग्य के अभ्यास से चित्त सभी प्रकार की वृत्तियों से शून्य हो जाने पर संस्कार शेष रह जाता है।

तावदाकाशसंकल्पो यावच्छब्दः प्रवर्तते।
निःशब्दं तत् परं ब्रह्म परमात्मेति गीयते।। 101।।

साधक को जबतक अनाहत नाद सुनाई देता है तबतक आकाश भलीभांति प्रतीत होता है क्योंकि शब्द, आकाश का ही गुण है अर्थात् कोई भी शब्द आकाश में ही सुनाई देता है। जब मन के साथ ही अनाहत नाद भी लीन हो जाता है तब मन शब्दहीन परब्रह्म पद में लीन हो जाता है अर्थात् मन की सारी वृत्तियां नष्ट हो जाने पर मन की अपने रूप में अर्थात् स्वरूप में स्थिति ही परब्रह्म या परमात्मा आदि शब्दों से व्यक्त की जाती है। वृत्तिहीन चित्त ही परब्रह्मस्वरूप हो जाता है।

यत् किञ्चित् नादरूपेण श्रूयते शक्तिरेव सा।
यस्तत्त्वान्तो निराकारः स एव परमेश्वरः।। 102।।

अनाहत नाद के रूप में जो कुछ सुनाई देता है वह शक्ति ही है। जिस शक्ति में सभी तत्त्वों का लय (अन्त) हो जाता है वह निराकार परमेश्वर ही है। मन की सारी वृत्तियां नष्ट हो जाने पर आत्मा अपने शुद्धरूप में अर्थात् स्वरूप में स्थित हो जाता है।

सर्वे हठलयोपाया राजयोगस्य सिद्धये।
राजयोगसमारूढः पुरुषः कालवञ्चकः।। 103।।

हठयोग के आसन, प्राणायाम, मुद्रा आदि सभी उपाय और लय योग, हठयोग, नादानुसन्धान, शाम्भवी मुद्रा आदि सभी विधियां राजयोग में अर्थात्

चित्त की सभी वृत्तियों का निरोध करने में सफलता पाने के लिये हैं। राजयोग में अर्थात् समाधि में पूरी तरह मग्न रहने वाला व्यक्ति मृत्यु को जीत लेता है।

असम्प्रज्ञात समाधि

तत्त्वं बीजं हठः क्षेत्रमौदासीन्यं जलं त्रिभिः।
उन्मनी कल्पलतिका सद्य एव प्रवर्तते।। 104।।

तत्त्व अर्थात् चित्त ही बीज है। प्राण और अपान वायु को मिलाने के लिये प्राणायाम का अभ्यास या हठयोग का अभ्यास, बीज बोने की भूमि है और उदासीनता अर्थात् परवैराग्य जल है। चित्त निरोध; हठयोग और परवैराग्य इन तीनों के निरन्तर अभ्यास से उन्मनी रूपी कल्पलता जल्दी ही बढ़ जाती है। अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था जल्दी ही आ जाती है।

सदा नादानुसन्धानात् क्षीयन्ते पापसंचयाः।
निरञ्जने विलीयेते निश्चितं चित्तमारुतौ।। 105।।

नादानुसन्धान में नित्त के सदा लगे रहने से सारे पाप नष्ट हो जाते हैं, और चित्त तथा प्राण निरंजन अर्थात् निर्गुण–चैतन्य स्वरूप परब्रह्म तत्त्व में निश्चय ही लीन हो जाता है।

उन्मनी अवस्था

शंखदुन्दुभिनादं च न शृणोति कदाचन।
काष्ठवज्जायते देहः उन्मन्यावस्थया ध्रुवम्।। 106।।

उन्मनी अवस्था को प्राप्त योगी को शंख, नगाड़े आदि किसी भी तरह का कोई शब्द सुनाई नहीं देता। उसका शरीर लकड़ी की तरह चेष्टा रहित हो जाता है।

सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सर्वचिन्ताविवर्जितः।
मृतवत् तिष्ठते योगी स मुक्तो नात्र संशयः।। 107।।

ऐसा योगी सभी अवस्थाओं से रहित हो जाता है अर्थात् वह जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा और मरण शरीर की इन पांच तरह की अवस्थाओं से ऊपर उठ जाता है। ये पांच अवस्थाएं व्युत्थान की अवस्थाएं होती हैं। व्युत्थान अवस्था में चित्त निरुद्ध या एकाग्र नहीं होता। ऐसा योगी मन में उठने वाली

स्मृति आदि सभी चिन्ताओं से भी छूट जाता है। उसके चित्त की सारी वृत्तियों का निरोध हो जाने के कारण वह तुरीयावस्था में पहुंच जाता है और जीवन्मुक्त हो जाता है। जैसे मरे हुए व्यक्ति को संसार से कोई-सरोकार नहीं रह जाता वैसे ही जीवन्मुक्त योगी के लिये भी यह संसार नहीं रह जाता। सासांरिक व्यवहारों की दृष्टि से वह मरे हुए पुरुष की भांति आचरण करता है। जीवन्मुक्त योगी के सम्बन्ध में पातंजल योग का यह सूत्र द्रष्टव्य है–

'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।' पा० यो० 1/3

तब अर्थात् चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाने पर द्रष्टा योगी की परमात्म–स्वरूप में स्थिति होती है।

खाद्यते न च कालेन बाध्यते न च कर्मणा।
साध्यते न स केनापि योगी युक्तः समाधिना।। 108।।

असम्प्रज्ञात समाधि में बैठे हुए योगी को मृत्यु नहीं ग्रस सकती। वह किसी भी शुभ या अशुभ कर्म के बन्धन में नहीं पड़ता। जन्म–मरण के क्लेश से भी वह छूट जाता है। कोई भी पुरुष उसे तन्त्र–मन्त्र के प्रभाव से अपने वश में नहीं कर सकता। पातंजल योग में भी यही भाव इस सूत्र में व्यक्त किया गया है–

'ततः क्लेश कर्म निवृत्तिः।' पा० यो० 4/30

उस धर्म मेध समाधि में क्लेशों और कर्मों से निवृत्ति अर्थात् छुटकारा हो जाता है।

न गन्धं न रसं रूपं न च स्पर्शं न निःस्वनम्।
नात्मानं न परं वेत्ति योगी युक्तः समाधिना।। 109।।

समाधि में मग्न योगी अच्छी–बुरी गन्ध को, खट्टे, मीठे, चरपरे आदि रसों (स्वादों) को, सफेद, लाल, पीले आदि रंगों (रूपों) को, गरम–ठण्डे आदि स्पर्श को और बाहर के शंख, नगाड़ों आदि के शब्दों को तथा शरीर में उठने वाले अनाहत नाद को भी अनुभव नहीं करता। उसे अपने शरीर का या किसी दूसरे मनुष्य के शरीर का भी ज्ञान नहीं रहता।

चित्तं न सुप्तं नो जाग्रत् स्मृतिविस्मृतिवर्जितम्।
न चास्तमेति नोदेति यस्यासौ मुक्त एव सः।। 110।।

जिस योगी का चित्त न तो सोया रहता है और न ही जागता रहता है

अर्थात् चित्त और इन्द्रियों की चेष्टाओं को जब तमोगुण ढक लेता है अर्थात् सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों से युक्त अन्तःकरण के सत्व और रज इन दो गुणों को दबा कर तमोगुण बढ़ जाता है। तमोगुण के बढ़ जाने से सारी इन्द्रियां और चित्त तमोगुण से ढक जाते हैं। इसके कारण चित्त विषयों को ग्रहण नहीं कर पाता। चित्त और इन्द्रियों की यह अवस्था सोते समय होती है। समाधि में बैठा योगी बाह्य संसार के विषयों को ग्रहण नहीं करता किन्तु वह साधारण मनुष्यों की तरह सोया भी नहीं रहता। इसी प्रकार उसकी इन्द्रियां और मन जागे हुए मनुष्यों की भांति सांसारिक विषयों को ग्रहण नहीं करतीं इसलिये वह जागा भी नहीं रहता। समाधिस्थ योगी का मन सभी प्रकार की वृत्तियों, चिन्ताओं, स्मृतियों और भूल जाने की वृत्तियों से भी रहित होता है। योगी के चित्त में कोई वृत्ति न उठने के कारण चित्त उत्पन्न भी नहीं होता और चित्त में थोड़े से संस्कार बचे रहने के कारण चित्त नष्ट भी नहीं होता चित्त की ऐसी अवस्था वाला योगी जीवन्मुक्त ही होता है।

न विजानाति शीतोष्णं न दुःखं न सुखं तथा।
न मानं नापमानं च योगी युक्तः समाधिना।। 111।।

समाधिमग्न योगी को ठण्डा-गर्म, सुख-दुःख और मान-अपमान कुछ भी अनुभव नहीं होता।

स्वस्थो जाग्रदवस्थायां सुप्तवत् योऽवतिष्ठते।
निःश्वासो च्छ्वास हीनश्च निश्चितं मुक्त एव सः।। 112।।

जिस योगी का अन्तःकरण और इन्द्रियां सदा प्रसन्न रहती हैं। जो जागते हुए भी सोये हुए व्यक्ति की तरह व्यवहार या आचरण करता है अर्थात् उसका शरीर, इन्द्रियां, और मन कोई चेष्टा या काम नहीं करतीं। जिसका श्वास प्रश्वास भी तेजी से नहीं चलता। मन की एकाग्रता बढ़ने के साथ ही साथ श्वास-प्रश्वास की गति भी घट जाती है और श्वास-प्रश्वास नाक के सुरों तक ही सीमित रह जाता है अर्थात् प्राण वायु दीर्घ से घटकर सूक्ष्म हो जाता है। ऐसा योगी निश्चय ही जीवन्मुक्त होता है।

अवध्यः सर्वशस्त्राणामशक्यः सर्वदेहिनाम्।
अग्राह्यो मन्त्र यन्त्राणां योगी युक्तः समाधिना।। 113।।

समाधि मग्न योगी को किसी भी हथियार से नहीं मारा जा सकता। उसे कोई व्यक्ति दबा नहीं सकता। उस पर किसी भी मन्त्र-तन्त्र, जादू-टोने का असर नहीं हो सकता।

यावन्नैव प्रविशति चरन् मारुतो मध्यमार्गे।
यावद् बिन्दुर्न भवति दृढ़ं प्राणवातप्रबन्धात्।
यावद् ध्याने सहजसदृशं जायते नैव तत्त्वं-
तावज्ज्ञानं वदति तदिदं दम्भमिथ्याप्रलापः।। 114।।

मध्यमार्ग अर्थात् सुषुम्ना के मार्ग में पहुंचा हुआ प्राणवायु जबतक ब्रह्मरन्ध्र में पहुंच कर वहाँ ठहर नहीं जाता। प्राणायाम के अभ्यास से प्राणवायु को वश में करके जबतक वीर्य स्थिर नहीं हो जाता अर्थात् वीर्यपात रुक नहीं जाता। ध्यान लगाने पर जब तक तत्त्व में अर्थात् चित्त में ध्येय वस्तु के आकार की वृत्तियां स्वाभाविक रूप से सहज ही नहीं उठने लगतीं अर्थात् प्राणायाम के अभ्यास से मन पर पूरी तरह नियन्त्रण नहीं हो जाता तबतक ज्ञान की बातें करने वाले घमण्ड में भरकर झूठी बकवास ही करते हैं। अर्थात् प्राणवायु, वीर्य और चित्त को पूरी तरह वश में किये बिना तत्त्व ज्ञान नहीं हो सकता और जबतक तत्त्वज्ञान नहीं होता तबतक प्राणी जीवन-मरण के बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता।

इति श्री सहजानन्द सन्तान चिन्तामणि स्वात्माराम योगीन्द्र विरचितायां हठयोगप्रदीपिकायां समाधिलक्षणं नाम चतुर्थोपदेशः।। 4।।
इति हठयोगप्रदीपिका समाप्ता।

श्री सहजानन्द की सन्तानरूपी चिन्तामणि स्वात्माराम योगीन्द्र द्वारा लिखित हठयोगप्रदीपिका का समाधिलक्षण नाम वाला चौथा उपदेश समाप्त हुआ।
हठयोगप्रदीपिका समाप्त

प्रथम परिशिष्ट

योग साधना

योग-साधना के बारे में साधारण व्यक्ति के मन में अनेक प्रकार की धारणाएं और भ्रान्तियां हैं। इन धारणाओं और भ्रान्तियों का सन्तोषजनक समाधान प्रायः नहीं हो पाता अतः योग और इससे प्राप्त सिद्धियों आदि के बारे में उलझनें बनी रहती हैं और ये उलझनें अन्धविश्वास को जन्म देती हैं। इन दिनों योगाभ्यास की लोकप्रियता देश-विदेश में बढ़ती जा रही है इसलिये यह आवश्यक है कि योग के बारे में अनेकविध भ्रान्तियों का युक्तियुक्त निवारण किया जाय। इसी दृष्टि से महामहोपाध्याय गोपीनाथ जी कविराज के निम्नलिखित विचार प्रस्तुत हैं।

प्राचीन, भारतीय साहित्य में 'योग' शब्द नाना प्रकार के व्यापक अर्थों में व्यवहृत हुआ है। फिर भी इसका जो आध्यात्मिक अर्थ है, उसमें प्रकार भेद होने पर भी, मूलतः कुछ अंशों में सामञ्जस्य पाया जाता है। जीवात्मा और परमात्मा के संयोग को योग कहा जाय, अथवा प्राण और अपान के संयोग को, चन्द्र और सूर्य के मिलन, शिव और शक्ति के सामरस्य, चित्तवृत्ति के निरोध अथवा अन्य किसी भी प्रकार के योग का लक्षण निश्चित किया जाय, मूल में विशेष पार्थक्य नहीं है।

महायोग और पूर्ण योग

योगशिखोपनिषद् में कहा गया है कि स्वाभाविक योग एक ही है, अनेक नहीं हैं। वही महायोग के नाम से साधकों में प्रसिद्ध है। अवस्था भेद के अनुसार महायोग ही मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग अथवा राजयोग के रूप में प्रकाशित होता है -

मन्त्रो लयो हठो राजयोगोऽन्तर्भूमिकाः क्रमात्।
एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽ भिधीयते।। योग०शि० 1/129-130

मन्त्रयोग और जपयोग

योगशास्त्र में 'मन्त्रयोग' शब्द यद्यपि विभिन्न स्थानों में विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, फिर भी यदि हम मन्त्रयोग का मुख्य अर्थ मन्त्र के आश्रय से जीवात्मा और परमात्मा का सम्मिलन मान लें, तो इसमें कोई आपत्ति नहीं होगी। शब्दात्मक मन्त्र, चेतन होने पर उसी की सहायता से जीव क्रमशः ऊपर गमन करते-करते शब्द से अतीत परमानन्द धाम तक पहुंच सकता है।

शब्द की वैखरी अवस्था से क्रमशः मध्यमा अवस्था को भेदकर पश्यन्ती में प्रवेश करना ही मन्त्रयोग का प्रधान उद्देश्य है। पश्यन्ती शब्द स्वप्रकाशमान चिदानन्दमय है – चिदात्मक पुरुष की वही अक्षय और अमर षोडशी कला है। वही आत्मज्ञान, इष्ट देवता के साक्षात्कार अथवा शब्द चैतन्य का प्रकृष्ट फल है। इस अवस्था में पहुंचने पर जीव कृतकृत्य हो सकता है। इसके बाद अव्यक्त भाव अपने आप उदित होता है। वही शब्द की तुरीय या चौथी अवस्था है।

परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणीः- शब्दोच्चारण की क्रिया सबसे पहिले मन में कोई वृत्ति या विचार उठने पर प्रारम्भ होती है। शब्द की इस अवस्था को 'परा वाणी' कहते हैं। जब यह विचार सूक्ष्म बन जाता है तब नेत्र इसे देखने लगते हैं। विचार से उत्पन्न शब्द की यह अवस्था 'पश्यन्ती वाणी' कहलाती है। जब पश्यन्ती वाणी के सूक्ष्म शब्द कण्ठ में अर्धवाक् की स्थिति में आकर जिह्वा तक पहुंचते हैं तब वे 'मध्यमा वाणी' कहलाते हैं। जिह्वा से स्पष्ट शब्दोच्चार को 'वैखरी वाणी' कहा जाता है। वैखरी वाणी का मूल स्थान परा वाणी है। पहले मन में वृत्ति उठती है फिर इस वृत्ति के समान विचार उत्पन्न होता है। विचार प्रकट करने का मूल स्थान 'परा वाणी' है।

'मन्त्रों का उच्चार पहिले मध्यमा में करे और पीछे वैखरी से राम का नाम पहिले ले।' समर्थ स्वामी रामदास की इस उक्ति के अनुसार मध्यमा में अर्थात् कण्ठ में अस्पष्ट उच्चार करें और फिर स्पष्ट शब्द बोलें।

मस्तिष्क में स्थित सहस्रार के नीचे 16 पंखुड़ियों (दलों) का सोमचक्र है। इसके नीचे 12 दलों का मनश्चक्र है। इस स्थान से विचार उत्पन्न होते हैं। मनश्चक्र की मनोवहा या आज्ञावहा नलिका है। इसी प्रकार सुनने, देखने, बोलने, सूंघने, तथा स्पर्श करने की नाड़ियां भी सहस्रार चक्र के पास मनोवहा नाड़ी के ऊपर हैं। हमारी ज्ञानेन्द्रियों के स्थान मस्तिष्क में स्थित सहस्रार चक्र

में ही हैं। किसी भूली हुई बात को याद करने के लिये हम आंखें बन्द करके सिर पर हाथ रखकर सोचते हैं और भूली हुई बात याद आ जाती है। हमारी विचार तरंगें सहस्त्रार से ही निकलती हैं इसलिये परा, पश्यन्ती वाणियों के स्थान मूलाधार चक्र और स्वाधिष्ठान चक्र नहीं अपितु सहस्त्रार चक्र के समीप हैं।

मूलाधार से शब्दस्रोत निरन्तर ऊपर की ओर उठ रहा है। यही शब्द समस्त जगत के केन्द्र में नित्य विद्यमान है। बहिर्मुख जीव इन्द्रियों के अधीन होकर विषयों की ओर दौड़ रहा है। इसी कारण उसे इस शब्द का पता नहीं चलता। जब किसी क्रिया-कौशल से अथवा अन्य किसी उपाय से इन्द्रियों की बहिर्गति रुक जाती है और प्राण तथा मन स्तम्भित हो जाते हैं, तब साधक इस चेतन शब्द को सुनने के अधिकारी होते हैं। षण्मुखी-मुद्रा द्वारा कृत्रिम उपाय से इस नाद के अनुसन्धान की चेष्टा की जाती है। नोदन अथवा अभिघात जनित शब्द को अनाहत नाद में लीन न कर सकने पर मन्त्र अक्षरों का समूह ही रह जाता है। उसका सामर्थ्य और प्रकाश अनुभवगोचर नहीं होता। इडा-पिंगला में प्राण वायु की गति रुककर; प्राणवायु और मन के सुषुम्ना के अन्दर प्रविष्ट होने पर यह नित्य सारस्वत स्त्रोत अनुभूत होता है। यही साधक को क्रमशः आज्ञाचक्र में ले जाता है और वहाँ से बिन्दुस्थान भेदकर क्रमशः सहस्त्रार के केन्द्र में महाबिन्दु तक पहुंचा देता है। हंस-मन्त्र, जिसका जीव श्वास-प्रश्वास के साथ निरन्तर जप करता है, गुरु कृपा से प्राण की विपरीत भावापन्न अवस्था में 'सोऽहम्' मन्त्र के रूप में बदल जाता है।

शब्द योग और वाग् योग

प्राचीन आगमशास्त्रों में वाग् योग अथवा शब्दयोग के नाम से जिस योग प्रणाली का उल्लेख पाया जाता है उसका तात्पर्य और रहस्य आजकल बहुत से लोग प्रायः भूल गये हैं। शैवागम के अन्तर्गत व्याकरण-आगम में भी इस योगसाधना का परिचय मिलता है। जिन्होंने भर्तृहरि के वाक्यपदीय और उसकी साम्प्रदायिक प्राचीन व्याख्या का अनुशीलन किया होगा, उन्हें वाग् योग की बात अवश्य मालूम होगी। व्याकृत शब्द का वैखरी अवस्था से मध्यमा में उत्तीर्ण होकर पश्यन्ती स्वरूप में प्रवेश कर जाना ही इस योग-साधना का प्रधान उद्देश्य है। पश्यन्ती अवस्था से परा अवस्था में - अव्याकृत पद में -

गति और स्थिति प्राप्ति स्वाभाविक नियम से आप ही हो जाती है। यह किसी भी साधना का आन्तरिक लक्ष्य नहीं है। वैखरी या स्थूल इन्द्रियग्राह्य शब्द विशेष मिश्र अवस्था में होने के कारण उसमें असंख्य आगन्तुक मल विद्यमान रहते हैं। गुरूपदिष्ट प्रणाली से साधन कर चुकने पर चाहे जिस शब्द को उसकी स्थूल अवस्था से मुक्त करके विशुद्ध बनाया जा सकता है।

इस शोधन-क्रिया का नाम ही शब्द संस्कार है। जब शब्द सम्यक् प्रकार से शुद्ध या संस्कृत हो जाता है तब वह दिव्यवाणी या संस्कृत भाषा अथवा सृष्टिकारिणी ब्राह्मी शक्ति के रूप में परिणत हो जाता है। केवल एक शब्द को ही इस प्रणाली से शुद्ध कर लेने पर जीव सदा के लिये कृतकृत्य हो सकता है-

> **"एकः शब्दः सम्यक् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति।"**

जो एक शब्द का भी संस्कार करने में समर्थ हुए हैं, उन्हें किसी प्रकार का अभाव नहीं रह सकता। वह एक ही शोधित शब्द; शक्ति के स्वरूप में प्रकाशित होकर उनके समीप कामधेनु के आकार में आविर्भूत हो जाता है। शब्द के मर्म को जानने वाले वसिष्ठ आदि ऋषि इसी उपाय से अलौकिक शक्ति के अधिकारी बन गये थे। आवर्तन अथवा जपयज्ञ इत्यादि के अभ्यास से जब वैखरी शब्द से आगन्तुक समस्त मैल दूर हो जाते हैं तब इडा-पिंगला का अपेक्षाकृत स्तम्भन हो जाता है और सुषुम्ना पथ कुछ परिमाण में उन्मुक्त (खुल) हो जाता है। फिर प्राणशक्ति की सहायता से वह शोधित शब्दशक्ति सुषुम्ना-रूप ब्रह्म पथ का आश्रय लेकर क्रमशः ऊर्ध्वगामिनी होती है। यही शब्द की सूक्ष्म या मध्यमा नामक अवस्था है। इसी अवस्था में अनाहत नाद प्रकट होता है और स्थूल शब्द इस विराट् प्रवाह में निमग्न होकर उससे भर जाता है तथा चेतना भाव धारण कर लेता है। यही मन्त्र-चैतन्य का उन्मेष-भाव है। इस अवस्था में पहुंच जाने पर साधक जीव मात्र की चित्तवृत्ति को अपरोक्ष भाव से शब्दरूप में जान लेता है। देश अथवा काल का व्यवधान शब्द की इस स्फूर्ति को नहीं रोक सकता। इसके बाद प्रातःकालीन बालसूर्य के समान शब्दब्रह्मरूपी आदित्य, साधक के आत्मा में अथवा इष्टदेवता के रूप में प्रकाशित होकर अन्तराकाश का अन्धकार दूर कर देते हैं। आगम शास्त्र में इसी को

'पश्यन्ती-वाक्' कहा जाता है। प्राचीन वैदिक साहित्य में ऋषित्व-प्राप्ति अथवा मन्त्रसाक्षात्कार के नाम से जिसका उल्लेख किया गया है यह वही अवस्था है। आत्मदर्शन, इष्टदेवदर्शन, ज्ञान-चक्षु का उन्मीलन, शिवनेत्र का विकास, षोडशी कला का उन्मेष, अथवा सांख्यवर्णित द्रष्टा पुरुष का स्वरूपावस्थिति रूप कैवल्य-ये सब इसी पश्यन्ती भूमि की विभिन्न अवस्थाएं हैं।

पश्यन्ती की अपेक्षा परा-भूमि का पथ अत्यन्त गुप्त है।

नादानुसन्धान

बद्ध जीव श्वास-प्रश्वास के अधीन होकर इडा-पिंगला मार्ग में निरन्तर चल रहा है। उसका सुषुम्ना-पथ प्रायः बन्द है। इसीलिये उसकी इन्द्रियां और चित्त सब बहिर्मुख हैं। जो अखण्ड नाद जगत् के अन्तस्थल में, आकशमण्डल में निरन्तर ध्वनित हो रहा है, उसे बद्ध जीव चित्त और प्राणों की विक्षिप्तता (कभी स्थिर, कभी चंचल) के कारण सुन नहीं पाता। परन्तु जिस समय गुरुकृपा से तथा क्रिया विशेष के द्वारा सुषुम्ना मार्ग खुल जाता है उस समय प्राण स्थिर और सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त होकर सुषुम्ना नाड़ी में प्रविष्ट होते हैं और उस शून्य पथ (सुषुम्ना मार्ग) से मन अनाहत ध्वनि को सुनता है। इस ध्वनि का निरन्तर अनुसरण करते-करते मन क्रमशः निर्मल और शान्त अवस्था को प्राप्त करता है। जब मन पूर्णरूप से स्थिर हो जाता है तब फिर नादध्वनि नहीं सुनायी पड़ती। उस समय चिदात्मक आत्मा अपने स्वरूप में स्थित होकर बाह्य प्रकृति के स्पर्श से मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

नाद मूलतः एक होने पर भी औपाधिक सम्बन्ध के कारण विभिन्न स्तरों में विभक्त है। योगियों ने इस प्रकार के सात स्तरों का उल्लेख किया है। शास्त्र जिसको ओंकार अथवा प्रणव का स्वरूप कहते हैं, वही उपाधि रहित शब्द तत्त्व है। वैयाकरणों ने तथा किसी किसी प्राचीन साधक सम्प्रदाय ने 'स्फोट' नाम से इसकी व्याख्या की है। यह स्फोट ही अखण्ड सत्तारूप ब्रह्म तत्त्व का वाचक है। अर्थात् इसी से ब्रह्मभाव की स्फूर्ति होती है। प्रणव, ईश्वर का वाचक है, इस बात का तात्पर्य भी यही है। वाचक स्फोट शब्द ब्रह्म के रूप में और वाच्य सत्ता परब्रह्म के रूप में वर्णित है। अतएव, एक तरह से ब्रह्म ही ब्रह्म

का प्रकाशक है, यह कहा जा सकता है। स्वप्रकाश ब्रह्म अपने स्वरूप के अतिरिक्त और किसी पदार्थ के द्वारा प्रकाशित नहीं हो सकता। परन्तु स्फोट या शब्द तत्त्व जब तक जीव के लिये अव्यक्त रहता है, तबतक उसके द्वारा कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इसीलिये योगी यथाविधि ध्वनि और नाद का अवलम्बन करके इसकी अभिव्यक्ति करते हैं। कुण्डलिनी का उद्‌बोधन भी कुछ अंशों में इसी कार्य के समान है। नाद, मूलाधार से उठना प्रारम्भ होता है और सहस्त्रार में जाकर लय को प्राप्त हो जाता है। इस नाद के साथ युक्त होने पर साधक का मन, अनायास परब्रह्मपद तक उठकर चिन्मय आकार धारण करता है और अपने आप को चैतन्य के अन्दर मिला देता है।

योग मार्ग और वियोग मार्ग

योग और वियोग (अथवा विवेक) मार्ग में परस्पर क्या भेद है, इस सम्बन्ध में साधारण पाठकों की कोई विशेष धारणा है, ऐसा मालूम नहीं पड़ता। इन दोनों मार्गों में आत्यन्तिक परमार्थ दृष्टि से किसी प्रकार का भेद नहीं है। यह सत्य है। परन्तु व्यावहारिक भूमि में दोनों में परस्पर भेद दिखाई पड़ता है और उस भेद के अनुसार सिद्धि में भी भेद होता है। जीव साधारणतः जिस अवस्था में संसार में परिभ्रमण करता रहता है, उसमें स्थूल और सूक्ष्मभाव परस्पर मिले हुए रहते हैं। केवल यही नहीं, सूक्ष्म भाव में स्थूल का अंश और स्थूल भाव में सूक्ष्म का अंश अनिवार्य रूप से ओतप्रोत है। विशुद्ध दृष्टि से यदि देखा जाय तो दोनों में से कोई एक दूसरे को छोड़कर नहीं रह सकता। लकड़ी के अन्दर आग की तरह, तिल में तेल की तरह, दूध में घी की तरह, स्थूल में सूक्ष्मतत्त्व प्रच्छन्न रूप से निहित है। क्रिया विशेष के द्वारा इसे स्थूल से अलग करने की आवश्यकता होती है। सांख्यादि शास्त्रानुमोदित साधक प्रणाली इसी वियोग अथवा विवेक मार्ग की पक्षपाती है। वेदान्त का पञ्चकोष-विवेक भी एक प्रकार से विवेक-पन्थ के ही अन्तर्गत है। योगियों का कहना है कि यह वियोग पूर्णरूप से सिद्ध हो जाने के बाद दोनों में योग स्थापित करना आवश्यक होता है। वियोग-साधना के द्वारा परस्पर पृथक् रूप में जो दो पदार्थ उपलब्ध होते हैं, वे वस्तुतः पृथक् पदार्थ नहीं है - वे दोनों मूलभूत एक परम पदार्थ के ही पृथक् आभास मात्र हैं। इस तत्त्व की उपलब्धि

करने के लिये योगप्रक्रिया का सहारा लिये बिना काम नहीं चल सकता। स्थूल और सूक्ष्म (लिङ्ग) एक दूसरे के साथ आश्लिष्ट होकर जब चरम अवस्था में एक परम पदार्थ के रूप में परिणत हो जाते हैं तब यह मालूम होता है कि इस मूल अद्वय भाव से ही स्थूल और सूक्ष्म दोनों भावों का विकास सम्पन्न होता है।

स्थूल शरीर और सूक्ष्मशरीर

जिन्हें शास्त्रज्ञान है और जो आध्यात्मिक विषय की कुछ भी जानकारी रखते हैं, वे जानते हैं कि जीव के स्थूल शरीर की तरह सूक्ष्म शरीर भी है। यह सूक्ष्म शरीर साधारणतया स्थूल शरीर के साथ इतनी घनिष्ठता से आश्लिष्ट है कि दीर्घकाल तक अभ्यास किये बिना मनुष्य केवल इच्छा करके सूक्ष्म शरीर को स्थूल शरीर से अलग नहीं कर सकता। परन्तु अलग न कर सकने पर भी वह अनेक कारणों से सहज ही उसके अलग होने का अनुभव कर सकता है। स्वप्न आदि में अथवा जीवित अवस्था की किसी किसी अनुभूति में, और सूक्ष्मदर्शियों द्वारा देखे गये मृत्युकालीन अनुभव में सूक्ष्म शरीर की पृथक् सत्ता स्पष्ट ही मालूम हो सकती है। जिस तरह कोल्हू में पेल कर तिल से तेल निकाला जाता है, उसी तरह प्रक्रिया-विशेष द्वारा स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर को अलग किया जा सकता है। सम्पूर्ण रूप में न सही, अभ्यास करने वाले प्राय: सभी साधक आंशिक रूप में इसे कर सकते हैं। इस अवस्था में स्थूल शरीर अकर्मण्य की तरह कंकर-पत्थर की तरह पड़ा रहता है और सूक्ष्म शरीर उससे बाहर निकल कर अनेक स्थानों में घूम-फिर कर जब फिर स्थूल शरीर में घुस जाता है तब स्थूल शरीर चैतन्य प्राप्त कर लेता है और उसमें पहिले की ही तरह ज्ञान और क्रिया का संचार हो जाता है। यह सूक्ष्म शरीर भौतिक आवरण के द्वारा प्रतिरुद्ध नहीं होता और न स्थूल जगत् का कोई भी नियम विशेषरूप से इस पर प्रभाव डाल सकता है। कोई-कोई योगी घर के अन्दर बन्द रहकर और स्थूल शरीर को जहाँ का तहाँ रखकर भी सूक्ष्म-शरीर के द्वारा दीवार आदि तथाकथित आवरणात्मक घेरे को भेदकर बहिर्जगत् में भ्रमण कर सकते हैं। इस अवस्था में उनका स्थूल शरीर घर के अन्दर निष्क्रिय अवस्था में पड़ा रहता है। कोई भी मनुष्य अपनी इन्द्रियों द्वारा इस स्थूल शरीर को प्रत्यक्ष देख सकता है। इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि जो शरीर घर में पड़ा रहता है वह स्थूल शरीर है और जो घर से तथा स्थूल शरीर से निकल

कर इधर-उधर घूम रहा है वह सूक्ष्म शरीर है। दोनों शरीर आपस में सम्बद्ध होने पर भी अलग हैं। यह पार्थक्य वियोगमार्ग के द्वारा प्राप्त होता है। परन्तु एक ऐसी भी अवस्था होती है जिसमें यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि वह पूर्व लिखित शरीर स्थूल है या सूक्ष्म। क्योंकि ऐसा भी देखा जाता है कि योगी घर के अन्दर बन्द रहकर भी जब घर से बाहर निकले तब घर में पहले की तरह उन का स्थूल शरीर आसन पर नहीं रहा, अर्थात् वह सारे शरीर के साथ ही निकल गये और इच्छानुसार घूमते रहे तथा किसी किसी को दिखाई भी पड़े। जिस शरीर से वह घर से निकलकर दीवार आदि आवरण भेदकर बाहर चले गये, वह लौकिक स्थूल शरीर नहीं था, क्योंकि स्थूल शरीर दीवार को भेदकर बाहर नहीं जा सकता। साथ ही यह सूक्ष्म शरीर भी नहीं है, यह भी निश्चित है। क्योंकि यदि वह सूक्ष्म शरीर होता तो स्थूल शरीर निष्क्रिय रूप में आसन पर पड़ा रहना चाहिये था। योगी लोग ऐसे देह को **सिद्ध देह** कहते हैं। यह सिद्धि स्थूल और सूक्ष्म के परस्पर अत्यन्त घन-संश्लेषण से उत्पन्न होती है। इसमें स्थूल और सूक्ष्म दोनों के धर्म दृष्टिगोचर होते हैं। इस कारण इसे एक दृष्टि से स्थूल भी कह सकते हैं और साथ ही सूक्ष्म भी कह सकते हैं। परन्तु वास्तव में वह न तो स्थूल है और न ही सूक्ष्म। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिये योगमार्ग का अवलम्बन आवश्यक है। साधना के प्रारम्भ में इस प्रकार की सिद्धि सम्भव नहीं है। पहले वियोगमार्ग की साधना के द्वारा मिश्रसत्ता के अन्दर वर्तमान दोनों सत्ताओं - स्थूल और सूक्ष्म- को अलग करना होता है और उसके बाद योग मार्ग की साधना के द्वारा उन दोनों को मिलाकर एक कर लेना होता है।

निर्माणकाय और निर्माण चित्त

योग में निर्माण काय और निर्माण चित्त के बारे में विशेष रूप से चर्चा हुई है। उच्च श्रेणी के योगी अनेक बार निर्माण काय या निर्माण चित्त को बनाकर आवश्यकतानुसार कार्य पूरा कर लेते हैं। लौकिक साहित्य में इस प्रकार की देह या चित्त का वर्णन न होने के कारण साधारणतः बहुत से लोग इससे अपरिचित हैं। संसार में हम साधारणतः जिस देह से परिचित हैं वह भौतिक (पंचभूतों से बनी) देह है। पंचभूत- उपादान रूप हों या एक उपादान और सब उपष्टम्भक रूप में हों - परस्पर संश्लिष्ट होकर स्थूल देह की रचना

करते हैं। इस रचना के मूल में अथवा भौतिक संयोग के मूल में देहधारी जीव के पूर्व जन्म में अर्जित प्रारब्ध कर्म वर्तमान रहते हैं। प्रारब्ध कर्म से देह उत्पन्न होती है। देह की आयु अथवा स्थिति काल, और उस देह में जितने सुख दुःख का भोग होता है वह सब प्रारब्ध कर्म के द्वारा ही नियन्त्रित होता है। परन्तु योगी केवल अपने संकल्प से अर्थात् प्रारब्ध कर्म की सहायता के बिना ही देह का निर्माण कर सकते हैं और करते भी हैं। इस प्रकार देह निर्माण की अनेक प्रणालियां हैं। मन्त्रबल से, द्रव्य विशेष के प्रभाव से, तपस्या के फल से और समाधि-सिद्ध योगी के योग के प्रभाव से इस प्रकार की देह बनाई जा सकती है। विशिष्ट और प्राक्तन कर्म रहने पर, केवल योनि विशेष में जन्म ग्रहण करने से भी ऐसी देह प्राप्त हो जाती है। दृष्टिभेद से इस निर्माण काय को कोई कोई निर्माण चित्त भी कहते हैं। न्याय कुसुमाञ्जलि में उदयनाचार्य ने प्रथम स्तबक के आरम्भ में पातञ्जल सम्प्रदाय का उल्लेख करते हुए 'निर्माण काय' शब्द का प्रयोग किया है। बौद्ध धर्मशास्त्र में सर्वत्र धर्मकाय, सम्भोगकाय, इत्यादि के साथ निर्माणकाय का भी उल्लेख देखा जाता है। प्राचीन और मध्यकालीन बहुत से बौद्ध दार्शनिक ग्रन्थों में इन सब भिन्न भिन्न देहों का विशेष वर्णन है। खोज करने की इच्छा रखने वालों को वसुबन्धु, असङ्ग, हरिभद्र आदि आचार्यों के ग्रन्थों को देखने से इस विषय में बहुत सी बातें मालूम हो सकती हैं। पञ्चशिखाचार्य ने एक स्थान पर लिखा है कि परमर्षि कपिल ने करुणावश निर्माण चित्त का अवलम्बन करके अपने शिष्य जिज्ञासु आसुरि को षष्ठितन्त्र का उपदेश दिया था। निर्माण काय और निर्माणचित्त में कोई वास्तविक भेद नहीं है। लौकिक देह और लौकिक चित्त में जो भेद है उस प्रकार का कोई भेद योगिसङ्कल्प-निर्मित देह और चित्त में नहीं रहता क्योंकि सिद्ध योगी के सङ्कल्प से जिस आकार की उत्पत्ति होती है वह देखने में देह के समान होने पर भी वह वास्तव में चित्त के सिवाय और कुछ नहीं है। वह इच्छा शक्ति के प्रभाव से निर्मित होता है, ऐसा प्रसिद्ध है।

यह निर्माणचित्त या निर्माणदेह एक होने पर भी व्यावहारिक दृष्टि से भिन्न रूपों में प्रतिपादित होता है। प्रयोजक चित्त और प्रयोज्य चित्त नामक निर्माणचित्त के जो दो पृथक्-पृथक् भेद बताये जाते हैं वे व्यवहार मूलक हैं। योगी के योगबल से जो निर्माणचित्त बनता है, उसकी प्रधान विशेषता यह है कि उसमें शुक्ल, कृष्ण या अन्य किसी प्रकार का कर्माशय नहीं रहता। अन्यान्य उपाय से

रचित होने पर निर्माणचित्त में किसी न किसी प्रकार का कर्म-संस्कार लगा ही रहता है। इसी कारण ज्ञानलिप्सु अधिकारी शिष्य को ज्ञान का उपदेश देते समय योगी इस प्रकार चित्त निर्माण करके उपदेश देते हैं। निर्माणदेह का अवलम्बन करके जो उपदेश दिया जाता है उसमें भ्रम, प्रमाद आदि की सम्भावना नहीं रहती। वास्तव में यही गुरुदेह है। भौतिक देह से तत्त्वज्ञान का उपदेश संशय अथवा विपर्यय शून्य रूप में नहीं दिया जा सकता। यह देह शुद्ध अस्मिता तत्त्व से निर्मित होती है। जैनाचार्यों ने आचार्य देह के रूप में जिस देह का वर्णन किया है वह बहुत कुछ इसी जाति का है।

ब्रह्मचर्य और ऊर्ध्वरेता

आध्यात्मिक साधना में उन्नति करने के लिये ब्रह्मचर्य का विशेषरूप से पालन करने की आवश्यकता है। वैदिक, तान्त्रिक, बौद्ध, जैन एवं अन्यान्य देशों के अन्यान्य प्रकार के धर्मसम्प्रदायों में भी ब्रह्मचर्य-पालन की आवश्यकता बतलाई गई है। जिन ऋषियों ने आश्रम-चतुष्टय की व्यवस्था की थी, उन्होंने भी इसीलिये ब्रह्मचर्य को सर्वप्रथम स्थान दिया था।

ब्रह्मचर्य पालन किये बिना शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक किसी प्रकार का बल संचित नहीं किया जा सकता। और बल का संचय हुए बिना कार्य में सिद्धि प्राप्त करने की आशा आकाशकुसुम मात्र है। शास्त्र में कहा है **'नायऽमात्मा बलहीनेन लभ्यः'**, अतएव इसमें कोई सन्देह नहीं कि ब्रह्मचर्य के बिना आत्मा की उपलब्धि नहीं हो सकती।

ब्रह्मचर्य का वास्तविक स्वरूप

साधारणतः लोग वीर्य धारण को ही ब्रह्मचर्य समझते हैं। वीर्यधारण ब्रह्मचर्य का एक प्रधान अंग है, इसमें सन्देह नहीं और इस अंग का सम्यक् रूप से पालन करने से ब्रह्मचर्य के अन्यान्य अंग सहज ही सिद्ध हो जाते हैं। जो लोग अष्टांग-मैथुन के त्याग को ब्रह्मचर्य बतलाते हैं, वे भी वीर्यरक्षा की ओर ही अपना लक्ष्य रखकर इस प्रकार के लक्षण निर्धारित करते हैं। यह परिच्छिन्न ब्रह्मचर्य योगशास्त्र में यम के अन्तर्गत माना गया है। बौद्धों ने भी शीलसम्पत्ति के अन्दर इसको प्रधान स्थान प्रदान किया है। जैन और अन्यान्य शास्त्रों में भी प्रायः इसी रूप में देखा जाता है। ऋषिप्रणीत धर्मशास्त्र तथा गृह्य और धर्मसूत्रादि में ब्रह्मचारी की आदर्श दिनचर्या के सम्बन्ध में बहुत सी बातें कही गई हैं।

जो लोग ब्रह्मचर्य के तत्त्व की खोज करना चाहते हैं वे थोड़ा सा अनुसन्धान करने पर सहज ही समझ सकते हैं कि बिन्दु का संरक्षण, संशोधन, और उद्‌बोधन ये तीन ही ब्रह्मचर्य्र के यथार्थ उद्देश्य हैं। ब्रह्म में अथवा ब्रह्मपथ में जिसके द्वारा सञ्चार नहीं होता वह वास्तविक ब्रह्मचर्य नहीं।

जो शास्त्रसिद्ध ब्रह्मचर्य सम्पन्न हैं वह एकमात्र ब्रह्मपथ में ही सञ्चरण करते हैं। क्योंकि वासना, मिथ्यासंकल्प, इन्द्रिय चांचल्य और चित्त की विक्षेपवृत्ति, निवृत्त होने पर बिन्दु की जो आपेक्षिक साम्यावस्था होती है, वही ब्रह्मचर्य-प्रतिष्ठा की प्रथम भूमि है। बिन्दु के क्षरण से संसार और बिन्दु की स्थिरता से अमृतत्त्व अथवा मोक्ष सिद्ध होता है। गणितशास्त्र में जिस तरह वृत्त और त्रिकोण आदि का केन्द्र ही बिन्दु कहलाता है उसी तरह देहतत्त्व को जानने वाले भी देह के अथवा कोष के केन्द्र को ही बिन्दु नाम से ग्रहण करते हैं। अन्नमय कोष या स्थूल शरीर जिसके आधार पर प्रतिष्ठित है, उसी को अन्नमय कोष का केन्द्र या स्थूल बिन्दु कहा जा सकता है। इसी तरह जिन प्राणमय, मनोमय, और विज्ञानमय कोषों के आधार पर सूक्ष्म शरीर बना है, उनके भी कोषगत केन्द्ररूप में एक-एक बिन्दु है। वेदान्त की परिभाषा के अनुसार साधारणतः आनन्दमय कोष को ही कारण शरीर कहा जाता है। कारण शरीर का भी केन्द्र है और यही अमृतबिन्दु के नाम से परिचित है। ये सब बिन्दु वस्तुतः एक ही महाबिन्दु के देशगत और संस्कारगत भेद मात्र हैं। जबतक औपाधिक भेद वर्तमान रहता है तबतक यह भेद अनिवार्य है। इस भेद को मानकर ही क्रमशः इसके अतिक्रम करने की चेष्टा करनी होगी। जिस कारण से बिन्दु क्षरित होता है उसको रोके बिना बिन्दु की ऊर्ध्वगति तो दूर रही, उसकी स्थिरता भी सम्भव नहीं है। पहिले स्थिरता हुए बिना कोई भी ऊर्ध्वरिता भूमि पर आरोहण नहीं कर सकता। जो लोग अप्राकृत कामबीज का रहस्य जानते हैं और जिन्होंने गुरूपदिष्ट प्रणाली से रस-तत्त्व का सम्यक् रूप से परिशीलन किया है वे इसे सहज ही समझ सकते हैं। साधारणतः हठयोगी कहा करते हैं कि बिन्दु के स्थिर हो जाने पर प्राण भी स्थिर हो जाता है और प्राण के स्थिर होने पर बिन्दु भी स्थिर हुए बिना नहीं रह सकता। इसी प्रकार बिन्दु के साथ मन का और मन के साथ प्राण का परस्पर सम्बन्ध समझना चाहिये। इनमें से किसी एक को भी कौशल से बद्ध (वश)कर लेने पर शेष दो को अधीन

करना सरल हो जाता है। हठयोगशास्त्र में तथा योगवासिष्ठरामायण में इस सम्बन्ध में प्रासंगिक अन्यान्य बातें भी लिखी हैं। शास्त्र का यह सिद्धान्त अत्यन्त सारगर्भित है क्योंकि एक ही बिन्दु, आधार भेद से भिन्न भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकाशित हुआ हैं। अतएव साधक के पूर्वसंस्कार तथा योग्यता के अनुसार चाहे जिस स्थान में संयम सम्भव हो, उसी से अन्यान्य स्थानगत विक्षेप भी निवृत्त हो जाता है। एवं वहाँ-वहाँ के बिन्दु भी स्थिर भाव को प्राप्त हो जाते हैं।

आंख जिस रूप को देखती है, कान जिस समय शब्द ग्रहण करता है, और दूसरी इन्द्रियां जिस समय अपने अपने विषय ग्रहण करती हैं, उस समय वास्तव में देह के मध्य में स्थित बिन्दु ही क्षरित होकर उस-उस स्थान में विषय प्रतिभास के रूप में जन्म-ग्रहण करता है। बिन्दु का क्षरण हुए बिना विषय ग्रहण करना असम्भव है। अतएव जब तक हम इन्द्रियों के मार्ग से विषय ग्रहण करते हैं तबतक तथाकथित रूप में वीर्यरक्षा करने पर भी व्यभिचार होता ही है। विषय का भेद हट जाने पर जब सर्वत्र ही ब्रह्म साक्षात्कार होता है, तब समझना चाहिये कि व्यभिचार निवृत्त हो गया है और साधक ब्रह्मचर्य में स्थित हो गया है। बिन्दु क्षरित हुए बिना अखण्ड एवं कूटस्थ ब्रह्मतत्त्व अपने सामने स्वयं प्रकाशित नहीं हो सकता। अतएव ब्रह्म की जो स्वयं-प्रकाश अवस्था है, जिस अवस्था में एकमात्र, विशुद्ध चैतन्य ही अपने सामने आप ही प्रकाशित है, वह ही ब्रह्मचर्य की अवस्था है। उस अवस्था में बिन्दु के क्षरित होने पर भी वह सरल मार्ग से सम्पन्न होता है, इस कारण अद्वैत-भाव में व्याघात नहीं पहुंचता, भेद प्रतीति उत्पन्न नहीं होती और विषयसत्ता भी भासमान नहीं होती। यह अवस्था रहस्यदृष्टि से 'उपकुर्वाण ब्रह्मचर्य' की अवस्था है। उसी का अनुसरण करके समाज के अन्दर भी 'उपकुर्वाण ब्रह्मचर्य' की व्यवस्था की गई है। गुणभेद से उपकुर्वाण ब्रह्मचर्य के तीन भेद हैं - शुक्ल, रक्त और कृष्ण। परन्तु जिसे नैष्ठिक ब्रह्मचर्य कहते हैं उसमें बिन्दु क्षरण बिल्कुल ही सम्भव नहीं है। बिन्दु का क्षरण नहीं हो सकता, इसी कारण उस निर्गुण ब्रह्मचर्यावस्था की गणना अव्यक्तभाव के अन्दर होती है। सामाजिक दृष्टि से विवाह न करना और विवाह करके अपनी पत्नी के साथ संयत रहना दोनों ब्रह्मचर्य के स्वरूप हैं। पर-स्त्री के प्रति चित्त में तनिक भी आसक्ति उत्पन्न हो जाने पर ब्रह्मचर्यावस्था से पतन हो जाता है। क्योंकि चित्त की यह

अवस्था व्यभिचार के अन्तर्गत ही मानी गई है। स्वदारा के प्रति निरत रहने पर भी चित्तसंयम के तारतम्य के अनुसार गुणभेद से गृहस्थ का ब्रह्मचर्य; सात्विक, राजसिक और तामसिक तीन प्रकार का होता है।

बिन्दु का शोधन सम्यक् प्रकार से हुए बिना अन्य क्रिया-कौशल द्वारा उसे स्थिर करने पर भी उसमें स्थायित्व नहीं आता। क्योंकि संस्कारात्मक मल के आकर्षण से निर्दिष्ट स्थिति काल अतीत होने के बाद बिन्दु पहिले की तरह नीचे की ओर गतिशील हो जाता है। वैदिक तथा तान्त्रिक साधनों में बिन्दु-शोधन के अनेक प्रकार के उपाय निर्दिष्ट किये गये हैं। महायान सम्प्रदाय के बौद्धों के अन्दर भी वज्रयान, मन्त्रयान एवं सहजयान के साधनमार्गों में इस प्रकार के सूक्ष्म तथा अकृत्रिम उपाय का वर्णन पाया जाता है। हठयोग में अपना विशेष अधिकार प्राप्त करने के लिये भी इस प्रकार के बिन्दुस्थिरता के उपाय का अवलम्बन किये बिना काम नहीं चल सकता। बिन्दु शुद्ध होने पर ही वह स्वभावतः स्थिर हो जाता है। इस स्थिर बिन्दु को किसी अलौकिक प्रक्रिया के द्वारा विक्षुब्ध कर लिया जाय तो यह स्वभावतः ही ऊर्ध्वदिशा में सञ्चरणशील हो जाता है। बिन्दु की यह ऊर्ध्वगति प्रबुद्ध कुण्डलिनी के सहस्रार के आकर्षण से ऊर्ध्वप्रवाह का दूसरा नाम है। बिन्दु क्रमशः स्थूल भाव छोड़कर सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम अवस्था को प्राप्त होता है और अन्त में सहस्रारदल कमल की कर्णिका में स्थित महाबिन्दु के साथ मिल जाता है। यही चित्त् चन्द्रमा का षोडशी कलारूप अमृत-बिन्दु है। नाभिग्रन्थि का भेद करके बिन्दु को ऊर्ध्वस्रोत में संश्लिष्ट (मिलाना) कर देना ही उपनयन या दीक्षा का यथार्थ रहस्य है। नाभिचक्र से ऊपर उठे बिना बिन्दु माध्याकर्षण के चक्र से मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता। माध्याकर्षण के चक्र के अन्दर रहना संसार का ही दूसरा नाम है। ब्रह्मचर्य की साधना के द्वारा बिन्दु को विषय जगत् से पृथक् करके उसे पवित्र बनाकर, ब्रह्ममार्ग में लगाना ही संसार से मुक्ति प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है। बिन्दु के विक्षुब्ध होकर ऊर्ध्व की ओर संचरण करने पर ही नाद का विकास होता है। अतएव नाभिचक्र से ऊपर स्वाभाविक खेल नाद एवं ज्योति के रूप में अनुभूत होता है। यही शब्द ब्रह्म के संचार की अवस्था है। इसके बाद नाद, ज्योति इत्यादि की पूर्णता से जो परम भाव का उदय होता है, वही निज बोधरूप आत्मज्ञान का विकास है।

भगवान् पतञ्जलि ने यह निर्देश किया है कि ब्रह्मचर्य धारण करने से वीर्य की प्राप्ति होती है। वास्तव में ब्रह्मचारी की अवस्था का ही वर्णन योगसूत्र में प्रकारान्तर से श्रद्धारूप में किया गया है। ब्रह्मचर्य सम्भूत वीर्य की प्राप्ति होने पर देह के अन्दर दिव्य तेज अथवा विद्युत शक्ति का विकास होता है। इस तेज की अधिकता के कारण चित्त की चंचलता नष्ट हो जाती है, प्राणों की गतिं स्थिर हो जाती है और ध्येय की ओर चित्त का एकतान प्रवाह उत्पन्न होता है। इसी का दूसरा नाम ध्यान अथवा स्मृति है। उपासना का यही स्वरूप है। क्रमशः इन सबके घनीभूत होते-होते चित्त की समाधि अवस्था उत्पन्न होती है। चित्त के समाहित होने पर ध्येयवस्तुं आवरण विमुक्त होकर उज्ज्वलरूप में स्वीयभाव की ज्योति से उद्भासित और प्रकाशित हो उठती है। उस समय चित्त तिरोहित हो जाता है और एकमात्र ध्येय ही उसके अनुभव क्षेत्र में जागरूक रहता है। यह ध्येय चित्त का ही एक आकार विशेष है, यह चित्त से भिन्न कोई पदार्थ नहीं है। इस प्रकाश को प्रज्ञा का उन्मेष अथवा ज्ञानचक्षु का खुल जाना कहते हैं। इस प्रज्ञा के निरुद्ध होने के बाद जिस असम्प्रज्ञात समाधि का उदय होता है, वही वास्तव में योग कहलाने योग्य है। योग की पूर्ण अवस्था पाने के लिये ब्रह्मचर्य नितान्त आवश्यक है।

असम्प्रज्ञात समाधि

पातञ्जल योगशास्त्र में असम्प्रज्ञात समाधि दो प्रकार की बतलायी गई है- भवप्रत्यय और उपायप्रत्यय।

चित्तवृत्ति का सम्यक् निरोध ही असम्प्रज्ञात समाधि का लक्षण है। चित्त आत्मा का अत्यन्त निकटवर्ती है। यहाँ तक कि दोनों में स्व-स्वामि-सम्बन्ध वर्तमान है। व्युत्थान अवस्था में द्रष्टा पुरुष अपना स्वरूप भूलकर वृत्तिसंकुल चित्त के साथ अपने को अभिन्न समझता है और वृत्तियों का आकार धारण कर लेता है। परन्तु जब वृत्तियों का निरोध हो जाता है तब उसके लिये इस प्रकार वृत्तियों का आकार धारण करना सम्भव नहीं होता। इस वृत्तिहीन अवस्था में पुरुष, विषय ज्ञानशून्य हो जाता है। दूसरी ओर उसी प्रकार चैतन्य प्राप्त करके द्रष्टा या साक्षी के रूप में अवस्थित होता है। अथवा गम्भीर अज्ञान से आच्छन्न होकर एक ओर जिस प्रकार अपने चित् स्वरूप की उपलब्धि से भी वंचित

रहता है। शास्त्रानुसार यही प्रकृतिलय अथवा जड़ समाधि की अवस्था है। यह अवस्था योगियों के लिये कदापि काम्य नहीं है। वृत्तिहीन होने से यह अवस्था यद्यपि असम्प्रज्ञात समाधि के ही अन्तर्गत है तथापि ज्ञान का उन्मेष न होने के कारण यह योगावस्था नहीं है। पतञ्जलि इसी को भवप्रत्यय असम्प्रज्ञात कहते हैं। प्रकृति लीन की तरह विदेह देवता भी इसी स्थिति में रहते हैं। योगियों की वास्तविक योगावस्था उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधि के रूप में ही साधक समाज में परिचित है। यहाँ पर 'उपाय' का अर्थ प्रज्ञा अर्थात् शुद्ध ज्ञान समझना चाहिये। सम्यक् ज्ञान उत्पन्न होकर निरुद्ध होने पर जिस असम्प्रज्ञात समाधि का आविर्भाव होता है, उसकी तुलना ज्ञान की अनुदयकालीन असम्प्रज्ञात समाधि के साथ कभी नहीं हो सकती। भव प्रत्यय अवस्था में कुछ समय तक चित्त निरुद्ध रहने पर भी कालान्तर में उसका व्युत्थान अवश्यम्भावी है, क्योंकि तब तक चित्त के संस्कार सम्पूर्णरूप में वर्तमान रहते हैं। परन्तु प्रज्ञा उत्पन्न होने पर क्रमशः संस्कारों का दाह करने से जो असम्प्रज्ञात समाधि आविर्भूत होती है, उसमें व्युत्थान की कोई आशंका नहीं रहती। वास्तव में उसी को कैवल्य का पूर्वास्वाद कह सकते हैं।

बौद्ध योगी प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध नाम से दो प्रकार के जिस निरोध का वर्णन करते हैं, वे अधिकांश में उपायप्रत्यय और भवप्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधि के ही समान हैं। सम्प्रज्ञात समाधि में प्रवेश किये बिना असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त करना योगियों के लिये कभी प्रार्थनीय नहीं है। अविद्यादि क्लेशों का दाह न कर केवल मात्र वृत्तियों का निरोध कर लेने से ही पुरुष, आत्मस्वरूप में अवस्थित होने में समर्थ नहीं होता। अविद्या का बीज नष्ट करने का ज्ञान के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। क्रियायोग के द्वारा अर्थात् तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान का अनुष्ठान यथाविधि करने पर भी अविद्या संस्कार को दग्ध नहीं किया जा सकता। परन्तु इसी कारण यह नहीं कहा जा सकता कि क्रियायोग निष्फल है। क्योंकि क्रियायोग के प्रभाव से संस्कारों का स्थूल रूप कट जाता है और वह सूक्ष्म आकार धारण कर लेता है। तदनन्तर प्रसंख्यान या ज्ञानाग्नि प्रज्ज्वलित होते ही वह दग्ध हो जाता है और पुनः जागृत होने की शक्ति से रहित हो जाता है। सम्प्रज्ञात समाधि की प्रत्येक भूमि में ही उसके आश्रय से ज्ञान का विकास होता है। फिर सास्मित

भूमि में सालम्ब ज्ञान की चरम शुद्धि सम्पन्न होती है। इसका पारिभाषिक नाम गृहीतसमापत्ति है, श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा – 'ज्ञान प्राप्ति का यही स्वाभाविक क्रम है। '**श्रद्धावांल्लभते ज्ञानम्**' गीता के इस वचन में भी ज्ञानप्राप्ति के मूल में श्रद्धा को ही स्थापित किया गया है। श्रद्धाहीन व्यक्ति लाख प्रयत्न करने पर भी ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता। भवप्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधि में चित्त का निरोध होने पर भी अविद्या की निवृत्ति नहीं होती। अविद्या तथा तज्जनित संज्ञा वर्तमान रहने पर आत्मा मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता। यही योगशास्त्र का सिद्धान्त है।

मधुमती भूमि और योग के विघ्न

भगवान पतञ्जलि का नाम जिस योग सम्प्रदाय के साथ संलिष्ट है, उसमें चार प्रकार के योगियों का निर्देश मिलता है। उनमें प्रथम अवस्थापन्न योगियों को 'प्रथमकल्पिक' कहा गया है। ये लोग अष्टाङ्गयोग सम्पन्न होने पर ही योग भूमि में जल्दी प्रवेश करते हैं, इसलिये इनकी गणना सबसे निम्न श्रेणी में होती है। ये स्थूल समाधिसिद्ध हैं अर्थात् वितर्कानुगत समाधि में अधिकार प्राप्त करने के कारण इनमें अन्तर्ज्योति का स्फुरण होना आरम्भ हुआ है। चित्त समाहित हुए बिना ज्योति का उन्मेष नहीं हो सकता। परन्तु ज्योति का आविर्भाव होने पर भी उसकी क्रमशः शुद्धि होने की आवश्यकता है। जबतक उसकी विशुद्धि नहीं होती तबतक तत्त्वों को जीतकर अर्थात् अपने वश में करके स्वयं योग की उच्च्व भूमि पर नहीं पहुंचा जा सकता।

प्रथमकल्पिक अवस्था के बाद योगी 'मधुमती' नाम की योग की दूसरी भूमि में पदार्पण करते हैं। इस समय उनका चित्त अत्यन्त विशुद्ध होता है। इस कारण पदस्थ देवता, ऋषि, अप्सरा आदि अनेकों उनके पास उपस्थित होकर नाना प्रकार के अलौकिक प्रलोभनों द्वारा उन्हें लुभाने की चेष्टा करते हैं। ऐसी अवस्था में मनुष्य के हृदय में साधारणतः आसक्ति और अहंकार का भाव जाग उठना स्वाभाविक है। परन्तु जो योगी गुणातीत आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होने के लिये उद्यत हैं, उनके लिये ये सब क्षुद्र प्रलोभन सर्वथा उपेक्षा के योग्य हैं। जब वे संयत होकर चित्त में बल का संचय करके साधना पथ पर अग्रसर होते हैं तब क्रमशः इन सब भयों से छुटकारा पा जाते हैं। यह मधुमती अवस्था ही

योगियों की परीक्षा की अवस्था है। प्रथम भूमि में चित्त सम्यक् रूप से विशुद्ध न रहने के कारण देवता आदि द्वारा इस तरह के प्रलोभन देने की सम्भावना नहीं रहती। तथा तृतीय अवस्था में समस्त प्रलोभन की वस्तुएं योगियों के अपने संकल्प बल से निर्मित हो सकती हैं, और योगी स्वयं दिव्य भावापन्न होते हैं, इस कारण उनके लिये भी विशेष आशंका की सम्भावना नहीं रहती।

तृतीय अवस्था में योगी विशोधित प्रकाश–ज्योति के द्वारा पंचभूतों की पांच प्रकार की अवस्थाओं तथा पंचेन्द्रियों की भी उसी प्रकार की पंचविध अवस्थाओं के ऊपर अधिकार प्राप्त कर के भूतजयी और इन्द्रियजयी हो जाते हैं। भूतजय होने पर योगी वज्र के समान सिद्ध देह प्राप्त करते हैं और अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा आदि अष्ट महासिद्धियां प्राप्त करते हैं। ऐसे योगी की देह पर पंचभूतों के प्रभाव से आघात नहीं होता अर्थात् भौतिक पदार्थों के गुण योगी की देह में अपनी क्रिया नहीं करते।

इन्द्रियजय द्वारा मनोजवित्व, विकरणभाव तथा प्रधान या मूल प्रकृति पर विजय प्राप्त हो जाती है। योगशास्त्र में इन सब सिद्धियों का वर्णन 'मधुप्रतीक' के नाम से किया गया है। जिन योगियों ने भूतजयी तथा इन्द्रियजयी होकर इस प्रकार की अलौकिक सिद्धियां प्राप्त कर लीं हैं, वे अधिकांश में देवताओं के स्तर से, शक्ति और शुद्धि में ऊपर उठ गये हैं, यह निश्चित है। अतएव साधारण देवता के द्वारा उन्हें लोभ में डाले जाने की कोई सम्भावना नहीं रहती। विशेषकर पंत्तभूत तथा पंचेन्द्रिय पर योगियों का अधिकार होने के कारण उन्हें सृष्टि, स्थिति, और संहार करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है और उनके चित्त में, विमल वैराग्य की छटा छिटकी होने के कारण वे ऐसा कोई भी अभाव अनुभव नहीं करते जिसकी निवृत्ति के लिये किसी भी प्रलोभन में पड़ने की सम्भावना हो।

इस प्रकार साधनाक्रम से जब योगी भूतेन्द्रिय राज्य को अतिक्रमण करके 'अस्मिता' तत्त्व में प्रतिष्ठित होते हैं तब वे सर्वज्ञ हो जाते हैं तथा सर्वदा सब भावों में अवस्थान करने की शक्ति प्राप्त कर लेते हैं। योगशास्त्र की भाषा में इसी का दूसरा नाम 'विशोका' सिद्धि है। यही वास्तविक जीवन्मुक्त योगियों

की अवस्था है। इसके बाद पर वैराग्य के साथ ही साथ त्रिगुण का राज्य क्रमशः समाप्त हो जाता है और योगी समस्त दृश्य तथा चिन्तनीय पदार्थों की सीमा पार करके, ऊपर उठकर 'परम पद' में स्थित हो जाते हैं। यही चौथे प्रकार के योगियों का स्वरूप है। भाष्यकार व्यास जी ने इस सर्वश्रेष्ठ योगभूमि को 'अतिक्रान्त भावनीय' नाम दिया है।

द्वितीय परिशिष्ट

औषधि योग

औषधियों से भी योग शक्तियां प्राप्त की जा सकती है। योग से मन, बुद्धि को निर्मल करने, अंतः करण शुद्ध करने और योग शक्तियां प्राप्त करने के बहुत से तरीके हैं- परन्तु ये मुश्किल हैं। एक प्राचीन पुस्तक में औषध योग भी लिखा है जो सब योगों में उत्तम है। क्योंकि मनुष्य की आयु थोड़ी है और औषधि योग से मनुष्य को छह महीने में ही सफलता प्राप्त हो जाती है।

औषधि के चार अनुपान हैं-

पहले में हृदय का उल्या कमल सीधा हो जाता है।

दूसरे में स्वर्ग तक के हाल देखता है।

तीसरे अनुपान में अपनी आयु का पता लग जाता है।

चौथे में सब शास्त्रों के भाव समझने लगता है।

छह महीने में इतनी बातें प्राप्त हो जाती हैं। इसी प्रकार तीन चार बार करने पर सारे ब्रह्माण्ड का ज्ञान हो जाता है। इससे अधिक बार करने में अधिक शक्ति प्राप्त हो जाती है- अर्थात् आकाश में छाया रूप होना, अपनी इच्छा से शरीर बदलना और ब्रह्म के स्वरूप में स्थित रहना।

ओषधि अनुपान इस प्रकार है:-

(1) पहला अनुपान 40 दिन का है।

पहले अनुपान में डेढ़ तोला औषधि शहद में मिलाकर सेवन करें।

(2) दूसरा अनुपान 50 दिन का है।

दूसरे अनुपान में डेढ़ तोला औषधि दस तोला गाय के दूध में मिलाकर सेवन करें।

(3) तीसरा अनुपान 21 दिन का है:-

इसमें डेढ़ तोला औषधि 5 तोला गाय के घी में मिलाकर खायें।

(4) चौथा अनुपान भी 21 दिन का है।

इसमें 16 तोला औषधि सरसों के तेल में मिलाकर खायें- तेल अपनी इच्छा अनुसार मिला लेवें।

चारों अनुपानों में जो परहेज करना है उसको पूरी तौर पर करे। अगर कोई बद परहेजी करेगा तो शरीर का कोई हिस्सा मारा जायेगा।

6 महीने तक गाय का दूध मीठा मिलाकर सेवन करे। दूध पर न रह सके तो थोड़े चावल भी दूध में मिलाकर खा लेवे। अगर कब्ज हो जाये तो थोड़ा बादाम रोगन मिला कर पीवे। तबीयत में गर्मी या खुश्की मालूम दे तो गाय का घी दूध में मिलाकर पीये। इसके सिवाय और किसी चीज का सेवन न करे। अगर कोई और चीज़ खायेगा तो वह जहर हो जायेगी।

अभ्यास काल 6 महीने में संयम से जितेन्द्रिय रहे चाहे वह स्त्री हो या पुरुष। यदि बदपरहेजी करेगा तो भ्रष्ट हो जायेगा इसलिये एक तो जितेन्द्रिय हो दूसरा नशे वाली कोई चीज न खाये और न सेवन करे। तीसरा रोगी न हो। चौथे थोड़ी-थोड़ी देर बाद खाने वाला न हो। पांचवा चंचल चित्त न हो यानी क्रोधी न हो। अधिक समय तक सोना भी नहीं चाहिये।

यह अनुपान 25 साल से 60 साल तक की आयु वाला व्यक्ति कर सकता है। अर्थात् जब तक उसमें सीधे बैठने की शाक्ति हो तब तक यह प्रयोग कर सकता है। जो भी ईश्वर का भक्त हो वह इसे कर सकता है।

यह अभ्यास 6 महीने सर्दी में किया जा सकता है। गर्मियों में नहीं हो सकता। अभ्यास शुरू करते हुए जिस समय मकान में प्रवेश करे तब अच्छा मुहूर्त्त देख कर हवन पूजन करके प्रवेश करे ताकि 6 महीने तक नीरोग रहे। प्रातः काल पवित्र होकर औषधि खाकर आसन पर पद्मासन लगाकर बैठे। शरीर बिलकुल सीधा रखे- अर्थात् सिर और गर्दन सीधी रखे। दोनों हाथ घुटनों पर चाहे उल्टे रखे चाहे सीधे- जिससे शरीर हिले डुले नहीं। इस प्रकार बैठकर एक स्वर से ओंकार का उच्चारण करे। उच्चारण करते-करते जब चित्त वृत्ति थक जाये तो हृदय में सूर्य रूप आत्मा का ध्यान करे। ध्यान के समय अगर नेत्र खोलने की आवश्यकता पड़े तो नासिका के अग्रभाग पर ध्यान करे। जब नेत्र थक जावें तो फिर नेत्र बन्द करके हृदय में ध्यान करे। जब चित्तवृत्ति ध्यान से उखड़ जाये तो फिर ओंकार का उच्चारण करे। ऐसे ही

चालीस दिन तक अभ्यास करता रहे। चालीस दिन तक मन नहीं लगेगा। कई तरह के विचार मन में आयेंगे। चाहे मन एकाग्र न हो किन्तु चालीस दिन के बाद पचास दिन के अन्दर हृदय का उल्टा कमल सीधा हो जायेगा। जब हृदय कमल सीधा होने लगेगा तो एक दिन शरीर में ऐसा पवन का झोंका आयेगा कि शरीर कांपने लगेगा। शरीर सिर से लेकर पांव तक ऐसा कांपेगा जैसे रूई धुनी जाती है। कानों में कई तरह की आवाजें आयेंगी और ऐसा प्रतीत होगा कि मैं दो चार दिन में ही मर जाऊंगा। कई तरह के डरावने स्वप्न भी आयेंगे। किन्तु उस समय घबराने की कोई आवश्यकता नहीं। यह केवल मन की परीक्षा होती है। भय के बाद कई बातें मालूम होंगी जिन्हें व्यक्ति पहले नहीं जानता था।

जब अभ्यास में बैठे तो 3, 6, 12 या 15 घंटे तक लगातार निश्चल होकर बैठे। इसी हालत में बैठे-बैठे नींद आ जायेगी। जब बहुत थक जाय तो उसी हालत में लेट जाये और जब तबीयत को आराम प्रतीत हो तो पहले की तरह बैठ जाये। बैठने के स्थान पर रूई का नर्म आसन या तकिया लगा लेबे। कपड़े सब साफ होने चाहियें।

इस अभ्यास से षट्चक्रों के द्वारा सारे ब्रह्माण्ड पर अधिकार होगा। ऐसे अनेक प्रकार के अभ्यास हैं जिनसे आत्मा का साक्षात्कार होगा परन्तु इन अभ्यासों से सारे ब्रह्माण्ड का निर्णय नहीं होता-ब्रह्माण्ड का निर्णय इसी अभ्यास में षट् चक्र द्वारा होता है। सभी अभ्यासों से उत्तम यह अभ्यास है।

जब मनुष्य 6 महीने अभ्यास में बैठे तो उसके मन में किसी प्रकार की चिन्ता नहीं होनी चाहिये। दोपहर 12 बजे अथवा शाम को जिस समय आवश्यकता हो उस समय दूध पीये। इतना दूध पीये जो जल्दी हज़म हो जाये। दूध पीने के एक दो घंटा बाद अभ्यास में बैठे। पानी पीना मना नहीं है। जिस समय प्यास लगे पानी पी ले। नहाने की आवश्यकता हो तो गर्म पानी में नहा ले और हमेशा अन्दर के कमरे में रहे। कोई खास काम पड़ने पर बाहर के कमरे में आवे। कोई आदमी अन्दर के कमरे में न जावे-सिवाय दूध देने वाला आदमी जो आवश्यकता पड़ने पर अन्दर आवे। अपने मतलब लायक संक्षिप्त सी बात दूध वाले पुरुष से करे और हमेशा बैठा रहे। अगर बैठे-बैठे नींद निकल जाये तो बहुत अच्छा है अगर थक जाये तो थोड़ा सो जाये। बैठने के वास्ते रूई का मोटा गद्दा तकिया इत्यादि साफ रखे।

औषधि योग

तेल़ माल कंगनी 60 तोला, गाय का घी 160 तोला, तिल का तेल 60 तोला, शहद 160 तोला।

माल कंगनी का तेल पाताल यन्त्र से निकाले। मिट्टी की कोरी हांडी जिसमें 10 सेर पानी आ जाये- उसमें एक दिन पानी गर्म करे। दूसरे दिन इसमें दूध गर्म करे। फिर उसके नीचे ऊपर मिट्टी वाला कपड़ा चढ़ा दे। जब मिट्टी धूप में सूख जाये तब हांडी अन्दर से धोकर फिर साफ करे। ऊपर लिखी चारों चीजें इस हांडी में डाल दे। उड़द अथवा गेहूँ के आटे से इसका मुंह बंद कर दें और मजबूत कपड़ा इत्यादि लगा दें जिससे अन्दर की भाप बाहर न निकलने पावे, फिर इस हांडी को चूल्हे पर रखकर हल्की आग जलाये। जलाने की लकड़ी बेरी की हो अथवा जंगली कण्डों की आग हो इन दोनों में से एक ही चीज होनी चाहिये। 21-22 घंटे तक लगातार अग्नि देते रहें। इसके बाद अग्नि ठण्डी कर देवें और हांडी को सम्हाल कर रखें। तब चाकू से उसका मुंह खोलकर इस औषधि को निकाल कर कपड़े से छान लें और ऐसे बरतन में रखें जो इसे सोखे नहीं।

टिप्पणी- उपरोक्त ओषधि योग मुझे मेरे योग के सद्गुरु ने अनेक वर्ष पहिले बताया था। मैंने इसका प्रयोग अब तक कभी नहीं किया है। पाठकों की जानकारी के लिये यह प्रस्तुत किया जा रहा है, जिससे ओषधि योग की प्राचीन भारतीय परम्परा नष्ट न होने पाये। यदि कोई पाठक ओषधि योग का प्रयोग करना चाहे तो उसे किसी अनुभवी सद्गुरु की निरन्तर देखरेख में ही यह साधना करनी चाहिये। ओषधि योग के सम्बन्ध में पाठकों की प्रतिक्रिया प्राप्त कर मैं कृतज्ञ अनुभव करूंगा।

श्लोकानुक्रमणिका

गोरक्षपद्धति

अ

आ

इ

उ

घेरण्ड संहिता

अ

आ

इ

उ

भ

म

य

र

ह

ऋ

हठयोगप्रदीपिका

आ

इ

उ

ऊ

ऋ

ए

क

ख

ग

द

ध

न

प

ब

भ

म

य

र

ल

व

श

ष

स

ह

लेखक परिचय

सुभाष विद्यालंकार सिद्धयोगियों के पथ प्रदर्शन में पिछले 50 वर्षों से योगाभ्यास कर रहे हैं। अपने अनुभवों के आधार पर उन्होंने गोरक्षपद्धति, घेरण्ड संहिता और हठयोग प्रदीपिका की यह व्याख्या लिखी है।

योगाभ्यास के मार्ग की कठिनाइयां दूर करने के लिये यह व्याख्या सरल भाषा में लिखी गई है। योगाभ्यास से बीमारियों, तनाव और अवसाद से छुटकारा पाकर हम कैसे स्वस्थ रह सकते हैं और मन एकाग्र कर अपने काम काज में कैसे सफल हो सकते हैं इस बारे में क्रियात्मक सुझाव भी हठयोगत्रयी में मिलेंगे।

ISBN : 978-81-7702-232-2

PRATIBHA
प्रतिभा प्रकाशन
(प्राच्यविद्या प्रकाशक एवं पुस्तक विक्रेता)
7259/23 अजेन्द्र मार्केट
प्रेमनगर, शक्ति नगर, दिल्ली-7
e-mail : pratibhabooks@ymail.com
ISBN 817702232-6
9788177022322